प्रकाशक—
विजयदेवसूरसंघपेढी
C/o श्रीगोडीपार्श्वनाथजैनमन्दिर,
पायधुनी नं १२, मुंबाई नो नं १

शासनमान्य-अर्थकार-चौदपूर्वधर-श्रीभद्रबाहुस्वामिजीनुं कथन—

सव्वेसिं णयाण बहुविहवत्तव्वय णिसामेत्ता। तं सव्वणयविसुद्धं ज चरणगुणट्ठिओ साहू ॥ १ ॥

भावार्थः—सर्वनयो सम्बन्धि अनेकविध कथन श्रवण करीने ते सर्वनयोना नवनीतरूप सर्वनयथी विशुद्ध थयेलो, अने सम्यक्चारित्रज्ञानरूपमां रमावेलो स्थिरथयेलो एवो जे छे ते साधु छे.

मुद्रक—
शाह गुलाबचन्द लल्लुभाई
श्री-महोदय-प्रीन्टींग-प्रेस
ठे० दाणापीठ, भावनगर-(सौराष्ट्र)

श्रीप्रकाशिकानुं निवेदन—

प्रस्तुत प्रकाशन तरीके प्रसिद्धि पामतो आ ग्रन्थ श्रीसूत्रकृताङ्गद्वितीयविभाग (द्वितीय श्रुतस्कन्धना सात अध्ययनो साथे) तरीके श्री गोडीपार्श्वजैनग्रन्थमालाना पुष्प पांचमा तरीके अमारी संस्था तरफथी प्रसिद्ध कराय छे.

प्रातःस्मरणीय–पूज्यपाद–गीतार्थसार्वभौम, श्रीदेवसूरतपागच्छसमाचारीसंरक्षक, आचार्यदेवेश, श्रीमदानन्दसागरसूरीश्वरजीनी आज्ञा पामी श्रीविजयदेवसूरसंघनी अतीव आग्रहभरी विनंति स्वीकारी, मुम्बापुरीमुकामे श्रीगोडीजीपार्श्वनाथ जैन देरासर पासेना उपाश्रयविषे तेओश्रीना पट्टप्रभावक प० पू० पंन्यासप्रवर श्रीचन्द्रसागरगणीन्द्र ते वर्तमानमां श्रीसिद्धचक्राराधनतीर्थोद्धारक–आचार्यदेव–श्रीचन्द्रसागरसूरिवर्य आदिनुं शिष्यप्रशिष्यना परिवार सह वि. सं. १९९७ ना वर्षमा चातुर्मास थयुं हतुं. आ समये व्याख्यानमां श्रीसूत्रकृतांगसूत्र अने भावनाधिकारे श्रीसमराइच्चकहानी अमृत देशनाओनुं पान करीने भावित थयेला सकल अमारा श्रीसंघे ज्ञानखातानी थयेल सारी उपज खर्चवानुं अने ते द्वारा अमारी संस्थाए श्रीसूत्रकृतांगसूत्रने पुनर्मुद्रण कराववानो निर्धार कर्यो अने तेनुं पवित्र संपादन कार्य करवा माटेनी प. पू. पन्यासप्रवर श्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रने विनंति करी. तेओश्रीए अमारी विनंतिनो स्वीकार कर्यो. हमे पण आ चातुर्मासमां थयेलां श्रीशासनहितवर्धक कार्योमां ज्ञानखातानी आवक पण ठीक थयेली होवाना कारणे प्रथम भाग तैयार थतां तेनी पडतर किंमत रू. दश जेटली किंमत थयेली होवा छतां ५० फारम उपरांतना आ प्रथम विभागनी

फक्त किंमत रू. ४-०-० पेथापमां राखेली छे, अने १५ फारमनो आ बीजो भाग तैयार थतां पेथापमां आनी किंमत फक्त रू. २-०-० राखी छे

आ ग्रन्थ पुनर्मुद्रण केम करवो पड्यो ? अने पुनःमुद्रण करावबामां अमारी संस्थाए केवी व्यवस्थाओ करी ? तेनुं विस्तारथी वर्णन प्रथम विभागनी प्रस्तावना अमारा निवेदनमां स्पष्ट होवाथी अत्र पुनरुक्त नथी कर्युं, जिज्ञासुओने प्रथम विभागमां आवेलुं अमारु निवेदन वांचवा मादेनी सादर भलामण छे

आ श्री सूत्रकृतांगसूत्रनुं संपूर्ण प्रथम मुद्रण करावनार प्रातःस्मरणीय–पूज्यपाद–आगमोद्धारक स्व० प० पू० आ० देवेश, श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरजीनो, संपादन–संशोधन आदि सर्व सामग्रीओथी अलंकृत श्री सूत्रकृतांगसूत्रना बीजा भागनुं पण संपादन करनार, श्री सिद्धचक्राराधन–तीर्थोद्धारक, प० पू० आ० देव, श्रीचन्द्रसागरसूरिवर्यनो, प्रूफ संशोधनादि कार्योमां मदद करनार पू० मुनिराजश्री चन्दनसागरजी महाराजनो, पुनर्मुद्रण माटे संमति आपनार श्रीविजयदेवसूरसंघना संभावित सद्गृहस्थोनो, श्री ज्ञानसमितिना कार्यवाहकोनो, अने प्रेसना मालीकनो–माणसोनो आभार मानीने अत्र विरमीए छीए. वाकपत्रीय विगेरे पूरी पाडनाराओनो अने नजीवी किंमते वेचवानी व्यवस्था करनार श्री विजयदेवसूरसंघना ज्ञानभंडारनी व्यवस्थापिका श्री ज्ञानसमितिने पण अत्र याद करीए छीए.

लि० श्री विजयदेवसूरसंघनी पेढीना कार्यवाहको.

वि संवत २००९ चैत्र शुक्ल-पञ्चमीवासरे.

अनुक्रमणिका—

श्रीसूत्रकृताङ्गस्य द्वितीयो विभागे शुद्धिपत्रकम्—

अशुद्धम्	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्धम्
बुईए	५	६	बुइए
॰क्कमणू	६	७	॰क्कमण्णू
॰दृेतप॰	८	३	॰दृेतरप॰
॰अपाह॰	१०	१५	॰अप्पाह॰
॰पण्णते	१८	११	॰पण्णत्ते
चैवं वा॰	१९	२६	चैवंघा॰
चितो॰	२२	२५	चित्तो॰
चैवं वा॰	२३	१७	चैवंवा॰
किं चातः	२७	६	किंचातः
येयां	२७	२१	येषां
पुव्वि	२८	१९	पुव्वि
अन्नो न	२९	४	अन्नो नो

अशुद्धम्	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्धम्
वर्णोत्व°	३२	११	वर्णोत्व°
वीर्यवे	३२	१९	वीर्यैवि
चोपरि पत्रेषु	३३	४	पत्रेषु चोपरि
यत्नेषि	३३	८	असं चि
°भिक्षु	३६	१९	°भिक्षु°
°विरवौ	३८	२०	°विरतौ°
सविता	३८	२०	सविता
धी वच	३८	२१	°धीयते
च मेक	३८	२७	तमेकं
निर्वृति	४०	१७	निर्वृति
धर्मं	४०	२७	धर्मं
धर्मं	४०	२७	धर्मं
समन्वाभिर्वृताः वक्षेपः	४१	५	समन्वाभिर्वृताः परिनिर्वृताः अक्षेपः
विश्वे°	४१	७	विश्वि°
°मो	४१	११	°मो
इहान्त°	४२	२	इहानन्त°
१२, एवं	४५	६	१२, तथा एव
°चिप	४८	६	चिप चि
°सुजस्	४९	९	°सुजेस्
°विश्वासो	५४	११	विश्वास्यो
भासासमिपस्स भाषाम°	५७	१	भासासमिपस्स–पसणासमिपस्स भाषाणं°
सूर्यद्वय	५८	११	सूर्यद्वयं
भिक्षा°	५९	१५	भिक्षा०
येषां नाना	५९	२१	येषां ते नाना°

अशुद्धम्	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्धम्
भेता	६५	१९	भेत्ता
°मितव्या	६५	२१	°मिधातव्याः
अधमाः	६७	१	तथा " वसल "न्ति वृषला अधमाः
भोणपु°	७१	१	भोगपु°
माख्यातुं	७१	२७	आख्यातुं
°षुत्पद्यते	७७	२४	षूत्पद्यन्ते
परूप°	८४	१४	प्ररूप°
मिंश्रेण	८७	२५	मिश्रेण
कि तत्रा°	९०	२१	किं तत्रा°
विकढं	९३	८	विकडं
जावण°	९४	१३	जावम°
°काय°	९६	२	°काये°

अशुद्धम्	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्धम्
यथावृक्षे°	९७	२४	यथा वृक्षे°
वुद्धा	९९	७	वुद्धा
°सभेदो	१००	४	°समेदो
°पमद्द°	१२३	१५	°पमर्द
मोन°	१४१	३	मौन°
कुज्ञानश्रु°	१४३	१९	कुज्ञानकुश्रु°
°तेनाऽद्य°	१५६	१	°तेऽनाद्य°
तं समं	१५६	१०	तं तु समं
°रल	१६०	१	°रल
काल	१७५	११	कालं
°तस्उ°	१७६	१६	°तस्त°
°मण्यः	१७६	२५	°मण्याः
तेपू°	१८४	११	तेपू°

चमत्कारिक–सकल–मन्त्र–तन्त्र–यन्त्राधिराजराजेश्वरश्रीसिद्धचक्रेभ्यो नमो नमः ।
विश्वसमीहितपूरक श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथो विजयतेतमाम् ।
शासनसम्राट–श्रीसुधर्मस्वामिगणधराय नमः ।

श्रीसूत्रकृतांगसूत्रे द्वितीयश्रुतस्कधे–द्वितीयविभागे

। शास्त्र—प्रस्तावना ।

इन्द्राणां स्पर्धने पारिजातं, धामावेश्या नम्रनं देववन्द्यम् ।
स्वर्गभूमौ नागलोके प्रसिद्धम्, श्रीपार्श्वेशं नौमि शङ्खेश्वरस्थम् ॥ १ ॥

पूर्वापरसम्बन्धः—

सकल विश्वमां जैनदर्शन ए सर्वोपरि सत्ता–सामर्थ्य भोगवी शके एवुं दर्शन छे आ जैनदर्शनमां श्रुतधर्म–चारित्र धर्मना त्रिकालाबाधित मौलिकसिद्धान्तोथी अने अनेकविध–अमोघ–अनुष्ठानोथी अद्यापि पर्यंत जगत्मां जयवन्तुं रहुं छे, अने रहेसे ए निर्विवाद सत्य छे सर्वांगसुंदर आत्मीय विकास माटे आर्यदेश, मनुष्यजन्म, दीर्घआयुष्य, पूर्ण पञ्चेन्द्रियपणुं, निरोगिपणुं, सर्वज्ञकथित श्रवण–श्रद्धा, श्रद्धानुसार वीर्योल्लासपूर्वक संयममार्गे अविरत कूच करवी ते विगेरे साधनसामग्री–संयोगो पामवा आवश्यक छे आ साधनादि संबन्धनी आवश्यकता प्रथम विभागनी

प्रस्तावनामां स्पष्टपणे जणावी छे, अने तेथी श्रीसूत्रकृतांगसूत्रना प्रथम विभागनी प्रस्तावनामां वांचको माटे अनुक्रमे एकथी पचीश पेरेग्राफो विवेकपूर्वक विचारणीय–परिशीलनीय छे.

१ मनुष्यना आयुष्यबंधनी आकरी परीक्षा, २ पामवा लायकनी चीज, ३ श्रवणादिनी आवश्यकता, ४ सर्वज्ञ-कथित उपदेशनी जरुर, ५ उपदेशक प्रथम के उपदेश प्रथम ?, ६ उपदेशकपणानी संपूर्ण योग्यता, ७ उपदेशक अने उपदेश अनादिना, ८ वर्तमान सदुपदेशना आद्यप्रवर्तक, ९ श्रुतसंपदानुं मूळ, १० ज्ञानीपणानी प्राप्तिनो हक्क क्यारे ?, ११ पञ्चमगणधरनी जीवनचर्या, १२ अन्तिम केवलीनी जीवनचर्या, १३ " सुयंमे " अने ' त्तिबेमि ' ए बे पदोनी व्यापकता, १४ ते बे पदोनी सुव्यवस्था, १५ सर्व श्रुतसम्पदाना माळीक श्रीसुधर्मास्वामिजी, १६ ग्रन्थनुं गुण-निष्पन्न नाम, १७ सूत्रकृतांगनी महत्ता, १८ सूत्रकृतांगनी सामग्रीओ, १९ अध्ययनोनी (सोल अध्ययनोनी) ओळख, २० पू. श्री निर्युक्तिकारनी ओळख, २१ पू. वृत्तिकार श्री शिलांकसूरिजी, २२ पाठान्तरोनो अने प्रतिओनो परिचय, २३ परिशिष्टोनो परिचय, २४ अभ्यासियोने भलामण, अने २५ उपसंहार आ रीतिए प्रथम विभागना पृ. ३ थी पृ. २४ सुधी पेरेग्राफोनी परिपूर्ण प्रस्तावनानुं परिशीलन करनारने शासनमान्य श्रद्धानुसारीने संयममार्गे कूच करवी होय तो केवां केवां साधनो ? केवी केवी सामग्रीओ ? अने केवा केवा संयोगोनी अनिवार्य जरूर छे ?, तेनुं स्पष्टपणे मार्गदर्शन थाय छे. पूर्वापरसंबंधनी रीति–प्रथमविभागनी प्रस्तावनानुं आलेखन विचारनारने हवे द्वितीय विभागनी प्रस्तावनामां वधु विचारवालायक शुं छे ?, तेनो अत्र प्रारम्भ थाय छे.

सात अध्ययनना अभिधान—

आ सूत्रकृतांगसूत्रना रचयिता पू० गणधरभगवान् श्रीसुधर्मास्वामिजीनो अने सूत्रोना अर्थकार पू० श्री चौद पूर्वधरनिर्युक्तिकार श्रीभद्रबाहुस्वामिजीनो, तथा पू० वृत्तिकार श्रीशिलांकाचार्यसूरिजीनो परिचय प्रथम विभागनी प्रस्तावनामां करायेल होवाथी अत्र ते संबन्धनुं पुनरावर्तन करवुं ते अप्रासंगिक छे साथे साथे श्रीसूत्रकृतांगनी महत्ता अने सूत्रकृतांगनी सामग्रीओ पण समावेल होवाथी, अने तत्र प्रथम श्रुतस्कन्धनी सामग्रीओ विस्तारथी, तथा द्वितीय श्रुतस्कन्धनी सामग्रीओ फक्त नामनिर्देशथी सूचन करेल होवाथी अत्र विस्तृतपणे सूचन कराय छे श्रीसूत्रकृतांगनी निर्युक्तिमां जणावे छे के—

दो चेव सुयक्खंधा, अज्झयणाइं च हुंति तेवीसं । तेत्तिसुद्देसण काला, आयाराओ दुगुणमग ॥ २२ ॥

भावार्थः—आ श्रीसूत्रकृतांगना बे श्रुतस्कन्ध छे, ते बन्नेना त्रेवीस अध्ययनो छे, अने सर्व मळीने तेत्रीस उद्देशा छे, तेम प्रथम श्रीआचारांगसूत्रथी आ श्रीसूत्रकृतांगसूत्र बमणुं छे एटले श्रीआचारांगनी अढारहजारपदोथी सुशोभित छे, त्यारे आ श्रीसूत्रकृतांगसूत्र छत्रीस हजार पदोथी सुशोभित छे आ द्वितीय श्रुतस्कन्धना सात अध्ययनो छे, अने एक एक उद्देशारूप ते अध्ययन होवाथी सात उद्देशा स्वरूप अध्ययनो सात ज छे अनुक्रमे सात अध्ययनोनां अभिधान आ प्रमाणे छे—१ पौंडरीक-अध्ययन, २ क्रियाध्ययन, ३ आहारपरिज्ञा, ४ प्रत्याख्यान-अध्ययन, ५ आचार श्रुताध्ययन ६ श्रीआर्द्रकुमार-अध्ययन, अने ७ श्री नालन्दीय-अध्ययन छे

मुख्य–गौणपणे व्यवस्था—

जैनशासनमान्य अंग–उपांगादि साहित्य चार विभागमां वहेंचायुं छे, ते चार विभाग आ प्रमाणे छे.–१ द्रव्यानुयोग, २ धर्मकथानुयोग, ३ गणितानुयोग, अने ४ चरणकरणानुयोग. आ चारे अनुयोगो पूर्वे दरेके दरेक अंगमां–उपांगमां एटले अंग–उपांगना अध्ययन–शतक उद्देशाना सूत्रोमां पदोमां ओतप्रोत हता, परंतु भावी जीवोनी बुद्धिनी मंदता विगेरेना कारणोथी जे जे अंग उपांगमां जे अनुयोगनी मुख्यता देखाय छे ते ते अंग–उपांगने ते ते अनुयोगनी मुख्यता प्रमाणे व्यवस्था करता पू० श्रीआर्यरक्षितसूरि थया, आथी एम समजवुं के जे अनुयोगनी जे जे अंगमां मुख्यता होय ते ते अंगमां बीजा त्रण अनुयोगनी गौणता रहेली ज छे. आ हिसावे श्रीसूत्रकृतागसूत्रमां द्रव्यानुयोगनी मुख्यता प्रतिपादन करेली छे, अने साथे साथे गौणपणे धर्मकथानुयोगादि पण कहेल छे. आ द्वितीय श्रुतस्कंधना प्रथम–अध्ययनमां पुंडरीक–कंडरीकनी कथानो अंगुलीनिर्देश छे, अने छट्ठा अध्ययनमां श्रीआर्द्रकुमारनी कथानुं विस्तृतपणे आयोजन करेलुं छे, तेवी रीते गणितानुयोग अने चरणकरणानुयोग पण सुसंकलित ज छे, कारण के–३६३ मतान्तरो, गाथा सोलस वगेरे प्रकारो गणितानुयोगनी गरज सारे छे अने दरेक दरेक श्रुतस्कंध तथा दरेक दरेक अध्ययन–उद्देश जणाव्या छे तेम नहिं आचरवा योग्य तथा आचरवा योग्यनुं स्पष्ट कथन चरणकरणानुयोगमां छे.

धर्मकथानुयोगनुं रहस्य—

सप्रतिक्रमणधर्मनी सेवनाना रंगमां रंगायेल जैनशासनमां उभयटंक प्रतिक्रमण करनार श्रमणवर्ग श्रमणसूत्रना उच्चार

वळते चार विकथाओने प्रतिक्रमे छे, " पडिक्कमामि चउहिं विकहाहिं इत्थिकहाए-भत्तकहाए-देसकहाए रायकहाए "
आ पदोनुं उच्चारण करनाराओए स्त्रीकथा-भक्तकथा-देशकथा-राज्यकथा कहेवी जोइए नहीं, कारण के-आ चार कथाओनु
ईर्ष्या माटे अने पाक्षिक-चोमासिक-सांवत्सरिक प्रतिक्रमणमां अतिचार प्रसंगे निन्दन गर्हन करवानु अने मिच्छादुक्कडादि
देवाय छे, अने बीजी बाजु अंग-उपांगोमां तथा निर्युक्ति-चूर्णि-भाष्य-वृत्तिओमां कथाओ ठोरठोरथी पू० श्री गणधर
भगवन्तो तथा पूर्वधरो विशेषे पण कहेली छे, तो पछी समजवुं शुं ? कारण के जो कथाओना कथन-श्रवणथी
नुकसान छे तो पछी ते कथाओने धर्मकथानुयोग तरीके अपनाववानी जरूर शी छे ? श्री ज्ञाताधर्मकथा अने श्री उत्तरा
ध्ययनसूत्र ए बन्नेमां तो कथाओ ठांसी ठांसीने भरेली छे अने ते बन्ने ग्रन्थो धर्मकथानुयोगनी मुख्यताए प्रसिद्ध छे
" पाप करीने पापनुं आलोचन करवुं तेना करतां न करवुं ते सारु छे " आ न्याये धर्मकथानुयोगनो सर्वथा निषेध
करवो ते योग्य छे, आवो व्याख्यानीओ अभिप्राय आपनारने सुन्दर समाधानपूर्वक जणावे छे के-सोमल झेर छे, छतां
ते सोमल मारे छे अने जीवाडे पण छे आयुर्वेदिकशास्त्रमां निष्णात वैद्य ते शास्त्रनी नीति रीति प्रमाणे भट्ठीमां
पकवे छे, पकव्या पछी बरोबर पारखुं छे पण परीक्षा करीने रोगीने रतिभार आपतां ते सोमल आमार रोगीमां
नवतमां तुष्टि-पुष्टि आविर्भाव थाय छे, ऊंटवैद्य जेवा वैद्य सिवायना बीजाओए-मूर्खवैद्योए पकवेलुं सोमल अगर नहिं
पकावेलु सोमल जरापण खानारना प्राणने हरे छे; तेवी रीते कथा कहेवाना आशयने नहिं समजनारो वक्ता पण
कथाश्रवणना आशयने नहिं समजनार श्रोताओने कथा कहे तो तेवी दशाने प्राप्त करे छे माटे कथामांथी आत्महितकर

उपादेय विभाग, अहितकर–हेयविभाग–अनुमोदनीयविभागनी तारवणी करीने कथाओ कहेवी अने श्रवण करवी ते लाभदायी छे, अन्यथा उभयने हानिकर छे.

प्रथम अध्ययननी ओळख—

हवे प्रथम श्रुतस्कंधमां सक्षेपथी कथन करेला अर्थनो भाव–विधि विगेरे द्वितीय श्रुतस्कंधमां विस्तारथी कहेवाय छे, अने तेथी प्रथम श्रुतस्कंधना अध्ययनोनी अपेक्षाए आ द्वितीय श्रुतस्कंधने महाअध्ययनो कहेवाय छे. हवे आ द्वितीय श्रुतस्कंधना सात अध्ययनोनी क्रमशः ओळख नीचे प्रमाणे छे–प्रथम अध्ययन पौंडरीक अध्ययन छे, अने आ एकज अध्ययन उद्देशरूपे समाप्त थाय छे. नाम-स्थापना-द्रव्य क्षेत्र-काळ-भावथी महत् शब्दना छ निक्षेपा निर्युक्तिकार महर्षि जणावे छे, अने पुंडरीक शब्दना आठ निक्षेपा जणावतां द्रव्यादि छनी साथे गणना–सस्थान ए बे वधु निक्षेपा जणावे छे. आ अध्ययनमां पुंडरीकनी उपमा मुख्यतयाए दर्शावीने स्वसमयना गुणनी व्यवस्थाने जणाववापूर्वकनो अर्थाधिकार प्रतिपादन करे छे. जैनदर्शनमान्य पदार्थोनी व्यवस्थामां निक्षेपानुं वर्णन समजी शके तेज पदार्थोना रहस्यने पिछाणी शके छे, ए नियम विचारकने के अभ्यासकने भूलवा जेवो नथी. साथे साथे उपक्रमना छ भेद–१ आनुपूर्वी, २ नाम, ३ प्रमाण, ४ वक्तव्यता, ५ अर्थाधिकार, ६ अने समवतारने समजवाथी अध्ययनगत विषयनुं विशेषतः स्पष्टीकरण थाय छे. आथी पूर्वानुपूर्वीए पुंडरीक अध्ययन पहेलुं छे, नामथी क्षयोपशमिक भावे छे, प्रमाणविषयक विचारथी जीवगुण सबंध धरावे छे, वक्तव्यतामां परसमयनी वक्तव्यता साथे स्वसमयनी वक्तव्यता सामान्यथी छे, अने अर्थाधिकार उपर जणाव्या

मुजब स्पष्ट छे तथा प्रमववार तो ज्यां ज्यां आ सूत्रोनो परमार्थ स्तरे छे, त्यां त्यां ग्रन्थकारना माटेनो उल्लेख करेल छे भावपौंडरीकमां छ प्रकारो समाव्या छे, ते आ प्रमाणे—औदयिकभावे तीर्थंकरो, अनुत्तरविमानवासी देवो, अने सहस्रपत्र वाळा श्वेत कमळो विगेरे, औपशमिकभावे समस्त उपशान्त मोह करनारा जीवो, क्षायिकभावे केवलिभगवन्तो, क्षायोपशमिकभावे विपुलमति—मनःपर्यवज्ञानी अने चौदपूर्वधरो इत्यादि पारिणामिकभावे—भव्यजीवो अने सान्निपातिकभावे सिद्धसिद्धयोगनी गणत्रीए सिद्धादि, एवी रीते शासनमान्य बुद्धिथी पौंडरीकपणे योजन करवु आवश्यक छे अथवा सम्यग्ज्ञान-दर्शन चारित्रवन्त श्रेष्ठमुनिवरोने भावपुंडरीकपणे मानवा अने ते सिवायना द्रव्यथी पुंडरीकसमान जाणवा दृष्टान्त—(एक वावडी छे तेनी अंदर पाणी—कादव—कर्दमक छे, अने घणा श्वेत पुंडरीक कमळो छे, मध्यमां श्रेष्ठ पुंडरीक कमळ छे, एक पछी एक पुरुषो आगमन साथे कमळ लेवानी तैयारी करे छे, तेओ केवी रीते दुःखी थाय छ, अने केवी रीते हस्तगत करे छे, आ एक दृष्टान्तने विस्तारपूर्वक समजावीने अन्यदर्शनकारोरूप चार पुरुषो कमळ लेवाने बदले डुबाडने कई रीतिए दुःखी थाय छे, अने पांचमो पुरुष शासनमान्य जे भिक्षु छे ते सघळी पापमय नीति—रीति छोडेल होवाथी कांठे उभो उभो बोले छे के हे पद्मवरपौंडरीक! वावडीना मध्यभागथी उडीने आव!! आ वाक्यो द्वारा आखा दृष्टान्तथी भगवान् श्री महावीर दार्ष्टान्तिक योजना प्रमाणे निर्ग्रंथ—निर्ग्रंथीओने केवो सुंदर उपदेश आपे छे ते बधो भावार्थ अध्ययनना वाचक—विचारक अभ्यासकने स्पष्ट थाय छे आ दृष्टान्तद्वारा लोकोत्तर भिक्षुना मथनु निरूपण अर्थिओ माटे समजवा योग्य छे

द्वितीय–अध्ययननी ओळख—

पाणी अने कर्दमथी भरपूर वावडीने वे जंघावडे, बे बाहुवडे अगर नावावडे तरवी दुष्कर छे, छतां ग्रहण करवानी क्रियाना उपायथी कमल ग्रहण कर्युं तेथी हवे बीजा अध्ययनमां क्रियास्थान नामनुं अध्ययन शरु थाय छे. आ अध्ययननी शरुआतमां अर्थ करवानी रीतिए प्रथम अध्ययनमां उपक्रम–निक्षेप विगेरेनी पद्धति प्रथमतः समजीज लेवी, अने बीजा अध्ययनोमां पण अर्थाधिकार अवसरे ते ते उपक्रम–निक्षेप करवानो शासनमान्य रिवाज समजी लेवो. हवे भावक्रियाना आठ प्रकारो जणावे छे. १ प्रयोगक्रिया, २ उपायक्रिया, ३ करणीयक्रिया, ४ समुदानक्रिया, ५ इर्यापथिकाक्रिया, ६ सम्यक्त्वक्रिया, ७ सम्यक्मिथ्याक्रिया, ८ मिथ्यात्वक्रिया आ रीतिए आठे क्रियाओने विस्तारथी आ अध्ययनमां निर्युक्तिकारे निर्युक्तिथी प्रतिपादन करी छे, ते बधी क्रियाओने वृत्तिकारे वृत्तिमां स्पष्टपणे समजाववानो प्रयत्न करेलो छे. आवश्यकसूत्रान्तर्गत प्रतिक्रमण अध्ययन विषे "पडिक्कमामि तेरस किरियाठाणेहिं" आ पदोना उच्चारणथी तेर क्रियास्थान जणावे छे, ते तेर क्रियास्थानोनुं विस्तृत स्वरूप आ अध्ययनमां आवे छे. तेनां क्रमशः नाम नीचे मुजब छे. १ अर्थदंड, २ अनर्थदंड, ३ हिंसादंड, ४ अकस्मात्दण्ड, ५ द्रष्टिविपर्यासदंड, ६ मृषावादप्रत्ययिकदंड, ७ अदत्तादानप्रत्ययिकदंड, ८ आध्यात्मिकदंड, ९ मान–प्रत्ययिकदंड, १० मित्रदोषप्रत्ययिकदंड, ११ मायाप्रत्ययिकदंड, १२ लोभप्रत्ययिकदंड, १३ इर्याप्रत्ययिकदंड. आ तेर स्थानके क्रियाना जोरे आत्मा दंडाय छे एवुं त्रिकालवर्ति तीर्थंकरोए प्ररूपेलु छे तेर क्रियास्थानद्वारा जे पापस्थान न जणाव्यां होय तेनुं वर्णन करीने, साथे साथे गृहस्थधर्म, अधर्मपक्ष

इत्यादि प्रसंगो अनुसरतुं कथन करे छे, आ अध्ययननी अन्तमां उपर बतावेला क्रियास्थानकोनुं सेवन करवावाळा-कराववावाळा अने अनुमोदन करवावाळाओ आ चतुर्गतिरूप संसारनो पार पामी शकवाना नथी अने तेथी विरुद्ध वर्तन करवावाळाओ सकळ कर्मनो अंत करीने केवळ मोक्ष पामे छे ते संबंधनुं विस्तृत स्वरूप सूत्रकार अने वृत्तिकार जणावे छे बार प्रकारना क्रियास्थानकोनुं सेवन करनाराओ संसारमां परिभ्रमण कर्या ज करशे, अने तेरमा धर्मपक्षाश्रित क्रियास्थानने सेवनारो सकळ कर्मथी मुक्त थई सिद्धिपदने पामशे ते निःशंक सत्यने स्वीकारवा भलामण करे छे

तृतीय अध्ययननी ओळख—

श्रुतस्कंधना समुदायने श्री सूत्रकृतांगसूत्र कहेवाय छे प्रथम श्रुतस्कन्ध पण सोळ अध्ययनस्वरूप छे, अने अनेक सूत्रोना अंकोडा मळीने एक अध्ययनरूप महान् अंकोडारूप अध्ययन, अने एवां सात महान् अंकोडारूप अध्ययनो मळीने द्वितीयश्रुतस्कंध छे, आवी सूत्रो-अध्ययनो-श्रुतस्कंधो ए बधा शृंखलावत् पूर्वापरने संबंध धरावनारी वस्तुओ छे, अने तेथीज बीजा अध्ययनमां कथन करेला भावने संबंध राखनारुं आ तृतीय क्रियास्थानुं निरन्तर-निरविचार सेवन करे छे अने अशातावृत्तिने अनुसरतुं आहारादिकनुं ग्रहण-सेवन-स्वीकारे छे धर्माधार शरीरने निर्दोष आहारनी आवश्यकता जरूर छे, तेथी आ आहारपरिज्ञा अध्ययन विषे आहारनुं स्वरूप प्रतिपादन थाय छे आ अध्ययनना उपसंहारमां दर्शावे छे के आहार विना शरीर पोषातुं नथी, आहार लेवामां-वापरवामां कर्मोनुं ग्रहण करी आ आत्मा अरघट्टघटिकान्याये संसारमां परिभ्रमण करे छे आहार करतां छतांय संसारमां परिभ्रमण न थाय, ते माटे

पांचसमितिए समितियुक्त, आहार अर्थे जणावेला उपायोए करी आहारगुप्त, एवो संयमी आत्मा आहार करतो छतांए ससारमा रखडतो नथी ते जणाव्युं छे, तेम सम्यग्ज्ञानादिरत्नत्रयीना मार्गे उजमाळ थइ सयम अनुष्ठानमां निरंतर उद्यमी रहे तेवुं स्पष्टीकरण जणाव्युं छे.

चतुर्थप्रत्याख्यानाध्ययननी ओलख—

आ अध्ययननु नाम प्रत्याख्यान अध्ययन छे, आहारसम्बन्धमां जे भिक्षुना त्रण योग अशुभ छे अर्थात् चञ्चल छे, तेवो भिक्षु कर्मबन्ध करे छे माटे कर्मबन्धनथी बचवा माटे प्रत्याख्यान—पच्चक्खाण करवुं आवश्यक होवाथी आहार—परिज्ञा अध्ययननी पछी प्रत्याख्यान अध्ययननो प्रारम्भ कर्यो छे, अविरतिनी आंधीमां अटवायेला आत्माओने भगवन्ते असयत, अविरति, एकान्ते मन वचन कायाना त्रण दण्डथी दंडित तथा एकांते बाल—अज्ञानी एवो आत्मा—कर्मनी परम्पराने उत्पन्न करीने चार गति—चौराशी लाख जीवायोनिमां परिभ्रमण करे छे, भूतकालमां परिभ्रमण कर्युं छे अने आवो आत्मा भविष्यकालमां पण परिभ्रमण करशे, आवुं न थाय माटे विरतिधर्मने अनुसरता प्रत्याख्यानमां जीवन पसार करवुं ए अर्थी आत्माओने केवु श्रेयस्कर छे तेम तेना माटे केवो सुयोग्य अवसर छे तेनुं प्रतिपादन करी आ अध्ययनना उपसहारमां प्रत्याख्यान करवावाळो आत्मा पापकर्मनो नाशक छे,—सवरधर्मनो उपासक छे तेम एकान्ते मण्डित छे एमां शंकाने स्थान नथी एवुं पू० श्रीगणधरविभुए सूत्रमां गुंथ्युं छे अने वृत्तिकारे विस्तारथी आ अध्ययनमां विवेचन कर्युं छे.

पांचमा अध्ययननी ओलख—

आ अध्ययननुं नाम आचारश्रुत अध्ययन छे प्रत्याख्यान विषयक प्रसिद्धक्रियानु सेवन करनारो हमेशां शासन मान्य आचारमां ओतप्रोत थईने जीवन जीवनार होय छे, आ अध्ययनमां आचार—अनाचारने विस्तृतपणे जणावेलो छे, अनाचारमां मुख्यपणे आधाकर्मादि वस्त्र—भोजन—वसति माटे भारपूर्वक जणावे छे के—आधाकर्मीना उपभोगथी साधुओ कर्मथी लेपाय छे, छतां शास्त्रमां जणावेल कारणे शास्त्रमां जणावेल नीतिए आधाकर्मादिनो उपभोग करतो साधु शुद्ध छे, आ अध्ययनमां अनाचारने विशेषतः समजावेलो होवाथी आ अध्ययनने अनाचारश्रुत नामनुं अध्ययन पण कहे छे, बन्ने नामो प्रासंगिक अने युक्तियुक्त छे

छट्ठा अध्ययननी ओलख—

पांचमा अध्ययन विषे आचारनुं अने अनाचारनु स्वरूप प्रतिपादन कर्युं छे तेमां कथन करेला आचारोनु सेवन करवु अने अनाचारोथी विराम पामवु ते अतिकठीन अनुष्ठान छे, आवा कठीन अनुष्ठाननु सेवन करनार आर्द्रकुमारे पोतानुं जीवन केवी रीते जीवाड्यु ते आ छट्ठा आर्द्रकुमार नामना अध्ययनमां प्रतिपादन कराय छे अथवा अनाचारनुं नविकडु छक बानीने सदाचारमां जे रीतिए आर्द्रकुमार प्रयत्नशील थया तेनु विस्तृत वर्णन आ अध्ययनमां कराय छे

गोचरने अविसरस पडे ते वर्षे अतिसंक्षिप्तमां अत्र आर्द्रकुमारनु चरित्र हवे जणावाय छे .. ..

अनार्यदेशमां आर्द्रकपुर नामना नगरमां आर्द्रकनामना राजा राज्य करे छे, तेना पुत्रनुं नाम पण आर्द्रककुमार

पाडेलुं छे तेमनी वंशपरंपरामां उत्पन्न थयेलानुं नाम आर्द्रक पाडवानो रिवाज हतो. एक समये पूर्वपरिचित आर्यदेश विषे आवेल मगधदेशना राजवी श्रेणिक महाराजानुं स्मरण थतां पूर्वनी मित्रता ताजी करवा माटे पोताना प्रधानपुरुषोने भेटणां लइने राजगृही नगरीए जवानी आज्ञा करी आ वात आर्द्रककुमारे पण श्रवण करी. आथी आर्द्रकुमारे राजगृही जनारा प्रधानपुरुषोने बोलावी पूछ्युं के–जेनी पासे तमो जाओ छो ते राजाने उत्तमपुत्र छे ? जवाबमां प्रधानोए जणाव्युं के चार बुद्धिनो निधान अभयकुमार नामनो पुत्र तेओने छे. आ श्रवण करतांनी साथेज गाढ मैत्री बांधवानी आर्द्रकुमारने इच्छा थई आथी पोते पण स्वतंत्र भेटणुं मोकलाव्युं. अभयकुमारे भेटणुं मळतां विचार्युं के " आ कुमार भले अनार्य देशमां जन्म्यो छे छतां जरुर ते भव्य होवो जोइए, माटे भेटणुं एवुं मोकलुं के ते भेटणुं तेना आत्माने महान् दशा प्राप्त करावनारु थाय." आवो पारिणामिकी बुद्धिथी परिपक्व विचार करीने श्री आदिनाथ भगवंतनी प्रतिमा भेटणा तरीके मोकली अने जणाव्युं के–" आ मारुं मोकलावेल भेटणुं आर्द्रकुमारने कहेशो के एकान्तमां जुए " तेवुं जरूर कहेशो. आर्द्रकुमारे भेटणुं एकान्तमां देखतां जिनमूर्त्तिने जोइ ऊहापोह थयो अने जातिस्मरणज्ञान थयुं. पूर्वभवो जोया अने वैराग्य प्राप्तिथी अनार्यदेशमांथी नाशी जइ आर्य देशमा आवी संयम ग्रहण कर्युं. कुमार नाशी न जाय ते माटे पांचसो राजपूत्रोने रोकेला ते कुमारना नाशी जवाथी आर्यदेशमां आवी वसेला छे. विगेरे आ प्रसंगोनी रचना सूत्रकारे सूत्रमां, निर्युक्तिकारे निर्युक्तिमां अने वृत्तिकारे वृत्तिमां विस्तारथी करेल छे अने वांचतां विचारतां अनेकानेक पवित्र भावोनी परम्परा हृदयमां उभराया करे तेवो आ प्रसग अतीव मननीय छे, भोगावली कर्मनो उदय, संयमवेषनो

त्याग अने भामिनीनी प्रमुखी आदिना विळासी भावोमां भावित थईने संसारमां गृहस्थाश्रम शरु कर्यो संसारनी ढीलमना अनुभवमां एक पुत्र थयो, आ प्रसंगे वैराग्यवासित थईने पुनः संयम ग्रहण करवानी भावना छतां स्नेहतन्तुथी बंधायेल बार वर्ष पर्यंत संसारमां बद्ध रह्या बार वर्ष पछी सूत्रार्थ पारंगत आर्द्रकुमार संयम ग्रहण करी वीर प्रभु पासे जतां मार्गमां पूर्वरक्षण माटे पांचसो राजपुत्रो मोकलेल ते आर्द्रकराजाना भयथी अटवीमां पछी चोरी धाड आदि कर्मोथी निर्वाह करी रहेल हता, ते पांचसोने प्रतिबोध करीने पोतानी साथे लईने प्रभु पासे जतां मार्गमां गोशाळो मळ्यो तथा बीजा दर्शनोना वादी मळ्या अने तेओ साथे जे प्रश्नोत्तरो थया तथा वनहस्ति बंधन तोडीने दोडतो आर्द्रकुमार पासे आवी शान्त प्रदक्षिणा दई वनमां जाय छे आ प्रसंगे श्रेणिक महाराजा साथे प्रश्नोत्तर थाय छे विगेरे वर्णनने विवेकपूर्वक वांचवाथी सम्यक्त्वनी अति विशुद्धि थाय तेम छे ते निःशंक बीना छे

सातमा अध्ययननी ओळख—

सूत्रकृताङ्ग विषे सूत्रना प्रथम श्रुतस्कन्धना सोळ अध्ययनोमां अने द्वितीय श्रुतस्कन्धना छ अध्ययनोमां—स्वसमय-परसमयप्ररूपणाद्वारा साधु भगवन्तोना आचार बताव्या छे, आ सातमा नालंदीय अध्ययनमां श्रावकोने अनुसरतो विधि कहेवाय छे, छठ्ठा अध्ययनमां परतीर्थिको साथे वादविवाद बतावेलो आ सातमा अध्ययनमां स्वतीर्थिको साथेनो वाद बताव्यो छे राजगृह नगरना नालन्दा नामना पाडानी समीपमां आवेला मनोरम नामना उद्यानमां इन्द्रभूति गणधरने प्रभु पार्श्वनाथना संतानीया उदकनामना साधु ए श्रावक व्रत संबन्धि प्रश्नो पूछेल छे तेना समाधानो तेओए

आपेला होवाथी आ अध्ययननुं नाम नालन्दीय अध्ययन छे ते लेप नामना श्रावकथी शरु करी यावत् व्रत सम्बन्धि करेली पृच्छा अने तेनुं समाधान आपीने अनुक्रमे साते नयोनुं स्वरूप–रहस्य प्रतिपादन करेलुं छे.

ग्रथनो उपसंहार—

आ द्वितीयश्रुतस्कंधना प्रथम अध्ययनथी सात अध्ययनना अभ्यासीए पूर्वापर अध्ययनोनो, सूत्रस्थितपदोनो, सूत्रोना पूर्वापर संबंधनो, सूत्रस्थितपदोना परमार्थनो, अने परमार्थने हेय–उपादेयादि विभागनी विवेकपूर्वक व्हेंचण करीने आ साते अध्ययनो जो विचारवामां आवे तो जरुर अर्थिजीवोने इष्टसिद्धि साधवामां आ श्रुतस्कंध मार्गदर्शक थई पडशे ए निर्विवाद छे.

प्रथम अध्ययनमां संसाररूप पुष्करिणीनु वर्णन शरू थाय छे. पुष्करिणीस्थित प्रधान कमलनी प्राप्ति माटे अनुक्रमे पांच पुरुषोनां वर्णन शरु थाय छे. प्रथम पुरुष तज्जीव तच्छरीरवादी, बीजो पुरुष पञ्चमहाभूतवादी, त्रीजो पुरुष ईश्वरकारणवादी, चोथो पुरुष नियतिवादी, अने पांचमा पुरुष तरीके शासनमान्य निरवद्य भिक्षावृत्ति पर जीवन धारण करवावाला पंचमहाव्रतधारीनुं वर्णन आवे छे. उपर जणाव्या मुजबना चार पुरुषो कमल लेवा निष्फळ निवडे छे अने निष्पाप जीवन जीववालो पांचमो महापुरुष ते लेवा केवी रीते समर्थ थाय छे तेनुं वित्तारथी वर्णन आवे छे.

आ रीतिए बीजा अध्ययनमां क्रियाओनुं सक्षिप्त वर्णन, अने साथे साथे तेर क्रियास्थानकोना नाम अने तेनुं यथार्थ विस्तृत वर्णन करीने आत्महितकर मार्गनी प्ररूपणा साथे पापी आत्माओना पापमय कर्तव्यना दिग्दर्शन करावी

आत्महितकर मार्गनी प्ररूपणा करे छे साथे साथे निरवद्य पृथिवी शरीरनुं पोषण करवुं जिनेश्वरोए फरमावेलु छे, अने तेनी साथे त्रीजा चोथा अध्ययनमां आहारना निक्षेपादि वर्णन, केवळीने आहार वगर शरीर टके ज नहिं तेनुं दलील-पुरस्सरनुं कथन पृथ्वीयोनिक वृक्षोनां, विविध वनस्पतिओनां, सर्व वनस्पतिओ संबंधी आहारनु, अने तेनी साथे सर्व जीवोनु वर्णन करीने दरेक जीवोने पोतानी समान समजनारो अने अविरतिनी आपत्तिओथी मुक्त थईने विरति लेनारो शासनमान्य साधु थाय पवित्र छे एम आ अध्ययननी अंतमां स्पष्ट जणावेलु छे पांचमा अध्ययनमां आचार संबंधी अने अनाचार संबंधी प्रसंगोनुं वर्णन करीने संसारमां-समस्त पदार्थो नित्यानित्य छे, पण एकान्ते नित्य के अनित्य छे ज नहिं तेनु समर्थन करीने "आधाकर्मी आहार करनार साधु-साध्वी सर्वथा पापी छे।" एवु एकान्त वचन बोलवानी स्पष्ट मनाई करे छे

छट्ठा अध्ययनमां गोशाळा साथे, शाक्य भिक्षुओनी साथे, ब्राह्मणोनी साथे, एकदण्डिक साधुओ, अने हस्तितापसो साथे आर्द्रकुमारनो संवाद विवेकपूर्वक समजीने शासनमान्य वस्तोनु स्पष्टीकरण हृदयमां स्थिर करवा जेवु छे

सातमा अध्ययनमां लेपगाथापतिना बगीचामां गणधर भगवन्त श्रीगौतमस्वामिनी साथे उदकपेढाळ पुत्रना प्रश्नो अने श्रीगौतमस्वामिजीए पोते आपेला समाधानो विचारणीय छे

आ रीतिए प्रथम श्रुतस्कन्धना सोळ अध्ययनो अने बीजा श्रुतस्कन्धना सात अध्ययनो-कुल त्रेवीस अध्ययनोना परमार्थने जिज्ञासुओ तथा परिशीलन करशे ते जीवो उत्तरोत्तर कल्याणनी परंपराने जरूर प्राप्त करीने मनपाती कर्म

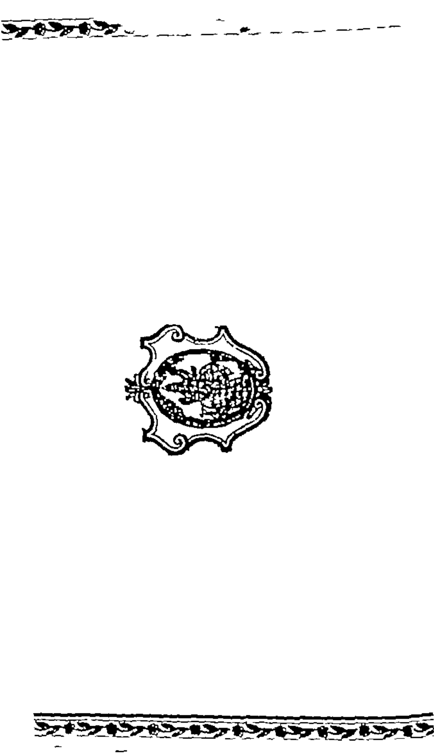
तोडीने कैवल्यदशाने प्राप्त करवा साथे अखंड सुखनो भोक्ता थशे.

आ रीतिए द्वितीय श्रुतस्कंधीय श्रीसूत्रकृताङ्ग सूत्रना बीजा विभागनी प्रस्तावना विषे जणाववा योग्य प्रसगोने अङ्गुलीमात्र निर्देशथी जणावीने आ प्रस्तावना पूर्ण कराय छे. आ ग्रन्थनुं प्रथम मुद्रण करावनार प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद गीतार्थ–सार्वभौम, देवसूरतपागच्छपरम्परासंरक्षक, आगमोद्धारक स्व. गुरुदेव श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरजीनो अने मने पण पुनर्मुद्रण माटे प्रोत्साहन दाता एवा तेज पूज्य परमोपकारी गुरुदेवश्रीनो उपकार पुनः पुनः स्मरण करी तेओश्रीना आशय विरुद्ध तेम ग्रन्थकारना आशयथी विपरीत कंई थयेलु होय, तथा परिशिष्टादि बनाववामां के प्रत्यन्तरोना पाठो आपवामां जे कंई क्षति थई होय ते अने प्रेसदोष के दृष्टिदोषथी आ आखाये ग्रंथमां जे कंइ क्षति–त्रुटिओ थई होय ते सुविवेकी वांचको सुधारीने वांचे ए अभिलाषा सह अत्र विरमु छुं.

आ ग्रन्थनी प्रेस मेटर–प्रूफादि संशोधनना कार्यमां मुनि–श्रीचन्दनसागरजी सहायक हता.

श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथ–महातीर्थ.
वी. सं. २४७९. वि. २००९.
फाल्गुनकृष्णदशमी.

लि० चन्द्रसागरसूरि.



॥ ॐ नमः श्रीवीतरागाय ॥

श्रीगोडीपार्श्वजैनग्रन्थमाला–पुष्प–५०

श्रीपञ्चमगणधरवरसुधर्मस्वामिसंदृब्धम् । श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिनिर्मितनिर्युक्तियुतम् । श्रीमच्छीलाङ्काचार्य–विहितविवरणविभूषितम् । श्रीसाधुरङ्गोपाध्यायविरचितदीपिकासमलङ्कृतम् ।

श्रीमत्सूत्रकृताङ्गम् ॥

अथ श्रीद्वितीये सूत्रकृताङ्गे द्वितीयश्रुतस्कन्धे पौण्डरीकाध्ययनम् ।

प्रथमश्रुतस्कन्धानन्तरं द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः । इहानन्तरश्रुतस्कन्धे योऽर्थः समास–तोऽभिहितः, असावेवानेन श्रुतस्कन्धेन सोपपत्तिको व्यासेनाभिधीयते; त एव विषयः सुसंगृहीता भवन्ति येषां समासव्यासाभ्यामभिधानमिति । यदि वा पूर्वश्रुतस्कन्धोक्त एवार्थोऽनेन दृष्टान्तद्वारेण सुखावगमार्थं प्रतिपाद्यत, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य श्रुतस्कन्धस्य सम्बन्धीनि सप्त महाध्ययनानि प्रतिपाद्यन्ते । महान्ति च तान्यध्य-

यनानि, पूर्वश्रुतस्कन्धाध्ययनेभ्यो महान्तीत्येतानीति; तत्र महच्छब्दाध्ययनशब्दयोर्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

णामं ठवणादविए खेत्ते काले तहेव भावे य। एसो खलु महतंमि निक्खेवो छव्विहो होति ॥१४२॥
णाम ठवणादविए खेत्ते काले तहेव भावे य। एसो खलु अज्झयणे निक्खेवो छव्विहो होति ॥१४३॥
णाम ठवणादविए खेत्ते काले य गणण सठाणे। भावे य अट्ठमे खलु णिक्खेवो पुंडरीयस्स ॥१४४॥
जो जीवो भविओ खलुर्ववज्जिकामो य पुंडरीयंमि। सो दव्वपुंडरीओ भावंमि विजाणओ भणिओ ॥
एगभविए य बद्धाउए य अभिमुहियनामगोए य। एते "तिन्निवि देसा दव्वंमि य पोंडरीयस्स॥१४६॥
तेरिच्छिया मणुस्सा देवगणा चेव होंति जे पवरा। ते होंति पुंडरीया सेसा पुण कंडरीया उ ॥१४७॥
जलचर थलचर खयरा जे पवरा चेव होंति कंता य। जे अ सभावेऽणुमया ते होंति पुंडरीया उ ॥१४८॥
अरिहंत चक्कवट्टी चारण विज्जाहरा दसारा य। जे अन्ने इड्ढिमंता ते होंति पोंडरीया उ ॥१४९॥
भवणवइवाणमंतरजोतिसवेमाणियाण देवाण। जे तेसिं पवरा खलु ते होंति पुंडरीया उ ॥१५०॥

१-२-५ नामं च खा। ३-४ सेह अ आ.। ६ निक्खे अ आ.। ७ भविउ अ आ.। ८ ०वज्जिउ कामो अ. आ.। ९ पुंडरीएसु अ. आ। १० रीउ अ. आ.। ११ क्त अ आ। १२ भविउ अ आ.। १३ हिये अ.। १४ तिण्णिव अ. तिण्णय आ.। १५ पुंड अ आ.। १६ चउप्प अ आ.। १७ पवा ×× होंति अ। १८ रीयाउ अ. आ.। १९ खहचर अ आ.। २ समया अ आ.। २१ रीयाउ अ आ। २२ अरहंत अ. आ.। २३ रीयाउ अ आ। २४ ०वासी विमाणवासीय अ. आ। २५ पवरा देवा अ. आ.। २६ ०उ पोंडरीयाउ अ आ।

[1]कंसाणं दूसाणं मणि[2]मोत्तियसिल[3]पवालमादीणं। जे[4] अ अचित्ता पवरा ते होंति पोंडरीया उ ॥१५१॥
जाइं खेत्ताइं खलु सु[5]हाणुभावाइं होंति लोगंमि। देवकुरु[6]मादियाइं ताइं खे[7]त्ताइं पवराइं[8] ॥१५२॥
जीवा भव[9]ट्ठितीए कायठितीए य होंति जे पवरा। ते होंति पोंडरीया अवसेसा कं[10]डरीया उ ॥१५३॥
जीवा भवट्ठितीए कायठितीए य हो[11]ंति जे पवरा। ते होंति पोंडरीया अवसेसा कंडरीया उ ॥१५३॥

गणणाए रज्जू खलु संठाणं चेव हों[11]ति चउरंसं[12]। एयाइं पोंडरीगाइं होंति सेसाइं इयराइं ॥१५४॥
[13]ओदइए उवसमिए खइए य तहा [14]खओवसमिए अ। परिणामसन्निवाए जे पवरा तेवि ते चेव ॥१५५॥
अहवावि नाणदंसणचरित्तविणए तहेव अज्झप्पे। जे पवरा होंति मुणी ते [15]पवरा पुंडरीया उ ॥१५६॥
एत्थं पुण अहिगारो वणस्[16]सतिकायपुंड[17]रीएणं। भावंमि अ समणेणं अज्झयणे पुंडरीअंमि ॥१५७॥

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावात्मको महति षड्विधो निक्षेपो भवति। तत्र नामस्थापने सुज्ञाने। द्रव्यमहदागमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः; नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्त्रिधा। तत्रापि सचित्तद्रव्यमहत् औदारिकादिकं शरीरं, तत्रौदारिकं योजनसहस्रपरिमाणं मत्स्यशरीरं,

सा १ अचित्त मीसगेसुं दव्वेसु जे य होंति पवरा उ। ते होंति पोंडरीया, सेसा पुण कंडरीया उ ॥१॥ इति प्रत्यन्तरेऽधिका गाथा ॥
२ ०मोत्ति० अ आ। ३ प्पवालमाईणं अ. आ। ४ तेसिं पवरा खलु ते होंति पोंडरीगाउ अ आ। ५ महाणु० अ आ.। ६ ०माई० अ आ। ७ खेत्तेसु अ आ। ८ ०दारं अ आ। ९ ०ट्ठिइए अ आ.। १० ०रीगाउ ॥१५२॥ दार अ. आ। ११ होइ अ. आ। १२ ०रस्सं अ आ। १३ उदइय अ. आ। १४ खउवसमिएय अ आ। १५ ते पवरा होंति पोंडरीगाउ अ आ.। १६ ०स्सइ० अ ०स्सई आ.। १७ पोंडरीए य अ आ.।

वैक्रियं तु योजनशतसहस्रपरिमाणं, तैजसकार्मणे तु लोकाकाशप्रमाणे; तदेतदौदारिकवैक्रियतैजसकार्मणरूपं चतुर्विधं द्रव्यसचित्तमहत्। अचित्तद्रव्यमहत् समस्तलोकव्याप्यचित्तमहास्कन्धः। मिश्रं तु तदेव मत्स्यादिशरीरम्। क्षेत्रमहत् लोकालोकाकाशम्। कालमहत्सर्वाद्धा। भावमहत्त्वौदयिकादिभावरूपतया षोढा,—तत्रौदयिको भावः सर्वसंसारिषु विद्यत इतिकृत्वा बह्वाश्रयत्वान्महान् भवति; कालतोऽप्यसौ त्रिविधः, तद्यथा—अनाद्यपर्यवसितोऽभव्यानामनादिसपर्यवसितो भव्यानां सादिसपर्यवसितो नारकादीनामिति। क्षायिकस्तु केवलज्ञानदर्शनात्मकः साद्यपर्यवसितत्वात् कालतो महान्। क्षायोपशमिकोऽप्याश्रयबहुत्वादनाद्यपर्यवसितत्वाच्च महानिति, औपशमिकोऽपि दर्शनचारित्रमोहनीयानुदयतया शुभभावत्वेन च महान् भवति। पारिणामिकस्तु समस्तजीवाजीवाश्रयत्वादाश्रयमहत्त्वान्महानिति, सान्निपातिकोऽप्याश्रयबहुत्वादेव महानिति; उक्तं महत्। अध्ययनस्यापि नामादिकं षोढा निक्षेपं दर्शयितुं निर्युक्तिकृदाह—'णामं' इत्यादि। अध्ययनस्य नामादिकः षोढा निक्षेपः, स चान्यत्र न्यक्षेण प्रतिपादित इति नेह प्रतन्यते। अत्र च श्रुतस्कन्धे सप्त महाध्ययनानि, तेषामाद्यमध्ययनं पौण्डरीकाख्यं, तस्य चोपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि प्ररूपणीयानि। तत्रोपक्रम—आनुपूर्वीनामप्रमाणवक्तव्यतार्थाधिकारसमवतारभेदात् षोढा। तत्र पूर्वानुपूर्व्या प्रथममिदं, पश्चानुपूर्व्या तु सप्तममनानुपूर्व्या तु सप्तगच्छगतायाः श्रेण्या अन्योऽन्याभ्यासेन द्विरूपोने भवति पञ्चाशच्छतान्यष्टत्रिंशदधिकानि भवन्ति। नाम्नि तु षण्णाम्नि, तत्रापि क्षायोपशमिके भावे, सर्वस्यापि च श्रुतस्य क्षायोपशमिकत्वात्। प्रमाणचिन्तायां जीवगुणप्रमाणे। वक्तव्यतायां सामान्येन सर्वेष्वध्ययनेषु स्वसमयवक्तव्यता।

समवतारे तु यत्र यत्र समवतरति तत्र तत्र लेशतः
अर्थाधिकारः-पौण्डरीकोपमया स्वसमयगुणव्यवस्थापनम् । समवतारे तु यत्र यत्र समवतरति तत्र तत्र लेशतः
समवतारितमेवेति । उपक्रमानन्तरं निक्षेपः, स च नामनिष्पन्ने निक्षेपे पौण्डरीकमित्यस्याध्ययनस्य नाम, तन्नि-
क्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह-'नाम'मित्यादि । पौण्डरीकस्य नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालगणनासंस्थानभावात्मकोऽष्टधा
निक्षेपः। तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यपौण्डरीकमभिधित्सुराह-'जो'इत्यादि । यः कश्चित्प्राणधारणलक्षणो
जीवो भविष्यतीति भव्यः, तदेव दर्शयति-'उत्पतितुकामः' समुत्पित्सुस्तथाविधकर्मोदयात् 'पौण्डरीकेषु' श्वेतपद्मेषु
वनस्पतिकायविशेषेष्वनन्तरभवे भावी स द्रव्यपौण्डरीकः । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे। भावपौण्डरीकं त्वागमतः
पौण्डरीकपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्त इति । एतदेव द्रव्यपौण्डरीकं विशेषतरं दर्शयितुमाह-'एगे'त्यादि। एकेन भवेन
गतेनानन्तरभव एव पौण्डरीकेषूत्पत्स्यते स एकभविकः। तथा तदासन्नतरः पौण्डरीकेषु बद्धायुष्कस्ततोऽप्यासन्नत-
मोऽभिमुखनामगोत्रोऽनन्तरसमयेषु यः पौण्डरीकेषूत्पद्यते । एते अनन्तरोक्ता त्रयोऽप्यादेशविशेषा द्रव्यपौण्डरीके-
ऽवगन्तव्या इति, "भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद्द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् "
॥१॥ इति वचनात् । इह च पुण्डरीककण्डरीकयोर्भ्रात्रोर्महाराजपुत्रयोः सदसदनुष्ठानपरायणतया शोभनाशोभन-
त्वमवगम्य तदुपमयाऽन्यदपि यच्छोभनं तत्पौण्डरीकमितरत्तु कण्डरीकमिति । तत्र च नरकवर्जासु तिसृष्वपि
गतिषु ये शोभनाः पदार्थास्ते पौण्डरीकाः, शेषास्तु कण्डरीका इत्येतत्प्रतिपादयन्नाह-'तेरिच्छिये'त्यादि, कण्ठ्या ।
तत्र तिर्यक्षु प्रधानस्य पौण्डरीकत्वप्रतिपादनार्थमाह-'जलचरे'त्यादि । जलचरेषु मत्स्यकरिमकरादयः, स्थलचरेषु

सिंहादयो बलवर्णरूपादिगुणयुक्ताः, उरःपरिसर्पेषु मणिफणिनो भुजपरिसर्पेषु नकुलादयः, खचरेषु हंसमयूरादयः; इत्येवमन्येऽपि 'स्वभावेन' प्रकृत्या लोकानुमतास्ते च पौण्डरीका इव प्रधाना भवन्ति। मनुष्यगतौ प्रधाना विष्करणायाह—'अरिहंते'त्यादि। सर्वातिशायिनीं पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः, ते निरुपमरूपादिगुणोपेताः। तथा चक्रवर्तिनः षट्खण्डभरतेश्वराः। तथा चारणश्रमणा बहुविधाश्चर्यभूतलब्धिकलापोपेता महातपस्विनः। तथा विद्याधरा वैताढ्यपुराधिपतयः। तथा दशारा हरिवंशकुलोद्भवाः। अस्य चोपलक्षणार्थत्वादन्येऽपीक्ष्वाकादयः परिगृह्यन्ते, एतदेव दर्शयति—ये चान्ये महर्धिमन्तो महेभ्याः कोटीश्वरास्ते सर्वेऽपि पौण्डरीका भवन्ति, तुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात्, ये चान्ये विद्याकलाकलापोपेतास्ते पौण्डरीका इति। साम्प्रतं देवगतौ प्रधानस्य पौण्डरीकत्वं प्रतिपादयन्नाह—'भवणे'त्यादि। भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां चतुर्णां देवनिकायानां मध्ये ये प्रवराः—प्रधाना इन्द्रेन्द्रसामानिकादयस्ते प्रधाना इतिकृत्वा पौण्डरीकाभिधाना भवन्ति। साम्प्रतमचित्तद्रव्याणां यत्प्रधानं तस्य पौण्डरीकत्वप्रतिपादनायाह—'कंसाणं'मित्यादि। कांस्यानां मध्ये जयघण्टादीनि, दूष्याणां चीनांशुकादीनि, मणीनामिन्द्रनीलवैडूर्यपद्मरागादीनि रत्नानि, मौक्तिकानां यानि वर्णसंस्थानप्रमाणाधिकानि। तथा शिलानां मध्ये पाण्डुकम्बलादयः शिलास्तीर्थकृज्जन्माभिषेकसिंहासनाधारा। तथा प्रवालानां यानि वर्णादिगुणोपेतानि, आदिग्रहणाज्जात्यचामीकरं तद्विकाराश्चाभरणविशेषाः परिगृह्यन्ते; तदेवमनन्तरोक्तानि कांस्यादीनि यानि प्रवराणि तान्यपि पौण्डरीकाण्यभिधीयन्त इति। मिश्रद्रव्यपौण्डरीकं तु तीर्थकृच्चक्रवर्त्यादय एव प्रधानकटककेयूराद्यलङ्का-

१ कंसाण च।

रालङ्कृता इति । द्रव्यपौण्डरीकान्तरं क्षेत्रपौण्डरीकाभिधित्सयाऽऽह–'खित्तानी'त्यादि । यानि कानिचिदिह देवकुर्वादीनि शुभानुभावानि क्षेत्राणि तानि प्रवराणि पौण्डरीकाभिधानानि भवन्ति । साम्प्रतं कालपौण्डरीकप्रतिपादनायाह–'जीवा'इत्यादि । 'जीवाः' प्राणिनो भवस्थित्या कायस्थित्या च ये प्रवराः प्रधानास्ते पौण्डरिका भवन्ति । शेषास्त्वप्रधानाः कण्डरीका इति । तत्र भवस्थित्या देवा अनुत्तरोपपातिकाः प्रधाना भवन्ति, तेषां यावद्भवं शुभानुभावत्वात्, कायस्थित्या तु मनुष्याः शुभकर्मसमाचाराः सप्ताष्टभवग्रहणानि मनुष्येषु पूर्वकोट्यायुष्केष्वनुपरिवर्त्यानन्तरभवे त्रिपल्योपमायुष्केषूत्पादमनुभूय ततो देवेषूत्पद्यन्त इतिकृत्वा ततस्ते कायस्थित्या पौण्डरीका भवन्ति, अवशिष्टास्तु कण्डरीका इति । कालपौण्डरीकानन्तरं गणनासंस्थानपौण्डरीकद्वयप्रतिपादनायाह–'गणणाए'इत्यादि । गणनया–सङ्ख्यया पौण्डरीकं, चिन्त्यमानं दशप्रकारस्य गणितस्य मध्ये 'रज्जु' रज्जुगणितं प्रधानत्वात् पौण्डरीकम् । दशप्रकारं तु गणितमिदं–"परिकम्म १ रज्जु २ रासी ३ ववहारे ४ तह कलासवण्णे ५ य । पुग्गल ६ जावं तावं ७ घणे य ८ घणवग्ग ९ वग्गे य १०"॥१॥ षण्णां संस्थानानां मध्ये समचतुरस्रं संस्थानं प्रवरत्वात् पौण्डरीकमित्येवमेते द्वे अपि पौण्डरीके, शेषाणि तु परिकर्मादीनि गणितानि न्यग्रोधपरिमण्डलादीनि च संस्थानानि; 'इतराणि' कण्डरीकान्यप्रवराणि भवन्तीति यावत् । साम्प्रतं भावपौण्डरीकप्रतिपादनाभिधित्सयाऽऽह–'ओदईए'इत्यादि । औदयिके भावे तथौपशमिके क्षायिके क्षायोपशमिके पारिणामिके सान्निपातिके च भावे चिन्त्यमाने तेषु तेषां वा

१ परिकर्म रज्जु राशि व्यवहारस्तथा कलासवर्णश्च । पुद्गलाः यावत्तावत् भवन्ति घन घनमूलं वर्ग वर्गमूल ॥ १ ॥

मध्ये ये 'प्रवराः' प्रधानाः 'तेऽपि' औदयिकादयो भावाः 'त एव' पौण्डरीका एवावगन्तव्याः। तथौदयिके भावे तीर्थकरा अनुत्तरोपपातिकसुरास्तथाऽन्येऽपि सितशतपत्रादयः पौण्डरीकाः, औपशमिके समस्तोपशान्तमोहाः, क्षायिके केवलज्ञानिनः, क्षायोपशमिके विपुलमतिचतुर्दशपूर्वविपरमावधयो व्यस्ताः समस्ता वा, पारिणामिके भावे भव्याः, सान्निपातिके भावे द्विकादिसंयोगाः सिद्धादिषु स्वबुद्ध्या पौण्डरीकत्वेन योजनीया'; शेषास्तु कण्डरीका इति। साम्प्रतमन्यथा भावपौण्डरीकप्रतिपादनायाह–'अहवावी'त्यादि। अथवापि भावपौण्डरीकमिदं, तद्यथा—सम्यग्ज्ञाने तथा सम्यग्दर्शने सम्यक्चारित्रे ज्ञानादिके विनये तथा 'अध्यात्मनि'च धर्मध्यानादिके ये 'प्रवराः'–श्रेष्ठा मुनयो भवन्ति ते पौण्डरीकत्वेनावगन्तव्यास्ततोऽन्ये कण्डरीका इति। तदत्र सम्भविनमष्टधा पौण्डरीकस्य निक्षेपं प्रदर्श्याधुना येनाधिकारस्तमाविर्भावयन्नाह—'एत्थ'मित्यादि। 'अत्र' पुनर्दृष्टान्तप्रस्तावे 'अधिकारो' व्यापारः सचित्ततिर्यग्योनिकैकेन्द्रियवनस्पतिकायद्रव्यपौण्डरीकेण जलरुहेण, यदि वा औदयिकभाववर्तिना वनस्पतिकायपौण्डरीकेण सितशतपत्रेण, तथा भावे 'श्रमणेन च' सम्यग्दर्शनचारित्रविनयाध्यात्मवर्तिना सत्साधुनाऽस्मिन्नध्ययने पौण्डरीकाख्येऽधिकार इति। गता निक्षेपनिर्युक्तिः। अधुना सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तेरवसरः, सा च सूत्रे सति भवति। सूत्रं च सूत्रानुगमे, स चावसरप्राप्तोऽतोऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

सुयं मे आउसंतेण भगवया एवमक्खायं–इह खलु पोंडरीए णामज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते–से जहा णामए पुक्खरिणी सिया बहुउदगा बहुसेया बहुपुक्खला लद्धट्ठा पुंडरिकिणी

पासादिया दरिसणिया अभिरूवा पडिरूवा, तीसे णं पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं
बहवे पउमवरपोंडरीया वुइया, अणुपुव्वुट्ठिया ऊसिया रुइला वण्णमंता गंधमंता रसमंता फास-
मंता पासादिया दरिसणिया अभिरूवा पडिरूवा, तीसे णं पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए एगे महं
पउमवरपोंडरीया वुइया, अणुपुव्वुट्ठिया ऊसिया रुइला वण्णमंता गंधमंता रसमंता फासमंता ९
पासादिया दरिसणिया अभिरूवा पडिरूवा, तीसेणं पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए एगे महं
पउमवरपोंडरीए वुईए, अणुपुव्वुट्ठिए उस्सिते रुइले वन्नमंते गंधमंते रसमंते फासमंते पासादीए
जाव पडिरूवे। सव्वावंति च णं तीसे पुक्करिणीए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे पउम-
वरपोंडरीया वुइया अणुपुव्वुट्ठिया ऊसिया रुइला जाव पडिरूवा, सव्वावंति च णं तीसे णं
पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए एगं महं पउमवरपोंडरीए वुइए अणुपुव्वुट्ठिए जाव पडिरूवे १०
॥ सूत्रम्-१ ॥ अह पुरिसे पुरित्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणीं तीसे पुक्खरिणीए तीरे
ठिचा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं ऊसियं जाव पडिरूवं। तए णं से पुरिसे
एवं वयासी-अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिते वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ
मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामित्तिकट्टु इति बुया से पुरिसे
अभिक्कमेति तं पुक्खरिणीं, जावं जावं च णं अभिक्कमेइ तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए

पईीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि निसण्णे पढम पुरिसजाए ॥ सुत्तम्-२ ॥ अहावरे दोच्चे पुरिसजाए, अह पुरिसे दक्खिणाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं पासादीयं जाव पडिरूवं तं च एत्थ एगं पुरिसजातं पासति पहीणतीरं अपत्तपउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसण्णं, तए णं से पुरिसे तं पुरिसं एवं वयासी–अहो णं इमे पुरिसे असेयन्ने अकुसले अपंडिए अवियत्ते अमेहावी बाले णो मग्गत्थे णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू जन्नं एस पुरिसे, अहं खेयन्ने कुसले जाव पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि, णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एस पुरिसे मन्ने, अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गति परक्कमण्णू अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामित्तिकट्टु इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं, जाव जावं च णं अभिक्कमेइ ताव तावं च णं महंते उदए महंते सेए पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने दोच्चे पुरिसजाते ॥ सुत्तम्-३ ॥ अहावरे तच्चे पुरिसजाते, अह पुरिसे पच्चत्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरं ठिच्चा पासति तं एगं महं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं

जाव पडिरूवं, ते तत्थ दोन्नि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए जाव सेयंसि णिसन्ने, तए णं से पुरिसे एवं वयासी–अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना अकुसला अपंडिया अवियत्ता अमेहावी वाला णो मग्गत्था णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, जं णं एते पुरिसा एवं मन्ने–अम्हे ए तं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामो, नो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेतव्वं जहा णं एए पुरिसा मन्ने, अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमणू अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामित्तिकट्टु इति वुच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं जावं जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए जाव अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने, तच्चे पुरिसजाए ॥ (सूत्रम्–४)॥ अहावरे चउत्थे पुरिसजाए, अह पुरिसे उत्तराओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं जाव पडिरूवं, ते तत्थ तिन्नि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं अपत्ते जाव सेयंसि णिसन्ने, तए णं से पुरिसे एवं वयासी–अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू जण्णं एते पुरिसा एवं मन्ने–अम्हे एतं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एते पुरिसा मन्ने, अहमंसि

पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि निसण्णे पढम पुरिसजाए।॥ सूत्रम्-२॥ अहावरे दोच्चे पुरिसजाए, अह पुरिसे दक्खिणाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं पासादीयं जाव पडिरूवं तं च एत्थ एगं पुरिसजातं पासति पहीणतीरं अपत्तपउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्नं, तए णं से पुरिसे तं पुरिसं एवं वयासी-अहो णं इमे पुरिसे अखेयन्ने अकुसले अपंडिए अवियत्ते अमेहावी बाले णो मग्गत्थे णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू जन्नं एस पुरिसे, अहं खेयन्ने कुसले जाव पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि, णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एस पुरिसे मन्ने, अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गति परक्कमण्णू अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामित्तिकट्टु इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं १०
पुक्खरिणिं, जाव जावं च णं अभिक्कमेइ ताव तावं च णं महंते उदए महंते सेए पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने दोच्चे पुरिसजाते॥ सूत्रम्-३॥ अहावरे तच्चे पुरिसजाते, अह पुरिसे पच्चत्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं एगं महं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं

यद्भगवताऽऽख्यातं मया च श्रुतं तद्बुध्येतेत्यादिकं, किं तद्भगवताऽऽख्यातमित्याह–'इह' प्रवचने, सूत्रकृद्वितीयश्रुतस्कन्धे वा; खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे। पौण्डरीकाभिधानमध्ययनं पौण्डरीकेण–सितशतपत्रेणात्रोपमा भविष्यतीतिकृत्वा, अतोऽस्याध्ययनस्य पौण्डरीकमिति नाम कृतं; तस्य चायमर्थः। णमिति वाक्यालङ्कारे, 'प्रज्ञप्तः' प्ररूपितः, 'सेजह'त्ति तद्यथार्थः, स च वाक्योपन्यासार्थः, नामशब्दः सम्भावनायां, सम्भाव्यते पुष्करिणीदृष्टान्तः; पुष्कराणि–पद्मानि तानि विद्यन्ते यस्यामसौ पुष्करिणी 'स्याद्' भवेदेवम्भूता, तद्यथा–'बहु' प्रचुरमगाधमुदकं यस्यां सा बहूदका, तथा बहुः–प्रचुरः सीयन्ते–अवबध्यन्ते यस्मिन्नसौ सेयः–कर्दमः स यस्यां सा बहुसेया–प्रचुरकर्दमा बहुश्वेतपद्मसद्भावात् स्वच्छोदकसंभवाच्च बहुश्वेता वा, तथा 'बहुपुष्कला' बहुसंपूर्णा–प्रचुरोदकभृतेत्यर्थः। तथा लब्धः–प्राप्तः पुष्करिणीशब्दान्वर्थतयाऽर्थो यया सा लब्धार्था, अथवाऽऽस्थानमास्था–प्रतिष्ठा सा लब्धा यया सा लब्धास्था, तथा पौण्डरीकाणि–श्वेतशतपत्राणि विद्यन्ते यस्यां सा पौण्डरीकिणी, प्रचुरार्थे मत्वर्थीयोत्पत्तेर्बहुपद्मेत्यर्थः। तथा प्रसादः–प्रसन्नता निर्मलजलता सा विद्यते यस्याः सा प्रसादिका प्रासादा वा–देवकुलसन्निवेशास्ते विद्यन्ते यस्यां समन्ततः सा प्रासादिका, दर्शनीया शोभना सत्संनिवेशतो वा द्रष्टव्या दर्शनयोग्या, तथाऽऽभिमुख्येन सदाऽवस्थितानि रूपाणि–राजहंसचक्रवाकसारसादीनि गजमहिषमृगयूथादीनि वा जलान्तर्गतानि करिमकरादीनि वा यस्यां साऽभिरूपेति, तथा प्रतिरूपाणि–प्रतिबिम्बानि विद्यन्ते यस्यां सा

सा० १ पुष्कलस्तु पूर्णे श्रेष्ठे इत्यनेकार्थेक्ति., बहुर्वाऽत्र प्रत्यय ।,

पुरिसे खेयन्ने जाव मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामित्तिकट्टु इति वुच्चा से पुरिसे तं पुक्खरिणिं जावं जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए जाव विसण्णे, चउत्थे पुरिसजाए ॥ (सूत्रम्-५) ॥ अह भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयन्ने जाव गतिपरक्कमण्णू अन्नतराओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगम्म तं पुक्खरिणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं जाव पडिरूवं, ते तत्थ चत्तारि पुरिसजाए पासति पहीणे तीरं अपत्ते जाव पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए अंतरा पुक्खरिणीए सेयंसि णिसण्णे, तए णं से भिक्खू एवं वयासी–अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, जं एते पुरिसा एवं मन्ने अम्हे एयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो, णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेतव्वं जहा णं एते पुरिसा मन्ने, अहमंसि भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयन्ने जाव मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामित्तिकट्टु इति वुच्चा से भिक्खू णो अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा सद्दं कुज्जा—उप्पयाहि खलु भो पउमवरपोंडरीया! उप्पयाहि, अह से उप्पतिते पउमवरपोंडरीए ॥ (सूत्रम्–६) ॥

अस्य चानन्तरसूत्रेण सह सम्बन्धो वाच्यः। स चायं–'से एवमेव जाणह जमहं भयंतारो'त्ति यदेतदेव जानीत मयास्य आकारः!, तद्यथा—श्रुतं मयाऽऽयुष्मता भगवतैवमाख्यातम्, आदिसूत्रेण च सह सम्बन्धोऽयं, तद्यथा–

यद्भगवताऽऽख्यातं मया च श्रुतं तद्बुध्येतेत्यादिकं, किं तद्भगवताऽऽख्यातमित्याह–'इह' प्रवचने, सूत्रकृद्वितीयश्रुतस्कन्धे वा; खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे। पौण्डरीकाभिधानमध्ययनं पौण्डरीकेण–सितशतपत्रेणात्रोपमा भविष्यतीतिकृत्वा, अतोऽस्याध्ययनस्य पौण्डरीकमिति नाम कृतं; तस्य चायमर्थः। णमिति वाक्यालङ्कारे, 'प्रज्ञप्तः' प्ररूपितः, 'सेजह'त्ति तद्यथार्थः, स च वाक्योपन्यासार्थः, नामशब्दः सम्भावनायां, सम्भाव्यते पुष्करिणीदृष्टान्तः; पुष्कराणि–पद्मानि तानि विद्यन्ते यस्यामसौ पुष्करिणी 'स्याद्' भवेदेवम्भूता, तद्यथा–'बहु' प्रचुरमगाधमुदकं यस्यां सा बहूदका, तथा बहुः–प्रचुरः सीयन्ते–अवबध्यन्ते यस्मिन्नसौ सेयः–कर्दमः स यस्यां सा बहुसेया–प्रचुरकर्दमा बहुश्वेतपद्मसद्भावात् स्वच्छोदकसंभवाच्च बहुश्वेता वा, तथा 'बहुपुष्कला'[1] बहुसंपूर्णा–प्रचुरोदकभृतेत्यर्थः। तथा लब्धः–प्राप्तः पुष्करिणीशब्दान्वर्थतयाऽर्थो यया सा लब्धार्था, अथवाऽऽस्थानमास्था–प्रतिष्ठा सा लब्धा यया सा लब्धास्था, तथा पौण्डरीकाणि–श्वेतशतपत्राणि विद्यन्ते यस्यां सा पौण्डरीकिणी, प्रचुरार्थे मत्वर्थीयोत्पत्तेर्बहुपद्मेत्यर्थः। तथा प्रसादः–प्रसन्नता निर्मलजलता सा विद्यते यस्याः सा प्रसादिका प्रासादा वा–देवकुलसन्निवेशास्ते विद्यन्ते यस्यां समन्ततः सा प्रासादिका, दर्शनीया शोभना सत्संनिवेशतो वा द्रष्टव्या दर्शनयोग्या, तथाऽऽभिमुख्येन सदाऽवस्थितानि रूपाणि–राजहंसचक्रवाकसारसादीनि गजमहिषमृगयूथादीनि वा जलान्तर्गतानि करिमकरादीनि वा यस्यां साऽभिरूपेति, तथा प्रतिरूपाणि–प्रतिबिम्बानि विद्यन्ते यस्यां सा

सा० 1 पुष्कलस्तु पूर्णे श्रेष्ठे इत्यनेकार्थोक्ति, बहुर्वाऽत्र प्रत्यय ।,

प्रतिरूपा, एतदुक्तं भवति—स्वच्छत्वात्तस्याः सर्वत्र प्रतिबिम्बानि समुपलभ्यन्ते, तदतिशयरूपतया वा लोकेन तस्यामपि बिम्बानि क्रियन्ते (इति) सा प्रतिरूपेति, यदि वा—'पासादीया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूव'त्ति पर्याया इत्येते चत्वारोऽप्यतिशयरमणीयत्वख्यापनार्थमुपात्ताः। तस्याश्च पुष्करिण्याः, णमिति वाक्यालङ्कारे, 'तत्र तत्रे'—त्यनेन वीप्सापदेन पौण्डरीकैर्व्यापकत्वमाह;—'देशे देशे' इत्यनेन त्वेकैकप्रदेशे प्राचुर्यमाह, 'तस्मिंस्तस्मिन्नि'—त्यनेन तु नास्त्येवासौ पुष्करिण्याः प्रदेशो यत्र तानि न सन्तीति, यदि वा—'देशे देशे' इत्येतत्त्रयमेकमभिसम्बध्यते 'तत्र तत्रे'ति कोऽर्थः ?,—देशे देशे तस्मिंस्तस्मिन्निति च कोऽर्थः ?, देशैकदेश इति, यदि वा—अत्यादरख्यापनार्थमर्थान्येवैतानि त्रीण्यपि पदानि, तेषु च पुष्करिण्याः सर्वप्रदेशेषु बहूनि—प्रचुराणि पद्मान्येव 'वराणि' श्रेष्ठानि पौण्डरीकाणि पद्मवरपौण्डरीकाणि, पद्मग्रहणं छत्र्याद्यव्यवच्छेदार्थं, पौण्डरीकग्रहणं श्वेतशतपत्रप्रतिपत्त्यर्थं वरग्रहणं पद्मप्रधानत्वख्यापनार्थं, तदेवम्भूतानि बहूनि पद्मवरपौण्डरीकाणि 'बुइय'त्ति उक्तानि—प्रतिपादितानि विद्यन्ते इत्यर्थः। 'आनुपूर्व्येण' विशिष्टरचनया स्थितानि, समुच्छ्रितानि पङ्कजले अतिलङ्घ्योपरि व्यवस्थितानि, तथा 'रुचिल' दीप्तिस्तां लान्ति—आददति रुचिलानि—सदीप्तिमन्ति, तथा शोभनवर्णगन्धरसस्पर्शवन्ति, तथा प्रासादीयानि—दर्शनीयानि अभिरूपाणि प्रतिरूपाणि। तस्याश्च पुष्करिण्याः सर्वतः पद्मावृतायाः, णमिति वाक्यालङ्कारे, 'बहुदेशमध्यभागे' निरुपचरितमध्यदेशे एकं महत्पद्मवरपौण्डरीकमुक्तमानुपूर्व्येण व्यवस्थितमुच्छ्रितं रुचिलं वर्णगन्धरसस्पर्शवत् तथा प्रासादीयं दर्शनीयं अभिरूपतरं प्रतिरूप[तर]मिति। साम्प्रतमेतदेवानन्तरोक्तं समस्तं 'सव्वावंति च णं तीं'—त्यनेन विशिष्टमपरं सूत्रद्वयं द्रष्टव्यम्, अस्यायमर्थः—'सव्वावंति'त्ति सर्वस्या अपि तस्याः पुष्करिण्याः

मर्वप्रदेशेषु यथोक्तविशेषणविशिष्टानि बहूनि पद्मानि, तथा सर्वस्याश्च तस्या बहुमध्यदेशभागे यथोक्तविशेषणविशिष्टं महदेकं पौण्डकरीकं विद्यत इति, उभयत्रापि चः समुच्चये, णमिति वाक्यालङ्कारे इति ॥ १ ॥ 'अथ' अनन्तरमेवम्भूतपुष्करिण्याः पूर्वस्या दिशः कश्चिदेकः पुरुषः समागत्य तां पुष्करिणीं तस्याश्च 'तीरे' तटे स्थित्वा तदेतपद्म ग्रामार्शीयादिप्रतिरूपान्तविशेषणकलापोपेतं स पुरुषः पूर्वदिग्भागव्यवस्थितः 'एव'मिति वक्ष्यमाणनीत्या 'वदेत्' ब्रूयात्—'अहमंसि'त्ति अहमस्मि पुरुषः, किम्भूतः ?–'कुशलो' हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्तिनिपुणः, तथा पापाड्डीनः पण्डितो धर्मज्ञो देशकालज्ञः क्षेत्रज्ञो 'व्यक्तो' बालभावान्निष्क्रान्तः परिणतबुद्धिः 'मेधावी' प्लवनोत्प्लवनयोरुपायज्ञः, तथा 'अबालो' मध्यमवयाः षोडशवर्षोपरिवर्ती 'मार्गस्थः' सद्भिराचीर्णमार्गव्यवस्थितः तथा सन्मार्गज्ञः, तथा मार्गस्य या गतिर्गमनं वर्तते तया यत्पराक्रमणं–विवक्षितदेशगमनं तज्जानातीति पराक्रमज्ञः, यदि वा पराक्रमः–सामर्थ्यं तज्ज्ञोऽहमात्मज्ञ इत्यर्थः, तदेवम्भूतविशेषणकलापोपेतोऽहम् 'एतत्' पूर्वोक्तविशेषणकलापोपेतं पद्मवरपौण्डरीकं पुष्करिणीमध्यदेशावस्थितमहमुत्क्षेप्स्यामीतिकृत्वेहागतः 'इति' एतत्पूर्वोक्तं तत् प्रतीत्योक्त्वाऽसौ पुरुषस्तां पुष्करिणीमभिमुखं क्रामेत्–अभिक्रामेत् तदभिमुखं गच्छेत्, यावद्यावच्चासौ तदवतरणाभिप्रायेणाभिमुखं क्रामेत्तावत्तावच्च णमिति वाक्यालङ्कारे तस्याः पुष्करिण्या महदगाधमुदकं तथा महांश्च 'सेयः' कर्दमः, ततोऽसौ महाकर्दमोदकाभ्यामाकुलीभूतः प्रहीणः–सद्विवेकेन रहितस्त्यक्त्वा तीरं सुब्व्यत्ययाद्वा तीरात् प्रहीणः–प्रभ्रष्टः अप्राप्तश्च विवक्षितं पद्मवरपौण्डरीकं तस्याः पुष्करिण्यास्तस्यां वा यः सेयः–कर्दमस्तस्मिन्नि-

पङ्को-निमग्न आत्मानमुद्धर्तुमसमर्थः, तस्माच्च तीरादपि प्रभ्रष्टः, ततस्तीरपद्मयोरन्तराल एवावतिष्ठते, यत एव मतः 'नो हव्वाए'त्ति नार्वाक्तटवर्त्त्यसौ भवति । 'नो पाराए'त्ति नापि विवक्षितप्रदेशप्राप्त्या पारगमनाय वा समर्थो भवति । एवमसावुभयभ्रष्टो मुक्तकच्छकोलीवदनर्थायैव प्रभवतीत्ययं प्रथमः पुरुषः, पुरुष एव पुरुषजातः-पुरुषजातीय इति ॥२॥ 'अथ' प्रथमपुरुषादनन्तरम् 'अपरो' द्वितीयः पुरुषजातः-पुरुष इति । अथवेति वाक्योपन्यासार्थे, अथ-कश्चित्पुरुषो दक्षिणदिग्भागादागत्य तां पुष्करिणीं तस्याश्च पुष्करिण्यास्तीरे स्थित्वा तत्रस्थश्च पश्यति महदेकं पद्मवरपौण्डरीकमानुपूर्व्येण व्यवस्थितं प्रासादीयं यावत्प्रतिरूपम् 'अत्र च' अस्मिंश्च तीरे व्यवस्थितः, तं च पूर्वव्यवस्थितमेकं पुरुषं पश्यति, किम्भूतं?-तीरात् परिभ्रष्टमनवाप्तपद्मवरपौण्डरीकमुभयभ्रष्टमन्तराल एवावसीदन्तं, दृष्ट्वा च तमेवम्भूतं पुरुषं ततोऽसौ द्वितीयः पुरुषः तं प्राक्तनं पुरुषमेवं वदेत्-'अहो' इति खेदे, सर्वत्र णमिति वाक्यालङ्कारे द्रष्टव्यो, योऽयं कर्दमे निमग्नः पुरुषः सोऽखेदज्ञोऽकुशलोऽपण्डितोऽव्यक्तोऽमेधावी बालो न मार्गस्थो नो मार्गज्ञो नो मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञः, अकुशलत्वादिके कारणमाह-'यत्' यस्मादेष पुरुष एवमुक्तवान्, तद्यथा-अहं खेदज्ञः कुशल इत्यादि भणित्वा पद्मवरपौण्डरीकमुत्क्षेप्स्यामीत्येवं प्रतिज्ञातवान्, न चैतत्पद्मवरपौण्डरीकम् 'एवम्' अनेन प्रकारेण यथाऽनेनोत्क्षेप्तुमारब्धमेवमुत्क्षेप्तव्यं यथाऽयं पुरुषो मन्यत इति । ततोऽहमेतस्योत्क्षेपणे कुशल इति दर्शयितुमाह—'अहमंसी'त्यादि जाव दोच्चे पुरिसजाए'त्ति, सुगमम् ॥३॥

सा० १ पदेर्द्विकर्मकत्वादस्य प्रस्तुतेऽपि वाक्यस्य कर्मणि द्वितीयाऽप्राप्ति यथामिमाहिता भाष्या निर्देशोऽप्यत्रैव न दोषाय ।

तृतीयं पुरुषजातमधिकृत्याह—' अहावरे तच्चे' इत्यादि सुगमं, यावच्चतुर्थः पुरुषजात इति ॥ ४-५ ॥ साम्प्रतमपरं पञ्चमं तद्विलक्षणं पुरुषजातमधिकृत्याह—'अथे'त्यानन्तर्ये। चतुर्थपुरुषादयमनन्तरः पुरुषः, तस्यामूनि विशेषणानि—भिक्षणशीलो भिक्षुः-पचनपाचनादिसावद्यानुष्ठानरहिततया निर्दोषाहारभोजी; तथा 'रूक्षो' रागद्वेषरहितः, तौ हि कर्मबन्धहेतुतया स्निग्धौ, यथा हि स्नेहाभावाद्रजो न लगति तथा रागद्वेषाभावात् कर्मरेणुर्न लगति, अतस्तद्रहितो रूक्ष इत्युच्यते; तथा-संसारसागरस्य तीरार्थी, तथा क्षेत्रज्ञः खेदज्ञो वा, पूर्वं व्याख्यातान्येव विशेषणानि, यावन्मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञः, स चान्यतरस्या दिशोऽनुदिशो वाऽऽगत्य तां पुष्करिणीं तस्याश्च तीरे स्थित्वा समन्तादवलोकयन् बहुमध्यदेशभागे तन्महदेकं पद्मवरपौण्डरीकं पश्यति, तांश्च चतुरः पुरुषान् पश्यति, यत्र च व्यवस्थितानिति, किम्भूतान्?,-त्यक्ततीरान् अप्राप्तपद्मवरपुण्डरीकान् पङ्कजलावमग्नान् पुनस्तीरमप्यागन्तुमसमर्थान्, दृष्ट्वा च तांस्तदवस्थान् ततोऽसौ भिक्षुः 'एव'मिति वक्ष्यमाणनीत्या वदेत्। तद्यथा-अहो इति खेदे, णमिति वाक्यालङ्कारे, इमे पुरुषाश्चत्वारोऽपि अखेदज्ञा यावन्नो मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञाः, यस्मात्ते पुरुषा एवं ज्ञातवन्तो यथा वयं पद्मवरपौण्डरीकमुन्निक्षेप्स्यामः-उत्खनिष्यामो, न च खलु तत् पौण्डरीकमेवम्-अनेन प्रकारेण यथैते मन्यन्ते तथोत्क्षेप्तव्यम्। अपि त्वहमस्मि भिक्षू रूक्षो यावद्गतिपराक्रमज्ञः, एतद्गुणविशिष्टोऽहमेतत्पौण्डरीकमुत्क्षेप्स्यामि-उत्खनिष्यामि-समुद्धरिष्यामीत्येवमुक्त्वाऽसौ 'नाभिक्रामेत्' तां पुष्करिणीं न प्रविशेत्, तत्रस्थ एव यत्कुर्यात्तद्दर्शयति-तस्यास्तीरे स्थित्वा तथाविधं शब्दं कुर्यात्, तद्यथा-ऊर्ध्वमुत्पतोत्पत,

सलुक्म्वो पास्पाळ्हारे। हे पद्मवरपौण्डरीक ! तस्याः पुष्करिण्या मध्यदेशात् एवमुत्पतोत्पत, 'अथ' तच्छब्द भवपादनन्तरं तदुत्पतितमिति ॥ ६ ॥ तदेव दृष्टान्त प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिक दर्शयितुकामः श्रीमन्महावीरवर्धमान स्वामी स्वशिष्यनाह—

किट्टिए नाए समणाउसो !, अट्ठे पुण से जाणितव्वे भवति भतेत्ति। समण भगव महावीर निग्गथा य निग्गंथीओ य वदति, नमसति; वदेत्ता, नमसित्ता; एव वयासि-किट्टिए नाए समणा उसो !, अट्ठे पुण से ण जाणामो समणाउसोत्ति, समणे भगव महावीरे ते य बहवे निग्गंथे य निग्गथीओ आमतेत्ता एव वयासी-हंत समणाउसो !, आइक्खामि विभावेमि किट्टेमि पवेदेमि सअट्ठ सहेउ सनिमित्त भुज्जो भुज्जो उवदसेमि से बेमि ॥ (सूत्रम्—७) ॥

'कीर्तिते'—कथिते-प्रतिपादिते मयाऽस्मिन् 'ज्ञाते'—उदाहरणे, हे श्रमणा ! आयुष्मन्तोऽर्थः पुनरस्य ज्ञातव्यो भवति भवद्भिः, एवमुक्त भवति—नास्योदाहरणस्य परमार्थं यूयं जानीथ, एवमुक्ते(क्ता) भगवता त बहवो निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च तं श्रमणं भगवन्तं महावीरं ते निर्ग्रन्थादयो वन्दन्ते कायेन नमस्यन्ति—सद्भूतैः स्तु वन्ति वन्दित्वा नमस्यित्वा चैव—वक्ष्यमाण वदेयुः, तद्यथा—'कीर्तित'—प्रतिपादित, 'ज्ञातम्'—उदाहरण भगवता, अर्थं पुनरस्य न सम्यक् जानीम इत्येवं पृष्टो भगवान् श्रमणो महावीरस्ताभिर्ग्रन्थादीनेवं वदेत्—'हन्ते'ति संप्रेषणे, हे श्रमणा आयुष्मन्तो ! यद्भवद्भिरह पृष्टस्तस्योपपत्तिक्रमाख्यामि भवतां, तथा 'विभावयामि'—

आविर्भावयामि–प्रकटार्थं करोमि, तथा ‘ कीर्तयामि ’ पर्यायकथनद्वारेणेति, तथा ‘ प्रवेदयामि ’ प्रकर्षेण
हेतुदृष्टान्तैश्चित्तसंततावारोपयामि, अथवैकार्थिकानि चैतानि । कथं प्रतिपादयामीति दर्शयति–सहार्थेन–दार्ष्टा-
न्तिकार्थेन वर्तत इति सार्थः पुष्करिणीदृष्टान्तस्तं, तथा सह हेतुना–अन्वयव्यतिरेकरूपेण वर्तत इति सहेतुस्त
तथाभूतमर्थं प्रतिपादयिष्यामि यथा ते पुरुषा अप्राप्तप्रार्थितार्थाः पुष्करिणीकर्दमे दुरुत्तारे निमग्ना एवं वक्ष्य-
माणास्तीर्थिका अपारगाः संसारसागरस्य तत्रैव निमज्जन्तीत्येवंरूपोऽर्थः सोपपत्तिकः प्रदर्शयिष्यते, तथा सह ९
निमित्तेन–उपादानकारणेन सहकारिकारणेन वा वर्तत इति सनिमित्तं–सकारणं दृष्टान्तार्थं भूयो भूयोऽपरैरपरैर्हेतु-
दृष्टान्तैरुपदर्शयामि सोऽहं साम्प्रतमेव ब्रवीमि शृणुत यूयमिति ॥ ७ ॥ तदधुना भगवान् पूर्वोक्तस्य दृष्टान्तस्य
यथास्वं दार्ष्टान्तिकं दर्शयितुमाह—

लोयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! पुक्खरिणी वुइया, कम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु
समणाउसो ! से उदए वुइए, कामभोगे य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सेए वुइए, १०
जणजाणवयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते बहवे पउमवरपोंडरीए वुइए, रायाणं च
खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एगे महं पउमवरपोंडरीए वुइए, अन्नउत्थिया य खलु मए
अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते चत्तारि पुरिसजाया वुइया, धम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो !
से भिक्खू वुइए, धम्मतित्थं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से तीरे वुइए, धम्मकहं च खलु

मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सवे बुइए, निव्वाण च खलु मए अपाहट्टु समणाउसो ! से उप्पाए बुइए, एवमेय च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एवमेय बुइयम् ॥ (सूत्रम्–८)॥

लोकमिति मनुष्यक्षेत्रं, चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः, खल्विति वाक्यालङ्कारे; मयेत्यात्मनिर्देशः। योऽयं लोके मनुष्याधारस्तमात्मनि 'आहृत्य'–व्यवस्थाप्य–अपाहृत्य वा। हे आयुष्मन् ! श्रमण आत्मना वा–मयाऽऽहृत्य न परोपदेशतः, सा पुष्करिणी यथाधारभूतोक्ता, तथा कर्म चाष्टप्रकारं, यद्बलेन पुण्डरीकाणि भवन्ति तदेवंभूतं कर्म मयाऽऽत्मन्याहृत्य आत्मना वा आहृत्य अपाहृत्य वा, एतदुक्तं भवति—हे श्रमण ! आयुष्मन् सर्वावस्थानां निमित्तभूतं कर्माश्रित्य तदुदकं दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तं, कर्म चात्र दार्ष्टान्तिकं भविष्यति, तत्रेच्छा मदनकामाः शब्दादयो विषयास्ते एव भुज्यन्त इति भोगाः। यदि वा कामा—इच्छारूपा मदनकामास्तु भोगास्तान् मयाऽऽत्मन्याहृत्य 'सेयः'–कर्दमोऽभिहितः, यथा भवति पङ्के निमग्नो दुःखेनात्मानमुद्धरत्येवं विषयेष्वासक्तो नात्मानमुद्धर्तुमलमित्येतत्कर्दमविषययोः साम्यमिति। तथा 'जन' सामान्येन लोकः, तथा जनपदे भवा जानपदा विशिष्टार्यदेशोत्पन्ना गृह्यन्ते, ते चार्द्धपर्विंशतिजनपदोत्पन्ना इति, तांश्च समाश्रित्य मया दार्ष्टान्तिकत्वेनाङ्गीकृत्य तानि बहूनि पद्मवरपौण्डरीकाणि दृष्टान्तत्वेनाभिहितानि, तथा राजानमात्मन्याहृत्य तदेकं पद्मवरपौण्डरीकं दृष्टान्तत्वेनाभिहितं, तथाऽन्यतीर्थिकान् समाश्रित्य ते चत्वारः पुरुषजाता अभिहिताः, तेषां तत्पौण्डरीकोद्धरणे सामर्थ्यवैकल्यात्। तथा धर्मं च तत्त्वात्मन्याहृत्य श्रमणायुष्मन् ! स भिक्षुः स्थानपरमभिहितः,

तस्यैव चक्रवर्त्यादिराजपद्मवरपौण्डरीकोद्धरणे सामर्थ्यसद्भावात्, धर्मतीर्थं च खल्वाश्रित्य मया तत्तीरमुक्तं, तथा
सद्धर्मदेशनां चाश्रित्य मया स भिक्षुसंबन्धी शब्दोऽभिहितः। तथा 'निर्वाणं' मोक्षपदमशेषकर्मक्षयरूपमीषत्-
प्राग्भाराख्यं भूभागोपवर्यवस्थितक्षेत्रखण्डं वाऽऽत्मन्याहृत्य स पद्मवरपौण्डरीकस्योत्पातोऽभिहित इति। साम्प्रतं
समस्तोपसंहारार्थमाह—'एवं' पूर्वोक्तप्रकारेण एतल्लोकादिकं च खल्वात्मन्याहृत्य—आश्रित्य मया श्रमणा-
युष्मन्! 'से' एतत्पुष्करिण्यादिकं दृष्टान्तत्वेन किञ्चित्साधर्म्यादेवमेतदुक्तमिति ॥ ८ ॥ तदेवं सामान्येन ९
दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्योजनां कृत्वाऽधुना विशेषेण प्रधानभूतराजदार्ष्टान्तिकं [तदुद्धरणार्थत्वात् सर्वप्रयासस्येति]
दर्शयितुमाह—

इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति, अणुपुव्वेणं
लोगं उववन्ना; तंजहा--आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोत्ता वेगे णीयागोया वेगे कायमंता वेगे
रहस्समंता वेगे सुवन्ना वेगे दुव्वन्ना वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे, तेसिं च णं मणुयाणं एगे राया भवइ, १०
महयाहिमवंतमलयमंदरमहिंदसारे अच्चंतविसुद्धरायकुलवंसप्पसूते निरंतररायलक्खणविराइयं-
गमंगे बहुजणबहुमाणपूइए सव्वगुणसमिद्धे खत्तिए मुदिए मुद्धाभिसित्ते माउपिउसुजाए दय-
प्पिए सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे मणुस्सिंदे जणवयपिया जणवयपुरोहिए सेउकरे केउकरे

सा० १ द्वादशाङ्ग शासन वा। २ राजदार्ष्टान्तिकयोजने हेतुदर्शनाय टीप्पणमिदमित्याभाति।

नरपवरे पुरिसपवरे पुरिससीहे पुरिसआसीविसे पुरिसवरपोंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी अड्ढे दित्ते वित्ते विच्छिन्नविउलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुधणबहुजातरूवरतए आओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डियपउरभत्तपाणे बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूते पडिपुण्णकोसकोट्ठागाराउहागारे बलवं दुब्बलपच्चामित्ते ओहयकंटय निहयकंटय मलियकंटय उद्धियकंटय अकंटय ओहयसत्तू निहयसत्तू मलियसत्तू उद्धियसत्तू निज्जियसत्तू पराइयसत्तू ववगयदुभिक्खमारिभयविप्पमुक्कं रायवण्णओ जहा उववाइए जाव पसंतडिंबडमरं रज्जं पसाहेमाणे विहरति। तस्स णं रण्णो परिसा भवइ—उग्गा उग्गपुत्ता, भोगा भोगपुत्ता, इक्खागाइ इक्खागाइपुत्ता, नाया नायपुत्ता, कोरव्वा कोरव्वपुत्ता, भट्टा भट्टपुत्ता, माहणा माहणपुत्ता, लेच्छइ लेच्छइपुत्ता, पसत्थारो पसत्थपुत्ता, सेणावई सेणावइपुत्ता। तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ कामं तं समणा वा माहणा वा संपहारिंसु गमणाए, तत्थ अन्नतरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो वयं इमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो से एवमायाणह भयंतारो जहा मए एस धम्मे सुयक्खाए सुपन्नत्ते भवइ, तंजहा—उड्ढं पादतला अहे केसग्गमत्थया तिरियं तयपरियंते जीवे एस आयापज्जवे कसिणे एस जीवे जीवति एस मए णो जीवइ, सरीरे धरमाणे धरइ विणट्ठंमि य णो धरइ, एयंतं जीवियं भवति, आदहणाए परेहिं निज्जइ, अगणिझामिए सरीरे कवोतवन्नाणि अट्ठीणि भवंति, आसंदीपंचमा पुरिसा गामं पच्चागच्छंति,

एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं असंते असंविज्जमाणे तेसिं तं सुयक्खायं भवति–अन्नो
भवति जीवो अन्नं सरीरं, तम्हा ते एवं नो विपडिवेदेंति–अयमाउसो! आया दीहेति वा हस्सेति
वा परिमंडलेति वा वट्टेति वा तंसेति वा चउरंसेति वा आयतेति वा छलंसिएति वा अट्ठंसेति
वा किण्हेति वा णीलेति वा लोहियहालिद्दे सुक्किल्लेति वा सुब्भिगंधेति वा दुब्भिगंधेति वा
तित्तेति वा कडुएति वा कसाएति वा अंबिलेति वा महुरेति वा कक्खडेति वा मउएति वा ९
गुरुएति वा लहुएति वा सिएति वा उसिणेति वा निद्धेति वा लुक्खेति वा, एवं असंते असं-
विज्जमाणे जेसिं तं सुयक्खायं भवति–अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, तम्हा ते णो एवं उवलब्भंति से
जहाणामए केइ पुरिसे कोसीओ असिं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो! असी अयं
कोसी, एवमेव णत्थि केइ पुरिसे अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारो अयमाउसो! आया इयं
सरीरं। से जहाणामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा अयमाउसो!
मुंजे इयं इसियं, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो! आया इयं सरीरं। से १०
जहाणामए केइ पुरिसे मंसाओ अट्ठिं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा अयमाउसो! मंसे अयं
अट्ठी, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो! आया इयं सरीरं। से जहाणामए
केइ पुरिसे करयलाओ आमलकं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा अयमाउसो! करतले अयं

नरपवरे पुरिसवरे पुरिससीहे पुरिसआसीविसे पुरिसवरपोंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी अड्ढे दित्ते
वित्ते विच्छिन्नविउलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुधणबहुजातरूवरतए आओगपओग
संपउत्ते विच्छड्डियपउरभत्तपाणे बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूते पडिपुण्णकोसकोट्ठागारा
उहागारे बलवं दुब्बलपच्चामित्ते ओहयकंटयं निहयकंटयं मलियकंटयं उद्धियकंटयं अकंटयं ओहय
सत्तू निहयसत्तू मलियसत्तू उद्धियसत्तू निज्जियसत्तू पराइयसत्तू ववगयदुभिक्खमारिभय
विप्पमुक्कं रायवण्णओ जहा उववाइए जाव पसंतडिंबडमरं रज्जं पसासेमाणे विहरति। तस्स णं रन्नो
परिसा भवइ—उग्गा उग्गपुत्ता, भोगा भोगपुत्ता, इक्खागाइ इक्खागाइपुत्ता, नाया नायपुत्ता, कोर
व्वा कोरव्वपुत्ता, भट्टा भट्टपुत्ता, माहणा माहणपुत्ता, लेच्छई लेच्छइपुत्ता, पसत्थारो पसत्थपुत्ता;
सेणावई सेणावइपुत्ता। तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ कामं तं समणा वा माहणा वा संपहा
रिंसु गमणाए, तत्थ अन्नतरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो वयं इमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो से एवमाया
णह भयंतारो जहा मए एस धम्मे सुयक्खाए सुपन्नत्ते भवइ, तंजहा—उड्ढं पादतला अहे केसग्ग
मत्थया तिरियं तयपरियंते जीवे एस आयापज्जवे कसिणे एस जीवे जीवति एस मए णो जीवइ,
सरीरे धरमाणे धरइ विणट्ठंमि य णो धरइ, एयंतं जीवियं भवति, आदहणाए परेहिं निज्जइ,
अगणिझामिए सरीरे कवोतवन्नाणि अट्ठीणि भवंति, आसंदीपंचमा पुरिसा गामं पच्चागच्छंति,

पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिंसु तत्थेगे पूयणाए निकाइंसु । पुव्वमेव तेसिं णायं भवति—समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो पावं कम्मं णो करिस्सामो समुट्ठाए ते अप्पणा अप्पडिविरया भवंति, सयमाइयंति अन्नेवि आदियावेंति अन्नंपि आयतंतं समणुजाणंति, एवमेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोसवसट्टा, ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति ते णो परं समुच्छेदेंति ते णो अण्णाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छेदेंति, पहीणा पुव्वसंजोगं आयरियं मग्गं असंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसन्ना इति पढमे पुरिसजाए तज्जीवतच्छरीरएत्ति आहिए ॥ (सूत्रम्–९)

'इह'-अस्मिन्मनुष्यलोके, खलुर्वाक्यालङ्कारे, इहास्मिन् लोके प्राच्यां प्रतीच्यां दक्षिणायामुदीच्यामन्यतरस्यां वा दिशि 'सन्ति'-विद्यन्ते एके केचन तथाविधा मनुष्याः आनुपूर्व्येणेमं लोकमाश्रित्योत्पन्ना भवन्ति । तानेवानुपूर्व्येण दर्शयति—'तद्यथे'त्युपन्यासार्थः, आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः, तत्र क्षेत्रार्या अर्धषड्विंशतिजनपदोत्पन्नाः, तद्व्यतिरिक्तास्त्वनार्या एके केचन भवन्ति, ते चानार्यक्षेत्रोत्पन्ना अमी द्रष्टव्याः, तद्यथा—सगजवणसबरबब्बर कायमुरुंडोड्डगोड्डपकणिया । अरबागहोणरोमय पारसखसखासिया चेव ॥ १ ॥ डोंबिलयलउसबोकस भिल्लंधपुलिंदकोंबभमररुया । कोंचा य चीणचंचुयमालव दमिला कुलग्घा य ॥ २ ॥ केकयकिरायहयमुह-

आमलए, एवमेव णत्थि केइ पुरिसे उववसेत्तारो अयमाउसो ! आया इय सरीरं । से जहा णामए केइ पुरिसे दहिओ नवनीय अभिनिव्वट्टित्ताण उववसेज्जा अयमाउसो ! नवनीय अय दुद्धी, एवमेव णत्थि केइ पुरिसे जाव सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे तिलेहिंतो तिल्लं अभिनिव्वट्टित्ता णं उववसेज्जा अयमाउसो ! तेल्लं अय पिन्नाए, एवमेव जाव सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे इक्खूतो खोतरसं अभिनिव्वट्टित्ता ण उववसेज्जा अयमाउसो ! खोतरसे अयं छोए, एवमेव जाव सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे अरणीतो अग्गिं अभिनिव्वट्टित्ताण उववसेज्जा अयमाउसो ! अरणी अय अग्गी, एवमेव जाव सरीरं । एव असंते असंविज्जमाणे जेसिं त सुयक्खायं भवति, तं० अन्नो जीवो अन्नं सरीरं; तम्हा ते मिच्छा । से हंता त हणह खणह छणह डहह पयह आलुपह विलुपह सहसाक्कारेह विपरामुसह, एतावता जीवे णत्थि परलोए, ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तं०—किरियाइ वा अकिरियाइ वा सुक्कडेइ वा दुक्कडेइ वा कल्लाणेइ वा पावएइ वा साहुइ वा असाहुइ वा सिद्धीइ वा असिद्धीइ वा निरएइ वा अनिरएइ वा, एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए । एवं एगे पागब्भिया णिक्खम्म मामगं धम्मं पन्नवेंति, त सद्दहमाणा त पत्तियमाणा त रोएमाणा साहु सुयक्खाए समणेति वा माहणेति वा कामं खलु आउसो ! तुमं पूययामि, तंजहा—असणेण वा

धर्मप्रतिबोधनिमित्तं तदन्तिकगमनाय, तत्र चान्यतरेण धर्मेण—स्वसमयप्रसिद्धेन प्रज्ञापयितारो वयमित्येवं नाम संप्रधार्य—तं राजानं स्वकीयेन धर्मेण प्रज्ञापयिष्याम एवं संप्रधार्य राज्ञोऽन्तिकं गत्वैवमूचुः, तद्यथा—एतद्यथाऽहं कथयिष्यामि 'एव'मिति च वक्ष्यमाणनीत्या भवन्तो—यूयं जानीत भयात्रातारो वा 'यथा'—येन प्रकारेण मयैष धर्मः स्वाख्यातः सुप्रज्ञप्तो भवतीति । एवं तीर्थिकः स्वदर्शनानुरञ्जितोऽन्यस्यापि राजादेः स्वाभिप्रायेणोपदेशं ददाति । तत्राद्यः पुरुषजातस्तज्जीवतच्छरीरवादी राजानमुद्दिश्यैवं धर्मदेशनां चक्रे, तद्यथा—'ऊर्ध्वम्' उपरि पादतलादधश्च केशाग्रमस्तकात्तिर्यक् च त्वक्पर्यन्तो जीवः; एतदुक्तं भवति—यदेवैतच्छरीरं स एव जीवो, नैतस्माच्छरीराद्व्यतिरिक्तोऽस्त्यात्मेत्यतस्तत्प्रमाण एव भवत्यसौ, इत्येवं च कृत्वैष आत्मा योऽयं कायोऽयमेव च तस्यात्मनः पर्यवः 'कृत्स्नः'—संपूर्णः, 'पर्यायः'—अवस्थाविशेषः; तस्मिंश्च कायात्मन्यवाप्ते तदव्यतिरेकाज्जीवोऽप्यवाप्त एव भवति । एष च कायो यावन्तं कालं जीवेद्—अविकृत आस्ते तावन्तमेव कालं जीवोऽपि जीवतीत्युच्यते, तदव्यतिरेकात्, तथैव कायो यदा 'मृतो' विकारभाग्भवति तदा जीवोऽपि न जीवति, जीवशरीरयोरेकात्मकत्वात्, यावदिदं शरीरं पञ्चभूतात्मकमन्यङ्गं चरति तावदेव जीवोऽपीति, तस्मिंश्च विनष्टे सति—एकस्यापि भूतस्यान्यथाभावे विकारे सति जीवस्यापि तदात्मनो विनाशः, तदेवं यावदेतच्छरीरं वातपित्तश्लेष्माधारं पूर्वस्वभावादप्रच्युतं तावदेव तज्जीवस्य जीवितं भवति, तस्मिंश्च विनष्टे तदात्मा—जीवोऽपि विनष्ट इतिकृत्वा 'आदहनाय'—आसमन्ताद्दहनार्थं श्मशानादौ

सा० १ राजान्तिक प्र० । २ एतच्चाह प्र० । ३ कथयामि प्र० ।

सरक्खं तह तुरगमेंढयमुहा य । हयकण्णा गयकण्णा अण्णे य अभासिया बहवे ॥ ३ ॥ पावा य चंडदंडा अणारिया णिग्घिणा णिरणुकंपा । धम्मोत्ति अक्खराइं जेण न णज्जंति सुमिणेवि ॥४॥ इत्यादि । तथोच्चैर्गोत्रम्—इक्ष्वाक्वंशादिकं येषां ते तथाविधा एके केचन तथाविधकर्मोदयवर्तिनः, चाशब्द उत्तरापेक्षया विकल्पार्थः तथा 'नीचैर्गोत्रं' सर्वजनावमतं येषां ते तथा एके केचन नीचैर्गोत्रोदयवर्तिनो, न सर्वे, वाशब्दः पूर्ववदेव, ते चोच्चैर्गोत्रा नीचैर्गोत्रा वा । कायो—महाकायः प्रांशुस्स तद्विद्यते येषां ते कायवन्तः, तथा 'ह्रस्ववन्तो' वामनकुब्जवडभादय एके केचन तथाविधनामकर्मोदयवर्तिनः, तथा शोभनवर्णाः सुवर्णाः—प्रतप्तचामीकरचारुदेहाः, तथा दुर्वर्णाः—कृष्णरूक्षादिवर्णा एके केचन, तथा सुरूपाः—सुविभक्तावयवचारुदेहाः, तथा दुष्टरूपा—दुरूपा बीभत्सदेहाः, तेषां चोच्चैर्गोत्रादिविशेषणविशिष्टानां महान् कश्चिदेकस्तथाविधकर्मोदयाद्राजा भवति, स विशेष्यते—महाहिमवन्मलयमन्दरमहेन्द्राणामिव सारः—सामर्थ्यं विभवो वा यस्य स तथा इत्येवं राजवर्णको यावदुपशान्तडिम्बडमरं राज्यं प्रसाधयंस्तिष्ठतीति, तत्र डिम्बः—परानीकमृगालिको डमरं—स्वराष्ट्रक्षोभः, पर्यायो वैतावस्यादरख्यापनार्थमुपात्तो इति तस्य चैवंविधगुणसंपदुपेतस्य राज्ञः पर्षदा पर्षद्भव[ती]ति, तद्यथा—उग्रास्तत्कुमाराश्चोग्रपुत्राः, एवं भोगभोगपुत्रादयोऽपि द्रष्टव्याः, शेषं सुगमं । यावत्सेनापतिपुत्रा इति, नवरं 'लेच्छइ'त्ति लिप्सुकः स च वणिगादिः, तथा प्रशास्तारो—बुद्ध्युपजीविनो मन्त्रिप्रभृतयः, तेषां च मध्ये कश्चिदेकः श्रद्धावान्—धर्मलिप्सुर्भवति, 'काम'मित्यवधृतार्थेऽव्ययभूत मेतद्याऽय धर्मश्रद्धालुः, अवधार्य च तं धर्मलिप्सुतया श्रमणा ब्राह्मणा वा 'सम्प्रधारितवन्तः' समालोचितवन्तो

'असिं'-खड्गम् 'अभिनिर्वर्त्य'-समाकृष्यान्येषामुपदर्शयेत्, तद्यथा-अयमायुष्मन्! 'असिः'-खड्गोऽयं च 'कोशः'-परिवारः, एवमेव जीवशरीरयोरपि नास्त्युपदर्शयिता, तद्यथा—अयं जीव इदं च शरीरमिति, न चास्त्येवमुपदर्शयिता कश्चिद् अतः कायान्न भिन्नो जीव इति। अस्मिश्चार्थे बहवो दृष्टान्ताः सन्तीत्यतो दर्शयितुमाह— तद्यथा वा कश्चित्पुरुषो 'मुञ्जात्'-तृणविशेषात् 'इसियं'ति, तद्गर्भभूतां शलाकां पृथक्कृत्य दर्शयेत्, तथा मांसादस्थि तथा करतलादामलकं तथा दध्नो नवनीतं तिलेभ्यस्तैलं इति तथेक्षो रसं तथाऽरणितोऽग्निमभिनिर्वर्त्य— पृथक्कृत्य दर्शयेद्, एवमेव शरीरादपि जीवमिति, न चास्त्येवमुपदर्शयिताऽतोऽसन्नात्मा शरीरात् पृथगसंवेद्यमानश्चेति। प्रयोगश्चात्र—सुखदुःखभाक् परलोकानुयायी नास्त्यात्मा, तिलशश्छिद्यमानेऽपि शरीरके पृथगनुपलब्धेः, घटात्मवत्, व्यतिरेकेण च कोशखड्गवत्, तदेवं युक्तिभिः प्रतिपादितेऽप्यात्माभावे येषां पृथगात्मवादिनां स्वदर्शनानुरागादेतत्स्वाख्यातं भवति, तद्यथा—अन्यो जीवः परलोकानुयायी अमूर्तः, अन्यच्च तद्भववृत्ति मूर्तिमच्छरीरम्, एतच्च पृथङ् नोपलभ्यते तस्मात्तन्मिथ्या यत्कैश्चिदुच्यते यथाऽस्त्यात्मा परलोकानुयायीति। एतदध्यवसायी च 'स'-लोकायतिकः स्वतः प्राणिनामेकेन्द्रियादीनां 'हन्ता'-व्यापादको भवति, प्राणातिपाते दोषाभावमभ्युपगम्यान्येषामपि प्राण्युपघातकारिणामुपदेशं ददाति, तद्यथा—प्राणिनः खड्गादिना घातयत, पृथिव्यादिकं खनतेत्यादि सुगमं। यावद् 'एतावानेव'शरीरमात्र एव जीवः, ततः परलोकिनोऽभावान्नास्ति परलोकः, तदभावाच्च यथेष्टमासत(ध्वं), तथा चोक्तम्—"पिब खाद च साधु शोभने!, यदतीतं वरगात्रि! तन्न ते। न हि भीरु! गतं निवर्तते, समु-

नीयते यतोऽसौ, तस्मिश्च शरीरेऽग्निना ध्मापिते कपोतवर्णान्यस्थीनि केवलमुपलभ्यन्ते न तदतिरिक्तोऽपरः कश्चि-द्विकारः समुपलभ्यते यत आत्मास्तित्वशङ्का स्यात्, ते च तदन्यथा वदन्यतोऽपि चत्वारः 'आसन्दी'–मञ्चकः स पञ्चमो यषां त आसन्दीपञ्चमाः पुरुषास्तं कायमग्निना ध्मापयित्वा पुनः स्वग्रामं प्रत्यागच्छन्ति, यदि पुनस्त-त्रात्मा निजशरीराद्भिन्नः स्यात्ततः शरीरान्निर्गच्छन् दृश्येत, न चोपलभ्यते, तस्मात्तज्जीवस्तदेव शरीरमिति स्थितम्। तदेवमुक्तनीत्याऽसौ जीवोऽसन्–अविद्यमानस्तत्र तिष्ठन् गच्छन् 'असंवेद्यमानः' अननुभूयमानः येषामयं पक्षस्तेषां तत्स्वाख्यातं भवति, येषां पुनरन्यो जीवोऽन्यच्छरीरमेवंभूतोऽप्रमाणक एवाभ्युपगमः, तस्मात्ते स्वमूढ्या प्रवर्तमाना 'एव'मिति वक्ष्यमाणं तेनैव 'विप्रतिवेदयन्ति'–जानन्ति, तद्यथा–अयमात्माऽऽयुष्मन्! शरीराद्व्यतिरिक्तोऽभ्युपगम्य-मानः किं प्रमाणकः स्यादिति वाच्यं, तत्र किं दीर्घः–स्वशरीरात् प्रांशुतरः उत ह्रस्वः–अङ्गुष्ठश्यामाकतण्डुलादिपरि-माणो वा ?, तथा संस्थानानां–परिमण्डलादीनां मध्ये किं संस्थानः ?, तथा कृष्णादीनां वर्णानां मध्ये कतमवर्ण-वर्ती ?, तथा द्वयोर्गन्धयोर्मध्ये किं गन्धः ?, पञ्चानां रसानां मध्ये कतमरसवर्ती ?, तथाऽष्टानां स्पर्शानां मध्ये कतमे स्पर्शे वर्तते ?। तदेवं संस्थानवर्णगन्धरसस्पर्शान्यरूपतया कथमप्यसावगृह्यमाणोऽसत्त्वसौ, तथापि केनापि प्रकारेण संवेद्यमानोऽपि येषां तत्स्वाख्यातं भवति यथाऽन्यो जीवोऽन्यच्छरीरकमित्ययं पक्षः, तस्मात् पृथगविद्यमानस्यात्मनः शरी-रात् पृथगात्मवादिनो नैव वक्ष्यमाणनीत्याऽऽत्मानमुपलभन्ते। तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः 'कोशात्'–परिवारात्

मा १ 'प्रेक्ष्य मिव' प्र.।

पृथग्भूत आत्माऽमूर्तो ज्ञानवद् तदाधारभूतोऽस्तीति, न चात्माभ्युपगममन्तरेण तज्जीवतच्छरीरवादिनः कथञ्चिद्वि-
चार्यमाणं मरणमुपपद्यते, दृश्यन्ते च तथाभूत एव शरीरे म्रियमाणा मृताश्च, तथा कुतः समागतोऽहं कुत्र चेदं शरीरं
परित्यज्य यास्यामि?, तथा 'इदं मे शरीरं पुराणं कर्मे'त्येवमादिकाः शरीरात् पृथग्भावेनात्मनि संप्रत्यया अनुभूयन्ते,
तदेवमपि स्वानुभवसिद्धेऽप्यात्मनि एके केचन नास्तिकाः पृथग्जीवास्तित्वमश्रद्दधाना 'प्रागल्भिकाः' प्रागल्भ्येन
चरन्ति धृष्टतामापन्ना अभिदधति—यद्ययमात्मा शरीरात् पृथग्भूतः स्यात् ततः संस्थानवर्णगन्धरसस्पर्शान्यतमगुणोपेतः ९
स्यात्, न च ते वराकाः स्वदर्शनानुरागाच्च तमसावृतदृष्टय एतद्विदन्ति यथा—मूर्तस्यायं धर्मो नामूर्तस्य, न हि
ज्ञानस्य संस्थानादयो गुणाः संभाव्यन्ते, न च तत्तदभावेऽपि नास्ति, इत्येवमात्मापि संस्थानादिगुणरहितोऽपि
विद्यत इति, एवं युक्तियुक्तमप्यात्मानं धाष्र्ट्यान्नाभ्युपगच्छन्ति । तथा 'निष्क्रम्य' च स्वदर्शनविहितां प्रव्रज्यां
गृहीत्वा नान्यो जीवः शरीराद्विद्यत इत्येवं यो धर्मो मदीयोऽयमित्येवमभ्युपगम्य स्वतोऽपरेषां च तं तथाभूतं धर्मं
प्रतिपादयन्ति । यद्यपि लोकायतिकानां नास्ति दीक्षादिकं तथाऽप्यपरेण शाक्यादिना प्रव्रज्याविधानेन प्रव्रज्य
पश्चाल्लोकायतिकमधीयानस्य(नानां) तथाविधपरिणतेस्तदेवाभिरुचितम्, अतो मामकोऽयं धर्मः (इति) स्वयमभ्यु- १०
पगच्छन्त्यन्येषां च प्रज्ञापयन्ति, यदि वा—नीलपटाद्यभ्युपगन्तुः कश्चिदस्त्येव प्रव्रज्याविशेष इत्यदोष इति ।
सांप्रतं तत्प्रज्ञापितशिष्यव्यापारमधिकृत्याह—'तं सद्दहमाणे'त्यादि, 'तं'–नास्तिकवाद्युपन्यस्तं धर्मं विपर्यिणा-

सा० १ ये मण्डलवादिका प्र० ।

दयमात्रमिदं कलेवरम् ॥ १ ॥" तदेवं परलोकयायिनो जीवस्याभावान्न पुण्यपापे स्तः नापि परलोक इत्यत्र येषां पक्षस्ते लोकायतिकास्तज्जीवतच्छरीरवादिनो नैवैतद्वक्ष्यमाणं विप्रतिवेदयन्ति—अभ्युपगच्छन्ति, तद्यथा—क्रियां वा सदनुष्ठानात्मिकाम् अक्रियां वा—असदनुष्ठानरूपाम्, एवं नैव ते विप्रतिवेदयन्ति, यदि हि आत्मा तत्क्रियावासकर्मणो भोक्ता स्यात्ततोऽपायभयात् सदनुष्ठानचिन्ता स्यात्, तदभावाच्च सत्क्रियादिचिन्ताऽपि दूरोत्सादितैव। तथा सुकृतं दुष्कृतं वा कल्याणमिति वा पापमिति वा—साधु कृतमसाधु कृतमित्यादिका चिन्तैव नास्ति, तथाहि—सुकृतानां—कल्याणविपाकिनां साधुतयाऽवस्थानं दुष्कृतानां च—पापविपाकिनामसाधुत्वेनावस्थानम्, एतदुभयमपि सत्यात्मनि तत्फलभुजि समपति, तदभावाच्च कुतोऽनर्थको हिताहितप्राप्तिपरिहारौ स्याताम् ?, तथा सुकृतेन—कल्याणेन साध्वनुष्ठानेनाशेषकर्मक्षयरूपा सिद्धिस्तद्विपर्ययेणासिद्धिः, तथा दुष्कृतेन—पापानुबन्धिना असदनुष्ठानेन नरकोऽनरको वा तिर्यङ्नरामरगतिलक्षणः स्यादित्येवमात्मिका चिन्तैव न भवेत्, तदाधारस्यात्मनस्तद्वादस्यानभ्युपगमादिति भावः। पुनरपि लोकायतिकानुष्ठानदर्शनायाह—'एवं ते' इत्यादि। 'एवम्'—अनन्तरोक्तेन प्रकारेण ते—नास्तिका आत्माभावं प्रतिपद्य विरूपं—नानाप्रकारं रूपं—स्वरूपं येषां ते तथा कर्मसमारम्भाः—सावद्यानुष्ठानरूपाः पशुघातमांसभक्षणसुरापाननिर्लाञ्छनादिकास्तैरेवम्भूतैर्नानाविधैः कर्मसमारम्भैः कृषीवलानुष्ठानादिभिर्विरूपरूपान् कामभोगान् 'समारभन्ते'—समासेवन्ते तदुपभोगार्थमिति। साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीरवादिमतमुपसंजिघृक्षुः प्रस्तावमारचयन्नाह—'एवं येगं' इत्यादि। मूर्तिमतः शरीरादन्यदमूर्तं ज्ञानमात्मन्यनुभूयते, तस्य चामूर्तेनैव गुणिना भाव्यम्, अतः शरीरात्

परदत्तमोजिनः स्वतः पचनपाचनादिक्रियारहितत्वात्, भिक्षणशीला तथा 'अपशवो' गोमहिष्यादिरहिताः, यत्किञ्चित्पापं—सावद्यं कर्मानुष्ठानं तत्सर्वं न करिष्यामी(म इ)त्येवं सम्यगुत्थानेनो- भिक्षवः, कियद्वक्ष्यते अन्यदपि पापकर्मभ्योऽप्रतिविरता भवन्ति, विरत्यभावे च त्थाय पूर्वं पश्चात्ते लोकायतिकभावमुपगता आत्मनः—स्वतः नीलपटादिकं च लिङ्गमास्थाय स्वमात्मना सावद्यमनुष्ठान- यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयति—पूर्वं सावद्यारम्भान्निवृत्तिं विधाय परिग्रहं स्वीकुर्वन्तं समनुजानन्ति । एव- माददते—स्वीकुर्वन्ति अन्यानप्यादापयन्ति—ग्राहयन्त्यन्यमप्याददानं— भोगास्तेषु सातबहुलत- मेव—पूर्वोक्तप्रकारेण स्त्रीप्रधानाः स्त्रियोपलक्षिता वा काम्यन्त इति कामा भुज्यन्त इति ग्रथिता—अवबद्धा याऽजितेन्द्रियाः सन्तस्तेषु कामभोगेषु मूर्च्छिता—एकीभावतामापन्ना गृद्धाः—काङ्क्षावन्तो कामभोगान्धा वा, त एवं काम- अध्युपपन्ना—आधिक्येन भोगेषु लुब्धा रागद्वेषा(घवशा)र्त्ता—रागद्वेषवशगाः नापि परं सदुपदेशदानतः कर्मपा- भोगेषु अवबद्धाः सन्तो नात्मानं संसारात् कर्मपाशाद्वा समुच्छेदयन्ति—मोचयन्ति, प्राणान्—प्राणिनः, तथा अभूवन् शावपाशितं समुच्छेदयन्ति—कर्मबन्धात्त्रोटयन्ति, नाप्यन्यान् दशविधप्राणवर्तिनः यानन्तरायक्षयोपशमापादित- भवन्ति भविष्यन्ति च भूतानि तथा आयुष्कधारणाज्जीवास्तान् तथा सत्त्वास्तथाविधवीर्यान्तरायक्षयोपशमापादित- लोकायतिकाः वीर्यगुणोपेतास्तान् न समुच्छेदयन्ति, असदभिप्रायप्रवृत्तत्वात्, ते चैवंविधास्तज्जीवतच्छरीरवादिनो मर्वहेयधर्मेभ्य अजितेन्द्रियतया कामभोगावसक्ताः पूर्वसंयोगात्—पुत्रादारादिकात् प्रहीणाः—प्रभ्रष्टाः, आराद्यातः ऐहिकामुष्मिकलोकद्वयसदनुष्ठानभ्रष्टा इत्यार्यो मार्गः—सदनुष्ठानरूपस्तमसंप्राप्ता इति, एवं पूर्वोक्तया नीत्या

मनुष्ठ 'श्रद्दधानाः'–स्वमतापत्तित्वेन रोचयन्तः तथा 'प्रतिपादयन्तः'–अवितथभावेन गृह्णन्तः तथा तत्र रुचिं
कुर्वन्तः तथा साधु–शोभनमेतद्यथा स्वाख्यातो–यथावस्थितो भवता धर्मोऽन्यथाऽसति हिंसादिष्ववर्तमानाः
परलोकभयात्सुससाधनेषु मांसमद्यादिष्वप्यरुचिं कुर्वन्तो मनुष्यजन्मफलवञ्चिता भवेयुः, ततः शोभनमकारि भवता
हे श्रमण!, ब्राह्मण! इति वा यदयं तज्जीवतच्छरीरधर्मोऽस्माकमावेदितः, काममिष्टमेतदस्माकं धर्मकथनं, खलुशब्दो
वाक्यालङ्कारे, हे आयुष्मंस्त्वया वयमभ्युद्धृताः अन्यथा कापटिकैस्तीर्थिकैर्वञ्चिताः स्युरि(स्याम)ति, तस्मादुप ९
कारिणं 'त्वां' भवन्तं पूजयामः, अहमपि कश्चिदायुष्मतो भवतः प्रत्युपकारं करोमि। तदेव दर्शयति–तद्यथा
'असणेणे'त्यादि सुगमं, यावत्पादपुञ्छनकमि(क्ने)ति। तत्रैके केचन पूर्वोक्तया पूजया पूजायां वा 'समाउ
ट्टिंसु'त्ति प्रमादृताः–प्रह्वीभूतास्ते राजानः पूजां प्रति प्रवृत्ताः, तदुपदेष्टारो वा पूजामभ्युपपन्नाः सन्तस्तं राजा
दिकं स्वदर्शनप्रतिपन्नमकं कञ्चन स्वदर्शनस्थित्या हिताहितप्राप्तिपरिहारेषु 'निकाचितवन्तो'–नियमितवन्तः,
तद्यथा–भवतेदं तज्जीवतच्छरीरमित्यभ्युपगन्तव्यम्, अन्यो जीवोऽन्यच्च शरीरमित्येतत् परित्याज्यम्, अनुष्ठानमपि
एतदनुरूपमेव विधेयमित्येवं निकाचितवन्त इति। तत्र ये भागवतादिकं लिङ्गमभ्युपगताः यथा लोकायत १०
प्रपञ्चकेन लोकायताः संवृत्तास्तेषां 'पूर्वम्' आदौ प्रव्रज्याग्रहणकाल एवैतत्परिज्ञातं भवति, तद्यथा–परित्यक्त
पुत्रकलत्राः'श्रमणाः'–यतयो भविष्यामः,'अनगाराः'–गृहरहिताः तथा'निष्किञ्चना'–किञ्चनं–द्रव्यं तद्रहिताः

अत्थिकाए, एतावताव सव्वलोए, एतं मुहं लोगस्स करणयाए, अवियंतसो तणमायगवि। से
किणं किणावेमाणे हणं घायमाणे पयं पयावेमाणे अवि अंतसो पुरिसमवि कीणित्ता घायइत्ता
एत्थंपि जाणाहि णत्थित्थदोसो, ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तंजहा–किरियाइ वा जावऽणिरएइ
वा एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए, एवमेव
ते अणारिया विप्पडिवन्ना तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा जाव इति, ते णो हव्वाए णो पाराए,
अंतरा कामभोगेसु विसण्णा, दोच्चे पुरिसजाए पंचमहव्भूतिएत्ति आहिए॥ (सूत्रम्– १०)॥

अथशब्द आनन्तर्यार्थे, प्रथमपुरुषानन्तरमपरो द्वितीयः पुरुष एव पुरुषजातः पञ्चभिः (भूतैः) पृथिव्यप्तेजो-
वाय्वाकाशाख्यैश्चरति पञ्चभूतिकः पञ्च वा भूतानि अभ्युपगमद्वारेण विद्यन्ते यस्य स पञ्चभूतिको मत्वर्थीयष्ठक्,
स च सांख्यमतावलम्बी आत्मनस्तृणकुब्जीकरणेऽप्यसामर्थ्याभ्युपगमात् भूतात्मिकायाश्च प्रकृतेः सर्वत्र कर्तृत्वाभ्यु-
पगमात् द्रष्टव्यो, लोकायतमतावलम्बी वा नास्तिको भूतव्यतिरिक्तनास्तित्वाभ्युपगमादाख्यायते, प्रथमपुरुषाद-
नन्तरमयं पञ्चभूतात्मवाद्यभिधीयते चेति। अत्र च प्रथमपुरुषगमेन 'इह खलु पाइणं वा इत्यादिको ग्रन्थः 'सुपण्णते
भवति' इत्येतत्पर्यवसानोऽवगन्तव्य इति। सांप्रतं सांख्यस्य लोकायतिकस्य चाभ्युपगमं दर्शयितुमाह–'इह'–
अस्मिन् संसारे द्वितीयपुरुषवक्तव्यताधिकारे वा, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि विद्यन्ते,

सा० १ एव XXXXXXXX ते प्र० ।

अन्तराल एव भोगेषु विषण्णास्तिष्ठन्ति, न विवक्षितं पौण्डरीकोत्क्षेपमादिकं कार्यं प्रसाधयन्तीति । अथ च प्रथमः पुरुषस्तज्जीवतच्छरीरवादी परिसमाप्त इति । प्रथमपुरुषानन्तरं द्वितीयं पुरुषजातमधिकृत्याह—

अहावरे दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूतिएत्ति आहिज्जइ, इह खलु पाईणं वा ६ संतेगतिया मणुस्सा, भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना, तंजहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे एवं जाव दुरूवा वेगे, तेसिं च णं महं एगे राया भवइ महया० एवं चेव णिरवसेसं जाव सेणावइपुत्ता, तेसिं च णं एगतिए सड्ढी भवति कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए, तत्थ अन्नयरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो वयं इमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो से एवमायाणह भयंतारो ! जहा मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवति । इह खलु पंच महब्भूता, जेहिं नो विज्जइ किरियाति वा अकिरियाति वा सुक्कडेति वा दुक्कडेति वा कल्लाणेति वा पावएति वा साहुति वा असाहुति वा सिद्धीति वा असिद्धीति वा णिरएति वा अणिरएति वा अवि अंतसो तणमायमवि । तं च पिहुद्देसेणं पुढो भूतसमवातं जाणेज्जा, तंजहा—पुढवी एगे महब्भूते आऊ दुच्चे महब्भूते तेऊ तच्चे महब्भूते वाऊ चउत्थे महब्भूते आगासे पंचमे महब्भूते, इच्चेते पंच महब्भूया अणिम्मिया अणिम्माविता अकडा णो कित्तिमा णो कडगा अणादिया अणिहणा अवंझा अपुरोहिता सतंता सासता आयछट्ठा, पुण एगे एवमाहु—सतो णत्थि विणासो असतो णत्थि संभवो । एतावताव जीवकाए, एतावताव

अत्थिकाए, एतावताव सव्वलोए, एतं मुहं लोगस्स करणयाए, अवियंतसो तणमायगवि। से किणं किणावेमाणे हणं घायमाणे पयं पयावेमाणे अवि अंतसो पुरिसमवि कीणित्ता घायइत्ता एत्थंपि जाणाहि णत्थित्थदोसो, ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तंजहा-किरियाइ वा जावऽणिरएइ वा एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए, एवमेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा जाव इति, ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा, दोच्चे पुरिसजाए पंचमहव्भूतिएत्ति आहिए ॥ (सूत्रम्- १०) ॥

अथशब्द आनन्तर्यार्थे, प्रथमपुरुषानन्तरमपरो द्वितीयः पुरुष एव पुरुषजातः पञ्चभिः (भूतैः) पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशाख्यैश्चरति पञ्चभूतिकः पञ्च वा भूतानि अभ्युपगमद्वारेण विद्यन्ते यस्य स पञ्चभूतिको मत्वर्थीयष्ठक्, स च सांख्यमतावलम्बी आत्मनस्तृणकुब्जीकरणेऽप्यसामर्थ्याभ्युपगमात् भूतात्मिकायाश्च प्रकृतेः सर्वत्र कर्तृत्वाभ्यु-पगमात् द्रष्टव्यो, लोकायतमतावलम्बी वा नास्तिको भूतव्यतिरिक्तनास्तित्वाभ्युपगमादाख्यायते, प्रथमपुरुषाद-नन्तरमयं पञ्चभूतात्मवाद्यभिधीयते चेति। अत्र च प्रथमपुरुषगमेन 'इह खलु पाइणं वा इत्यादिको ग्रन्थः'सुपण्णते भवति' इत्येतत्पर्यवसानोऽवगन्तव्य इति। सांप्रतं सांख्यस्य लोकायतिकस्य चाभ्युपगमं दर्शयितुमाह-'इह'-अस्मिन् संसारे द्वितीयपुरुषवक्तव्यताधिकारे वा, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि विद्यन्ते,

सा० १ एव xxxxxxxx ते प्र० ।

महान्ति च तानि भूतानि च महाभूतानि, तेषां च सर्वव्यापितयाऽभ्युपगमात् महत्त्वं, तानि च पञ्चैव, अपरस्य षष्ठस्य क्रियाकर्तृत्वेनानभ्युपगमात्, यैर्हि पञ्चभिर्भूतैरप्यपगम्यमानैः 'नः'-अस्माकं क्रिया-परिस्पन्दात्मिका चेष्टारूपा क्रियते अक्रिया वा-निर्व्यापाररूपतया स्थितिरूपा क्रियते, तथाहि तेषां दर्शनं—सत्त्वरजस्तमोरूपा प्रकृतिर्भूतात्मभूता सर्वा अर्थक्रियाः करोति, पुरुषः केवलमुपभुङ्क्ते, 'बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते' इति वचनात्, बुद्धिश्च प्रकृतिरेव तद्विकारत्वात् तस्याश्च प्रकृतेर्भूतात्मिकायाः सत्त्वरजस्तमसां चयापचयाभ्यां क्रियाक्रिये स्याता-मित्यतो भूतेभ्य एव क्रियादीनि प्रवर्तन्ते, तद्व्यतिरेकेणापरस्याभावादिति भावः । तथा सुष्ठु कृतं सुकृतम् एतच्च सत्त्वगुणाधिक्येन भवति, तथा दुष्टं कृतं दुष्कृतम्, एतदपि रजस्तमसोरुत्कटतया प्रवर्तते, एवं कल्याणमिति वा पापकमिति वा साध्विति वा असाध्विति वा इत्येतत्सत्त्वादीनां गुणानामुत्कर्षानुत्कर्षतया यथासंभवमायोजनीयम् । तथेप्सितार्थनिष्पादने सिद्धिर्विपर्ययस्त्वसिद्धिः निर्वाणं वा-सिद्धिः असिद्धिः—संसारः संसारिणां तथा नरकः-पाप कर्मणां यातनास्थानम् अनरकस्तिर्यङ्मनुष्यामराणाम्, एतत्सर्वं सत्त्वादिगुणाधिष्ठिता भूतात्मिका प्रकृतिर्विधत्ते । लोकायताभिप्रायेणापीहैव तथाविधसुखदुःखावस्थाने स्वर्गनरकावितीत्येवमन्यदप्यणुमात्रमपि यत्कार्यं तद्भूतैरेव प्रधानरूपापन्नैः क्रियते, तथा चोक्तम्—" सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः । गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥१॥" इत्यादि । तदेवं सांख्याभिप्रायेणात्मनस्तृणकुब्जीकरणेऽप्यसामर्थ्याल्लोकायतिकाभि-प्रायेण त्वात्मन एवाभावाद्भूतान्येव सर्वकार्यकर्तृणीत्येवमभ्युपगमः, तानि च समुदायरूपापन्नानि नानास्वभावं

कार्यं कुर्वन्ति। तं च ते तेषां समवायं पृथग्भूतपदोद्देशेन जानीयात्, तद्यथा—पृथिव्येका काठिन्यलक्षणा महाभूतं, तयाऽऽपो द्रवलक्षणा महाभूतं, तथा तेज उष्णोद्योतलक्षणं, तथा वायुर्हृतिकम्पलक्षणः, तथाऽवगाहदानलक्षणं सर्व-द्रव्याधारभूतमाकाशमित्येवं पृथग्भूतो यः पदोद्देशस्तेन कायाकारतया यस्तेषां समवायः स एकत्वेऽपि लक्ष्यते इत्येतानि पूर्वोक्तानि पृथिव्यादीनि, 'संख्या ह्युपादीयमाना संख्यान्तरं निवर्तयती'तिकृत्वा न न्यूनानि नाप्य-धिकानि, विश्वव्यापितया महान्ति, त्रिकालभवनाद्भूतानि, तदेवमेतान्येव पञ्च महाभूतानि—

"प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारस्तस्मात् गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्य पञ्च भूतानि ॥१॥" इत्येवं क्रमेण व्यवस्थितानि,अपरेण कालेश्वरादिना केनचिदनिर्मितानि–अनिष्पादितानि, तथा परेणानिर्मापयितव्यानि, त-थाऽकृतानि न केनचित्तानि क्रियन्ते, अभ्रेन्द्रधनुरादिवद्विस्रसापरिणामेन निष्पन्नत्वात्, तथा न घटवत्कृत्रिमाणि, कर्तृ-करणव्यापारसाध्यानि न भवन्तीत्यर्थः, तथा परव्यापाराभावतया 'नो' नैव कृतकानि, अपेक्षितपरव्यापारः स्वभाव-निष्पत्तौ भावः कृतक इति व्यपदिश्यते, तानि च विस्रसापरिणामेन निष्पन्नत्वात्कृतकव्यपदेशभाञ्जि न भवन्ति, तथा अनाद्यनिधनानि, अवन्ध्यानि–अवश्यकार्यकर्तृणि तथा न विद्यते 'पुरोहितः' कार्यं प्रति प्रवर्तयिता येषां तान्य-पुरोहितानि, स्वतन्त्राणि स्वकार्यकर्तृत्वं प्रत्यपरनिरपेक्षाणि, शाश्वतानि नित्यानि वा 'न कदाचिदनीदृशं जगदि'ति वचनात्, तदेवंभूतानि पञ्च महाभूतान्यात्मषष्ठानि पुनरेके एवमाहुः, आत्मा चाकिञ्चित्करः सांख्यानां लोका-यतिकानां पुनः कायाकारपरिणतान्येव भूतान्यभिव्यक्तचेतनानि आत्मव्यपदेशं भजन्त इति। तदेवं सांख्याभि-

प्रायेण 'सतो' विद्यमानस्य प्रधानादेर्नास्ति 'विनाशः'—अत्यन्ताभावरूपो नाप्यसतः शशविषाणादेः सम्भवः— समुत्पत्तिरस्ति, कारणे कार्यस्य विद्यमानस्यैवोत्पत्तिरिष्टा, नासतः सर्वस्मात्सर्वस्योत्पत्तिप्रसङ्गात्, तथा चोक्तम्—"नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सतः" इत्यादि, तथा असतः खरविषाणादेरकरणादुपादानकारणस्य च मृत्पिण्डादेर्घटार्थिनोपादानादित्यादिभ्यश्च हेतुभ्यः कारणे सत्कार्यवादः। तदेवमेतावानेव तावदिति सांख्यो लोकायतिको वा माध्यस्थ्यमवलम्बमान एवमाह—यथा अस्मद्युक्तिभिर्विचार्यमाणस्तावदेतावानेव जीवकायो यदुत पञ्च महाभूतानि, यतस्तान्येव सांख्याभिप्रायेण प्रधानरूपतामापन्नानि सत्त्वादिगुणोपचयापचयाभ्यां सर्वं कार्यं कुर्वन्ति, आत्मा चाकिञ्चित्करत्वादसत्कल्प एव, लोकायतस्य तु स नास्त्येवेत्यत 'एतावानेव' भूतमात्र एव जीवकायः, तथा एतावानेव—भूतास्तित्वमात्र एवास्तिकायो नापरः कश्चित्कर्मादिकाभिप्रेतः पदार्थोऽस्तीति। तथा एतावानेव सर्वलोको यदुत पञ्च महाभूतानि प्रधानरूपापन्नानि, आत्मा चाकर्ता निर्गुणो सांख्यस्य, लोकायतिकस्य तु पञ्चभूतात्मक एव लोकः, तदतिरिक्तस्यापरस्य पदार्थस्याभावादिति। तथा एतदेव पञ्चभूतास्तित्वं 'मुखं'—कारणं लोकस्य, एतदेव च कारणतया सर्वकार्येषु व्याप्रियते, तथाहि—सांख्यस्य प्रधानात्मरूपा सृष्टिरुपजायते, लोकायतिकस्य तु भूतान्येव अन्ततस्तृणमात्रमपि कार्यं कुर्वन्ति, तदतिरिक्तस्यापरस्याभावादिति भावः॥

न चैवं वादिन्यात्मनोऽकिञ्चित्करत्वादन्यत्र चात्मनोऽसत्त्वादसदनुष्ठानैरप्यात्मा पापैः कर्मभिर्न बध्यत इति (मन्यते तद्) दर्शयितुमाह—'से किणं' मित्यादि। 'से' त्ति स इति यः कश्चित्पुरुषः कृषार्थी 'क्रीणन्' किञ्चित् क्रयेण गृह्णंस्त

प्राणिनो घ्नन्–हिंसन् तथा परैर्घातयन्–व्यापादयन् तथा पचनपाचनादिकां क्रियां कुर्वंस्तथाऽपरं क्रापयंस्तथा प्राणिनो घ्नन्–हिंसन् तथा परैर्घातयन्–व्यापादयन् तथा पचनपाचनादिकां क्रियां कुर्वंस्त-
थाऽपरं क्रापयंस्तथा प्राणिनो घ्नन्–हिंसन् तथा परैर्घातयन्–व्यापादयन् तथा पचनपाचनादिकां क्रियां कुर्वंस्त-
थाऽपरैश्च पाचयन्, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् (अनुमोदयन्) क्रीणतः क्रापयतो घ्नतो घातयतः पचतः पाचयतश्च
तत्रापरांस्तथा अप्यन्तशः पुरुषमपि पञ्चेन्द्रियं विक्रीय घातयित्वा, अपि पञ्चेन्द्रियघाते नास्ति दोषोऽत्र एवं
'जानीहि'–अवगच्छ, किं पुनरेकेन्द्रियवनस्पतिघात इत्यपिशब्दार्थः। ततश्चैवंवादिनः सांख्या बार्हस्पत्या वा
'नो' नैव 'एतद्' वक्ष्यमाणं 'विप्रतिवेदयन्ति'–जानन्ति, तद्यथा–क्रिया–परिस्पन्दात्मिका सावद्यानुष्ठानरूपा
एवमक्रिया वा–स्थानादिलक्षणा यावदेवमेव 'विरूपरूपैः'–उच्चावचैर्नानाप्रकारैर्जलस्नानावगाहनादिकैस्तथा
प्राण्युपमर्दकारिभिः कर्मसमारम्भैः 'विरूपरूपान्'–नानाप्रकारान् सुरापानमांसभक्षणागम्यगमनादिकान् काम-
भोगान् समारभन्ते स्वतः, परांश्च चोदयन्ति—नास्त्यत्र दोष इत्येवं प्रतार्यासत्कार्यकरणाय प्रेरयन्ति, एवं च
तेऽनार्या अनार्यकर्मकारित्वादार्यान्मार्गाद्विरुद्धं मार्गं प्रतिपन्नाः–विप्रतिपन्नाः, तथाहि–सांख्यानामचेतनत्वात्प्रकृतेः
कार्यकर्तृत्वं नोपपद्यते, अचेतनत्वं तु तस्याः 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूप'मिति वचनात्, आत्मैव प्रतिबिम्बोदय-
न्यायेन करिष्यतीति चेत्तदपि न युक्तिसंगतं, यतोऽकर्तृत्वादात्मनो नित्यत्वाच्च प्रतिबिम्बोदयो न युज्यते, किं च–
नित्यत्वात्प्रकृतेर्महदादिविकारतया नोत्पत्तिः स्यात्, अपि च–'नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सत' इत्या-
द्यभ्युपगमात्प्रधानात्मनोरेव विद्यमानत्वान्महदहङ्कारादेरनुत्पत्तिरेव, एकत्वाच्च प्रकृतेरेकात्मवियोगे सति सर्वात्म-
नां वियोगः स्याद् एकसंबन्धे वा सर्वात्मनां प्रकृतिसंयोगो न पुनः कस्यचित्तत्त्वपरिज्ञानात् प्रकृतिवियोगे

मोक्षोऽपरस्य तु विपर्ययात् संसार इति, एवं जगद्वैचित्र्यं न स्यात्, आत्मनश्चाकर्तृत्वे तत्कृतौ बन्धमोक्षौ न स्याताम्, एतच्च प्रागेवाभिहितम्। नापि कारणे सत्कार्यवादो, युक्तिभिरनुपपद्यमानत्वात्, तथाहि—मृत्पिण्डावस्थायां घटोत्पत्तेः प्राग्घटसंबन्धिनां कर्मगुणव्यपदेशानामभावात्, घटार्थिनां च क्रियासु प्रवृत्तेर्न कारणे कार्यमिति। लोकायतिकस्यापि भूतानामचेतनत्वात्कर्तृत्वानुपपत्तिः, कायाकारपरिणतानां चैतन्याभिव्यक्त्यभ्युपगमे च मरणाभावप्रसङ्गः स्यात्, तस्मान्न पञ्चभूतात्मकं जगदिति स्थितम्। अपि च—इदं ज्ञानं स्वसंविदितमात्मानं धर्मिणमुपस्थापयति, न च भूतान्येव धर्मित्वेन परिकल्पयितुं युज्यन्ते, तेषामचेतनत्वात्, अथ कायाकारपरिणतानां चैतन्यं धर्मो भविष्यतीत्येतदप्ययुक्तं, यतः कायाकारपरिणाम एव तेषामात्मानमधिष्ठातारमन्तरेण न भवितुमर्हति, निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात्, निर्हेतुकत्वे च नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यादिति। तदेवं भूतव्यतिरिक्त आत्मा, तस्मिंश्च सति तत्सदनुष्ठानतः पुण्यपापे, ततश्च जगद्वैचित्र्यसिद्धिरिति। एवं च व्यवस्थिते तेऽनार्याः सांख्या लोकायतिका वा पञ्चमहाभूतप्रधानाभ्युपगमेन विप्रतिपन्ना यत्कुर्युस्तद्दर्शयितुमाह—' ते सद्दहमाणा' इत्यादि। 'तम्' आत्मीयमभ्युपगमं पूर्वोक्तया नीत्या निर्युक्तिकमपि श्रद्दधानाः पञ्चमहाभूतात्मकप्रधानस्य सर्वकार्याणि उपगच्छन्ति, तदेव च सत्यमित्येवं 'प्रतियन्तः'—प्रतिपद्यमानास्तथैव चात्मीयमभ्युपगमं रोचयन्तस्तद्धर्मस्याख्यातारं प्रशंसयन्तः, तद्यथा—स्वाख्यातो भवता धर्मोऽस्माकमयमत्यन्तमभिप्रेत इत्येवं ते तदध्यवसायाः—साधनानुष्ठानेनाप्यपवर्गो न भवतीत्यध्यवसायिनः लोकसेतु मूर्च्छिता इत्येवं पूर्ववच्चोयं यावदन्तरे कामभोगेषु विषण्णा ऐहिकामुष्मिकोभय

कार्यभ्रष्टा नात्मत्रा(नस्त्रा)णाय नापि परेषामिति । भवत्येवं द्वितीयः पुरुषजातः पञ्चमहाभूताभ्युपगमिको व्याख्यात इति । साम्प्रतमीश्वरकारणिकमधिकृत्याह—

अहावरे तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिए इति आहिज्जइ, इह खलु पादीणं वा ६ संतेगतिया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना, तं०-आरिया वेगे जाव तेसिं च णं महंते एगे राया भवइ जाव सेणावइपुत्ता, तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ, कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए जाव जहा मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवइ । इह खलु धम्मा पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूया पुरिसपज्जोतिता पुरिसअभिसमण्णागया पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति, से जहाणामए गंडे सिया सरीरे जाए सरीरे संवुड्ढे सरीरे अभिसमण्णागए सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्मा पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति । से जहाणामए अरई सिया सरीरे जाया सरीरे संवुड्ढा सरीरे अभिसमण्णागया सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति । से जहाणामए वम्मिए सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्ढे पुढविअभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति । से जहाणामए रुक्खे सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्ढे पुढविअभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति,एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव

पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति। से जहाणामए पुक्खरिणी सिया पुढविजाया जाव पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहा णामए उदगपुक्खले सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति। से जहाणामए उदगबुब्बुए सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति। जंपिय इमं समणाणं णिग्गंथाणं उद्दिट्ठं पणीयं वियंजियं दुवालसंगं गणिपिडयं, तंजहा—आयारो सूयगडो जाव दिट्ठिवातो, सव्वमेयं मिच्छा, ण एयं तहियं, ण एयं आहातहियं, इमं सच्चं इमं तहियं इमं आहातहियं, ते एवं सन्नं कुव्वंति, ते एवं सन्नं संठवेंति, ते एवं सन्नं सोवट्ठवयंति, तमेवं ते तज्जाइयं दुक्खं णातिउट्टंति सउणी पंजरं जहा। ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तंजहा—किरिया इ वा जाव अणिरए इ वा, एवामेव ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए, एवामेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना एवं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णेत्ति, तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिएत्ति आहिए॥ (सूत्रम्-११)॥

अथ द्वितीयपुरुषादनन्तरं तृतीय ईश्वरकारणिक आख्यायते, समस्तस्यापि चेतनाचेतनरूपस्य जगत ईश्वरः

कारणं, प्रमाणं चात्र-तनुभुवनकरणादिकं धर्मित्वेनोपादीयते, ईश्वरकर्तृकमिति साध्यो धर्मः, संस्थानविशेषत्वात् कूपदेवकुलादिवत् तथा स्थित्वा २ प्रवृत्तेर्वास्यादिवत्, उक्तं च—

“अज्ञो जन्तुरनीशः सुःखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ १ ॥” इत्यादि। तथा ‘पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्य’मित्यादि, तथा चोक्तम्—

“एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते प्रतिष्ठितः। एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवद् ॥ १ ॥”

इत्यादि, तदेवमीश्वरकारणिक आत्माद्वैतवादी वा तृतीयः पुरुषजात आख्यायते। “इह खलु” इत्यादि। इहैव पुरुषजातप्रस्तावे, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, प्राच्यादिषु दिक्ष्वन्यतमस्यां दिशि व्यवस्थितः कश्चिदेवं ब्रूयात्, तद्यथा-राजानमुद्दिश्य तावद्यावत्स्वाख्यातः सुप्रज्ञप्तो धर्मो भवति। स चायम्-इह खलु धर्माः-स्वभावाश्चेतना-चेतनरूपाः पुरुष-ईश्वर आत्मा वा कारणमादिर्येषां ते पुरुषादिका ईश्वरकारणिका आत्मकारणिका वा, तथा पुरुष एवोत्तरं-कार्यं येषां ते पुरुषोत्तराः, तथा पुरुषेण प्रणीताः सर्वस्य तदधिष्ठितत्वात् तदात्मकत्वाद्वा, तथा पुरुषेण द्योतिताः—प्रकाशीकृताः प्रदीपमणिसूर्यादिनेव घटपटादय इति। ते च धर्मा जीवानां जन्मजरामरण-व्याधिरोगशोकसुजदुःखजीवनादिकाः, अजीवधर्मास्तु मूर्तिमतां द्रव्याणां वर्णगन्धरसस्पर्शा अमूर्तिमतां च धर्मा-धर्माकाशानां गत्यादिका धर्माः, सर्वेऽपीश्वरकृता आत्माद्वैतवादे वाऽऽत्मविवर्ताः, सर्वेऽप्येते पुरुषमेवाभिभूय-अभिव्याप्य तिष्ठन्ति। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तानाविर्भावयन्नाह-‘से जहाणामए’ इत्यादि। सेशब्दस्तच्छब्दार्थे,

नामशब्दः सम्भावनायां, तद्यथा नाम गण्ड 'स्यात्'-भवेत्, संभाव्यते च शरीरिणां संसारान्तर्गतानां कर्मवशगानां गण्डादिसम्भवः, तच्च शरीरे जातं-शरीरजातं शरीरावयवभूतं, तथा शरीरे वृद्धिमुपगतं-शरीराभिवृद्धो च तस्याभिवृद्धिः, तथा शरीरेऽभिसमन्वागतं-शरीरमाभिमुख्येन व्याप्य व्यवस्थितं, न तदवयवोऽपि शरीरात्पृथग्भूत इति भावः, तथा शरीरमेवाभिभूय-आभिमुख्येन पीडयित्वा तिष्ठति, यदि वा तदुपशमे शरीरमेवाश्रित्य तद्गण्डं तिष्ठति न शरीराद्बहिर्भवति, एतदुक्तं भवति-यथा तत्पिटकं शरीरैकदेशभूतं न युक्तिशतेनापि शरीरात्पृथग्दर्शयितुं शक्यते, एवमेवामी धर्माश्चेतनाचेतनरूपास्ते सर्वेऽपीश्वरकर्तृका न ते ईश्वरात्पृथक्कर्तुं पार्यन्ते, यदि वा सर्वव्यापिन आत्मनस्त्रैलोक्योदरविवरवर्तिनश्चात्मनो ये केचन धर्माः प्रादुष्यन्ति ते पृथक्कर्तुं न शक्यन्ते, यथा तद्गण्डं शरीरविकारभूतं तदपृथग्भूतं तद्विनाशे च शरीरमेवावतिष्ठते, एवमेव सर्वेऽपि धर्माः पुरुषादिकाः पुरुषकारणिकाः पुरुषविकाररूपा वा न पुरुषात्पृथग्भवितुमर्हन्ति तद्विकारापगमे चात्मानमेवाभिव्याप्यावतिष्ठन्ते-न तथा बहिर्भवन्तीति, व्यासे च दृष्टान्तप्राचुर्यमविरुद्धं, यदि वाऽस्मिन्नर्थे बहवो दृष्टान्ताः संभवन्तीश्वरकर्तृत्ववादस्यास्माद्वैतवादस्य च सुप्रसिद्धत्वात्दृष्टान्तबहुत्वमित्याह-'से जहा'-इत्यादि। तद् यथा नामारतिः-चित्तोद्वेगलक्षणा 'स्यात्'-भवेत्, सा च शरीरजाता इत्यादि गण्डवन्नेया, दार्ष्टान्तिकेऽप्येवमेव, सर्वे धर्माः पुरुषादिकाः पुरुषप्रभवा इत्यादि पूर्ववन्नेयम्। तथा तद् यथा नाम वल्मीकं-पृथ्वीविकाररूपं स्यात्, तच्च पृथिव्यां जातं पृथिवीसंवृद्धं पृथिव्यभिसमन्वागतं पृथिवीमेवाभि[सं]भूय तिष्ठति, एवमेव भवेतचेतनाचेतनरूपं तत्सर्वमीश्वरकारणिकमात्म-

विवर्तरूपं वा नात्मनः पृथग्भवितुमर्हति, पृथिव्या वल्मीकवत् । तथा तत् यथा नाम वृक्षोऽशोकादिकः स्यात् स च पृथिवीजात इत्यादि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिके पूर्ववदायोज्ये, तद् यथा नाम पुष्करिणी स्यात्-तडागरूपा भवेत्, साऽपि पृथिव्यामेव जातेत्यादि प्राग्वच्चर्च्यः, तथा तद् यथा नाम पुष्कलं-प्रचुरमुदकपुष्कलम्-उदकप्राचुर्यं तच्च तद्धर्मत्वादुदकमेव यावदुदकमेवाभिभूय तिष्ठत्येवं दार्ष्टान्तिकेऽप्यायोज्यं, तथा तद् यथा नामोदकबुद्बुदः स्याद्, अत्रापि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिके, न तस्मादवयविनः पृथग्भूत इति सुगमम् । तदेवं यदीश्वरकृतत्वेनाभ्युपगम्यते तत्सर्वं तथ्यमपरं तु मिथ्या इत्येतदाविर्भावयन्नाह—"जंपियं" इत्यादि । यदपि चेदं संव्यवहारतः प्रत्यक्षासन्नभूतं 'श्रमणानां' यतीनां 'निर्ग्रन्थानां' निष्किञ्चनानामुद्दिष्टं तदर्थं प्रणीतं-व्यञ्जितं—तेषामभिव्यक्तीकृतं द्वादशाङ्गं गणिपिटकं तद्यथा—आचार इत्यादि, यावद्दृष्टिवादः; सर्वमेतन्मिथ्या अनीश्वरप्रणीतत्वात् स्वरुचिविरचितरथ्यापुरुषवाक्यवत्, तथा नैतत्तथ्यं, मिथ्येत्यनेनाभूतोद्भावनत्वमाविष्कृतचौरचौरत्ववत् ,नैतत्तथ्यमित्यनेन तु सद्भूतार्थनिह्नवो यथा नास्त्यात्मेति,तथा नैतद्याथातथ्यम्—यथाऽवस्थितोऽर्थो न तथाऽवस्थितमिति भावः अनेन सद्भूतार्थनिह्नवेनासद्भूतार्थारोपणमाविष्कृतं, तद् यथा गामश्वं ब्रुवतोऽश्वं वा गामिति, एकार्थिकानि वैतानि शक्रेन्द्रादिवद्द्रष्टव्यानि । तदेवं यदेतद्-द्वादशाङ्गं गणिपिटकं तदनीश्वरप्रणीतत्वान्मिथ्येति स्थितम् , इदं तु पुनरीश्वरकर्तृकत्वं नामात्माद्वैतं वा सत्यं यथाऽवस्तितार्थप्रतिपादनात् । तथेदमेव तथ्यं सद्भूतार्थोद्भासनात् , तदेवं ते ईश्वरकारणिका आत्माद्वैतवादिनो वा 'एवम्' अनन्तरोक्तया नीत्या सर्वं तनुभुवनकरणादिकमीश्वरकारणिकं तथा सर्वं चेतनमचेतनं वाऽऽत्म-

नामगण्डः संभावनायां, तद्यथा नाम गण्ड 'स्यात्'-भवेत्, समाप्यते च शरीरिणां संसारान्तर्गतानां कर्मवशगानां गण्डादिसमुद्भवः, तच्च शरीरे जात-शरीरजातं शरीरावयवभूतं, तथा शरीरे संवृद्धं-शरीराभिवृद्ध्या च तस्याभिवृद्धिः, तथा शरीरेऽभिसमन्वागतं-शरीरमाभिमुख्येन व्याप्य व्यवस्थितं, न तदवयवोऽपि शरीरात्पृथग्भूत इति भावः, तथा शरीरमेवाभिभूय-आभिमुख्येन पीडयित्वा तिष्ठति, यदि वा तदुपशमे शरीरमेवाभिव्याप्य तद्गण्डं तिष्ठति न शरीराद्बहिर्भवति, एतदुक्तं भवति-यथा तत्पिटकं शरीरैकदेशभूतं न युक्तिशतेनापि शरीरात्पृथग्दर्शयितुं शक्यते, एवमेवामी धर्माश्चेतनाचेतनरूपास्ते सर्वेऽपीश्वरकर्तृका न ते ईश्वरात्पृथक्कर्तुं पार्यन्ते, यदि वा सर्वव्यापिन आत्मनस्त्रैलोक्योदरविवरवर्तिपदार्थात्मनो ये केचन धर्माः प्रादुष्यन्ति ते पृथक्कर्तुं न शक्यन्ते, यथा तद्गण्डं शरीरविकारभूतं तदपृथग्भूतं तद्विनाशे च शरीरमेवानुतिष्ठते, एवमेव सर्वेऽपि धर्माः पुरुषादिकाः पुरुषकारणिकाः पुरुषविकाररूपा वा न पुरुषात्पृथग्भवितुमर्हन्ति तद्विकारापगमे चात्मानमेवाभिव्याप्यावतिष्ठन्ते-न तस्माद्बहिर्भवन्तीति, शास्त्रे च दृष्टान्तप्राचुर्यमविरुद्धं, यदि वाऽस्मिन्नर्थे बहवो दृष्टान्ताः संभवन्तीश्वरकर्तृत्ववादस्यास्मात्प्रतिवादस्य च सुप्रसिद्धत्वाद्दृष्टान्तबहुत्वमित्याह-'से जहा'-इत्यादि। तद्यथा नामारतिः-चित्तोद्वेगलक्षणा 'स्यात्'-भवेत्, सा च शरीरजाता इत्यादि गण्डवन्नेया, दार्ष्टान्तिकेऽप्येवमेव, सर्वे धर्माः पुरुषादिकाः पुरुषप्रभवा इत्यादि पूर्ववन्नेयम्। तथा तद्यथा नाम वल्मीकं-पृथ्वीविकाररूपं स्यात्, तच्च पृथिव्यां जातं पृथिवीसंवृद्धं पृथिव्यभिसमन्वागतं पृथिवीमेवाभि[सं]भूय तिष्ठति, एवमेव यदेतच्चेतनाचेतनरूपं तत्सर्वमीश्वरकारणिकमात्म-

किञ्च[३] असावीश्वरो महापुरुषतया वीतरागतोपेतः सन्नेकान्नरकयोग्यासु क्रियासु प्रवर्तयत्यपरांस्तु स्वर्गापवर्गयोग्यास्विति ?, अथ ते पूर्वशुभाशुभाचरितो[१]दयादेव तथाविधासु क्रियासु प्रवर्तन्ते, स तु निमित्तमात्रम्, तदपि न युक्तिसंगतं, यतः प्राक्तनाशुभप्रवर्तनमपि तदायत्तमेव, तथा चोक्तम्–"अज्ञो जन्तु"रित्यादि, अथ तदपि प्राक्तनमन्येन प्राक्तनतरेण कारितमिति, एवमनादिहेतुपरम्परेति, एवं च सति तत एव शुभाशुभे स्थाने भविष्यतः किमीश्वरपरिकल्पनेन ?, तथा चोक्तम्—

"शस्त्रौषधादिसंबन्धाच्चैत्रस्य व्रणरोहणे। असंबद्धस्य किं स्थाणोः, कारणत्वं न कल्प्यते? ॥ १ ॥" इत्यादि।

यच्चोक्तं–सर्वं तनुभुवनकरणादिकं बुद्धिमत्कारणपूर्वकं संस्थानविशेषत्वात् देवकुलादिवदिति, एतदपि न युक्तिसंगतं, यत एतदपि साधनं न भवदभिप्रेतमीश्वरं साधयति, तेन सार्धं व्याप्त्यसिद्धेः, देवकुलादिके दृष्टान्तेऽनीश्वरस्यैव कर्तृत्वेनाभ्युपगमात्, न च संस्थानशब्दप्रवृत्तिमात्रेण सर्वस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वं सिध्यति, अन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणस्य साध्यसाधनयोः प्रतिबन्धस्याभावात्, अथाविनाभावमन्तरेणैव संस्थानमात्रदर्शनात्साध्यसिद्धिः स्याद्, एवं च सत्यतिप्रसङ्गः स्यात्, उक्तं च—

"अन्यथा कुम्भकारेण, मृद्विकारस्य कस्यचित्। घटादेः करणात्सिद्ध्येद्वल्मीकस्यापि तत्कृतिः ॥ १ ॥"

इत्यादि। न चेश्वरकर्तृत्वे जगद्वैचित्र्यं सिध्यति, तस्यैकरूपत्वादित्युक्तप्रायमिति। आत्माद्वैतपक्षस्त्वत्यन्तम-

३ किं चा०। १ पूर्वाशुभ०

विरज्यमानम्, आत्मन एव सर्वोत्तमत्वेनोत्पन्नरित्येव संज्ञान संज्ञां तामेव कुर्वन्त्यन्येषां च ते स्वदर्शनानुरक्तमनसां सम्यं संस्थापयन्ति, यथा त एव एवंभूता सन्तो वक्ष्यमाणेन न्यायेन निर्युक्तिकामपि सुष्ठु उप-सामीप्येन तदा र्शिनया नरमिंसुग्रा सुष्टीर्निर्गताः 'स्थापयन्ति'-प्रतिष्ठापयन्ति । ते चैव वादिनस्तमीश्वरकर्तृत्ववादमारमाद्वैत-वादं वा नातिवर्तन्ते, यदभ्युपगमज्ञातीय च तु मे—दुःखहेतुत्वाद्दुःख नातिवर्तन्ते, न त्रोटयन्ति वा, अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह—यथा शकुनि-पक्षिविशेषो लावकादिकः पञ्जरं नातिवर्तते पौन पुन्येन भ्रान्त्वा तत्रैव वर्तते, एव मेऽप्यभ्युपगमवादिनस्तत्पादितक्रमबन्धनं नातिवर्तन्ते न वा त्रोटयन्ति । ते च स्वाग्रहाभिमानग्रहग्रस्ता नैतदस्यमार्ग वियतिपेदयन्ति-न सम्यग् जानन्ति, तद्यथा-इयं क्रिया-सदनुष्ठानरूपेय चाक्रिया-तद्विपरी तेतेषं प्रायश्चित्तो नाप्य्‌ शोभनमशोभनं वा यावदपमनरक इत्येव सदसद्विवेकरहितत्वादामावधारयन्ति, एवमेव यथाऽऽरम्भिणो विरूपरूपैः कर्मसमारम्भैः—नानाप्रकारैः सावद्यानुष्ठानैर्द्रव्योपार्जनोपायभूतैर्द्रव्यमुपादाय विरूप रूपान्कामभोगानुपादायात्मसात्कुर्वन्ति भोजनाय-उपभोगार्थमित्येवमनायास्ते विरुद्ध मार्गे प्रतिपन्ना विप्रतिपन्ना न सम्यग्वादिनो भवन्ति, तथाहि—सर्वमीश्वरकर्तृकमित्यस्याभ्युपगमे किमसावीश्वरः स्वत एवापरान् क्रियासु प्रवर्त (य)ते उतापरेण प्रेरितः ?, यदि स्वत एव तदा तद्वदन्येषामपि स्वत एव क्रियासु प्रवृत्तिर्भविष्यति किमन्तर्गडुने श्वरपरिकल्पनेन ?, अथापरेणापि प्रेरितः, सोऽप्यपरेण सोऽप्यपरेणेत्येवमनवस्थालता नभोमण्डलमालिनी प्रसर्पति ।

१ [illegible] २ । २ [illegible] ।

णोकिरियमाइक्खइ दोवि ते पुरिसा तुल्ला एगट्ठा, कारणमावन्ना । बाले पुण एवं विप्पडिवेदेंति कारणमावन्ने अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा अहमेयमकासि परो वा जं दुक्खइ वा सोयइ वा जूरइ वा तिप्पइ वा पीडइ वा परितप्पइ वा परो एवमकासि, एवं से बाले सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेंति कारणमावन्ने । मेहावी पुण एवं विप्पडिवेदेंति कारणमावन्ने-अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा, णो अहं एवमकासि, परो वा जं दुक्खइ वा जाव परितप्पइ वा णो परो एवमकासि, एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेंति कारणमावन्ने, से बेमि पाईणं वा ६ जे तसथावरा पाणा ते एवं संघायमागच्छंति ते एवं विपरियासमावज्जंति ते एवं विवेगमागच्छंति ते एवं विहाणमागच्छंति ते एवं संगतियंति उवेहाए, णो एवं विप्पडिवेदेंति, तं जहा-किरियाति वा जाव णिरएति वा अणिरएति वा, एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए । एवमेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना तं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसण्णा ॥ चउत्थे पुरिसजाए णियइवाइएत्ति आहिए । इच्चेते चत्तारि पुरिसजाया णाणापन्ना, णाणाछंदा, णाणासीला, णाणादिट्ठी णाणारूई,

युक्तिसंगततामाधयपीय, तथाहि—तत्र न प्रमाणं न प्रमेयं न प्रतिपाद्य न प्रतिपादको न हेतुर्न दृष्टान्तो न तदाभासो भेदेनावगम्यते, सर्वस्यैव जगत एकस्य स्यात् आत्मनोऽभिन्नत्वात्, तदभावे च कः केन प्रतिपाद्यते ? इत्यप्रपञ्चनमेव श्रेयस्, आत्मनश्चैकत्वात्कार्यमप्येकाकारमेव स्यादित्यतो निर्हेतुकं जगद्वैचित्र्यं, तथा च सति—

" नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात्। अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसंभवः ॥१॥" इत्यादि। तदेवमीश्वरकर्तृत्वमात्माद्वैतपक्षश्च युक्तिभिर्विचार्यमाणो न कथञ्चित् घटां प्राञ्चति, तथापि एते स्वदर्शनमोहमोहितास्तत्प्रतीपाद्यत्वात् शकुनिः पञ्जरादिव नातिमुच्यन्ते, विप्रतिपन्नाश्च तत्प्रतिपादिकाभिर्युक्तिभिस्तदेव स्वपक्षं प्रतिपन्ति भवन्तीति पूर्ववदेव यावत् 'णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसण्ण'त्ति इत्ययं तृतीयः पुरुषजात ईश्वरकारणिक इति। स चैवमाह—"यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिदं जगत्। आकाशमिव पङ्केन, नासौ पापेन लिप्यते ॥१॥" इत्याद्यसमञ्जसभाषितया त्यक्त्वा पूर्वसंयोगमप्राप्तो विवक्षितं स्थानमन्तराल एव कामभोगेषु मूर्च्छितो विषण्ण इत्यवगन्तव्यमिति। साम्प्रतं चतुर्थपुरुषजातमधिकृत्याह—

अहावरे चउत्थे पुरिसजाए णियतिवाइएत्ति आहिज्जइ, इह खलु पाईणं वा ६ तहेव जाव सेणावइपुत्ता वा, तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ, कामं तं समणा य माहणा य संपहारिंसु गमणाए जाव मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवइ। इह खलु दुवे पुरिसा भवंति—एगे पुरिसे किरियमाइक्खइ एगे पुरिसे णोकिरियमाइक्खइ, जे य पुरिसे किरियमाइक्खइ जे य पुरिसे

कारकालेश्वरवादीत्यादिकः, पुनरिति विशेषणार्थः[1], तदेव दर्शयति–'एव'मिति वक्ष्यमाणनीत्या 'विप्रतिवेदयति'–जानीते कारणमापन्नैः सुखदुःखयोः सुकृतदुष्कृतयोर्वा स्वकृत एव पुरुषकारः कालेश्वरादिर्वा कारणमित्येवमभ्युपपन्नो नान्यन्नियत्यादिकं कारणमस्तीति, तदेवाह–तद्यथा–योऽहमस्मि 'दुक्खामि'त्ति शारीरं मानसं दुःखमनुभवामि तथा शोचामि—इष्टानिष्टवियोगसंप्रयोगकृतं शोकमनुभवामि, तथा 'तिप्पामि'त्ति शारीरबलं क्षरामि, तथा 'पीडामि'त्ति सबाह्याभ्यन्तरया पीडया पीडामनुभवामि, तथा 'परितप्पामि'त्ति परितापमनुभवामि, तथा 'जूरामि'त्ति अनार्यकर्मणि प्रवृत्तमात्मानं गर्हामि, अनर्थावाप्तौ विसूरयामित्यर्थः, तदेवं यदहं दुःखमनुभवामि तदहमेवाकार्षं, परपीडया कृतवानस्मीत्यर्थः तथा परोऽपि यद्दुःखशोकादिकमनुभवति मयि वाऽऽपादयति तत्स्वयमेव कृतमिति, तदेव दर्शयति–'परो वे'त्यादि, तथा परोऽपि यन्मां दुःखयति शोचयतीत्यादि प्राग्वन्नेयं तत्सर्वमहमकार्षमित्येवं द्वाभ्यामाकलितोऽज्ञो वा बाल एवं 'विप्रतिवेदयति'–जानीते स्वकारणं वा परकारणं वा सर्वं दुःखादि पुरुषकारकृतिमिति जानीते एवं पुरुषकारकारणमापन्न इति ॥ तदेवं नियतिवादी पुरुषकारकारणवादिनो बालत्वमापाद्य स्वमतमाह–मेधा–मर्यादा प्रज्ञा वा तद्वान् मेधावी–नियतिवादपक्षाश्रयी एवं 'विप्रतिवेदयति–जानीते, कारणमापन्न इति नियतिरेव कारणं सु(दुः)खाद्यनुभवस्य, तद्यथा–योऽहमस्मि दुःखयामि–

सा० १ युक्त्यन्तरोपन्यासार्थं प्र० । २ ०न्न, कारणमुद्दिश्य वक्ष्यमाणाच्च कारणात् नियतिरेव कर्त्री न पुरुषकारादिकमिति भाव, तदेव नियतिवादसमर्थनकारण दर्शयति, तद्यथा–योऽह० प्र० ।

णाणारंभा, णाणाअज्झवसाणसजुत्ता, पहीणपुव्वसंजोगा, आरिय मग्ग असपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसण्णा ॥ (सूत्रम्–१२) ॥

'अहावरे' इत्यादि, अथ तृतीयपुरुषादनन्तरमपरश्चतुर्थः पुरुष एव पुरुषजातो नियतिवादिक आख्यायते–प्रतिपाद्यते, स चैवमाह—नात्र कश्चित्कालेश्वरादिकः कारणं नापि पुरुषकारः, समानक्रियाणामपि कस्यचिदेव नियतिवलादर्थसिद्धेः, अतो नियतिरेव कारणम्, उक्तं च–"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा। भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥ १ ॥" इत्यादि ॥ 'इह खलु पाईणं' इत्यादिको ग्रन्थः प्राग्वदेतव्यो यावदेष धर्मो—नियतिवादरूपः स्वाख्यातः–सुप्रज्ञप्तो भवतीति । स च नियतिवादी स्वाभ्युपगमं दर्शयितुमाह–'इह खलु दुवे पुरिसा भवन्ती'त्यादि, 'इह'–अस्मिन् जगति सद्भावो वास्याद्भारे, द्वौ पुरुषौ भवतः, तत्रैकः क्रियामाख्याति, क्रिया हि देशाद्देशान्तरावाप्तिलक्षणा पुरुषस्य भवति, न कालेश्वरादिना चोदितस्य भवति, अपि तु नियतिप्रेरितस्य, एवमक्रियाऽपि । यदि तावस्वतन्त्रौ क्रियावादमक्रियावादं च समाश्रितौ तौ द्वावपि नियत्यधीनत्वात्तुल्यौ, यदि पुनस्तौ स्वतन्त्रौ भवतस्ततः क्रियाऽक्रियामेवाश्च तुल्यौ स्यातामिति, अत एकार्थविककारणार्पभत्वादिति, नियतिवशेनैव तौ नियतिवादमनियतिवाद चाभितावितिः भावः । उपलक्षणार्थत्वाच्चास्यान्योऽपि य कश्चित्कालेश्वरादिपक्षान्तरमाश्रयति सोऽपि नियतिचोदित एव द्रष्टव्य इति ॥ साम्प्रतं नियतिवादी परमतोद्विभावयिषयाऽऽह–'बालः'–अज्ञः पुरुष

सा १ वत्त प्र । २ पुनरपि नियतिवादेन स्वपक्षमन्यथा समर्थयितुमाह प्र ।

कारकालेश्वरवादीत्यादिकः, पुनरिति विशेषणार्थः[1], तदेव दर्शयति—'एव'मिति वक्ष्यमाणनीत्या 'विप्रतिवेदयति'—
जानीते कारणमापन्नः[2] सुखदुःखयोः सुकृतदुष्कृतयोर्वा स्वकृत एव पुरुषकारः कालेश्वरादिर्वा कारणमित्येवम-
भ्युपपन्नो नान्यन्नियत्यादिकं कारणमस्तीति, तदेवाह—तद्यथा—योऽहमस्मि 'दुक्खामि'त्ति शारीरं मानसं दुःख-
मनुभवामि तथा शोचामि—इष्टानिष्टवियोगसंप्रयोगकृतं शोकमनुभवामि, तथा 'तिप्पामि'त्ति शारीरबलं
क्षरामि, तथा 'पीडामि'त्ति सबाह्याभ्यन्तरया पीडया पीडामनुभवामि, तथा 'परितप्पामि'त्ति परितापमनुभ-
वामि, तथा 'जूरामि'त्ति अनार्यकर्मणि प्रवृत्तमात्मानं गर्हामि, अनर्थावासौ विसूरयामित्यर्थः, तदेवं यदहं दुःख-
मनुभवामि तदहमेवाकार्षं, परपीडया कृतवानस्मीत्यर्थः तथा परोऽपि यद्दुःखशोकादिकमनुभवति मयि वाऽऽ-
पादयति तत्स्वयमेव कृतमिति, तदेव दर्शयति—'परो वे'त्यादि, तथा परोऽपि यन्मां दुःखयति शोचयतीत्यादि
प्राग्वन्नेयं तत्सर्वमहमकार्षमित्येवं द्वाभ्यामाकलितोऽज्ञो वा बाल एवं 'विप्रतिवेदयति'—जानीते स्वकारणं वा पर-
कारणं वा सर्वं दुःखादि पुरुषकारकृतिमिति जानीते एवं पुरुषकारकारणमापन्न इति॥ तदेवं नियतिवादी पुरुषकार-
कारणवादिनो बालत्वमापाद्य स्वमतमाह—मेधा—मर्यादा प्रज्ञा वा तद्वान् मेधावी—नियतिवादपक्षाश्रयी एवं 'विप्र-
तिवेदयति—जानीते, कारणमापन्न इति नियतिरेव कारणं सु(दुः)खाद्यनुभवस्य, तद्यथा—योऽहमस्मि दुःखयामि—

सा० १ युक्त्यन्तरोपन्यासार्थ प्र० । २ ०श्च, कारणमुद्दिश्य वक्ष्यमाणाच्च कारणात् नियतिरेव कर्त्री न पुरुषकारादिकमिति भाव, तदेव नियतिवादसमर्थनकारण दर्शयति, तद्यथा—योऽह० प्र० ।

शोचयामि तथा 'तिप्पामि'त्ति क्षरामि 'पीडामि'त्ति पीडामनुभवामि 'परितप्पामि'त्ति परितापमनुभवामि, नाहमेवमस्वयं दुःखम्, अपि तु नियतित एवैतन्ममागतं, न पुरुषकारादिकृतं, यतो न हि कस्यचिदात्माऽनिष्टो येनानिष्टा दुःखोत्पादादिकाः क्रियाः समारभते, नियत्यैवासावनिच्छन्नपि तत्कार्यते येन दुःखपरम्पराभाग्भवति, कारणमापन्न इति परेऽप्येवमेव योजनीयम् । एवं सति नियतिवादी मेधावीति सोल्लुण्ठमेतत्, स किल नियतिवादी एवं पुरुषकारं परित्यज्यात्मनियतिवादाश्रयेण महाविवेकीत्येवमुल्लुण्ठ्यते, स्वकारणं परकारणं च दुःखादिकमनुभवन्नियतिकृतमेतदेव विप्रतिवेदयति-जानाति नात्मकृतं नियतिकारणमापन्नं, कारणं चात्रैकस्यासदनुष्ठानरतस्यापि न दुःखमुत्पद्यते परस्य तु सदनुष्ठायिनोऽपि तत्सम्भवतीत्यतो नियतिरेव कर्त्रीति । तदेवं नियतिवादे स्थिते परमपि यत्किञ्चित्तत्सर्वं नियत्यधीनमिति दर्शयितुमाह-'से बेमी'त्यादि, सोऽहं नियतिवादी युक्तितो निश्चित्य 'ब्रवीमी'-ति प्रतिपादयामि ये केचन प्राच्यादिषु दिक्षु त्रस्यन्तीति त्रसा-द्वीन्द्रियादयः स्थावराश्च-पृथिव्यादयः प्राणाः-प्राणिनस्ते सर्वेऽप्येवं नियतित एवौदारिकादिशरीरसम्बन्धमागच्छन्ति, नान्येन केनचित्कर्मादिना शरीरं प्राप्नुवन्ते, तथा बालकुमारयौवनस्थविरवृद्धावस्थादिकं विविधपर्यायं नियतित एवानुभवन्ति, तथा नियतित एव 'विवेकं' शरीरात्पृथग्भावमनुभवन्ति, तथा नियतित एव विविधं विधानम्—अवस्थाविशेषं कुब्जकाणखञ्जवामनकजरामरणरोगशोकादिकं वीभत्समागच्छन्ति, तदेवं ते प्राणिनस्त्रसाः स्थावरा 'एवं' पूर्वोक्तया नीत्या संगतिं यान्ति-नियतिमापन्ना नानाविधविधानभाजो भवन्ति, त एव वा नियतिवादिनः 'संगइयं'ति नियतिमाश्रित्य 'तदु

त्प्रेक्षया' नियतिवादोत्प्रेक्षया यत्किञ्चनकारितया परलोकाभीरवो 'नो' नैव एतद्वक्ष्यमाणं विप्रतिवेदयन्ति—जानन्ति, तद्यथा—क्रिया—सदनुष्ठानरूपा, अक्रिया तु—असदनुष्ठानरूपा इत्यादि यावदेवं ते नियतिवादिनस्तदुपरि सर्वं दोषजातं प्रक्षिप्य विरूपरूपैः कर्मसमारम्भैर्विरूपरूपान् कामभोगान् भोजनाय—उपभोगार्थं समारभन्त इति ॥ तदेवमेव—पूर्वोक्तया नीत्या तेऽनार्या विरूपं नियतिमार्गं प्रतिपन्ना विप्रतिपन्नाः, अनार्यत्वं पुनस्तेषां निर्युक्तिकस्यैव नियतिवादस्य समाश्रयणात्, तथाहि—असौ नियतिः किं स्वत एव नियतिस्वभावा उतान्यया नियत्या नियम्यते ?, किं चातः ?; तत्र यद्यसौ स्वयमेव तथास्वभावा सर्वपदार्थानामेव तथास्वभावत्वं किं न कल्प्यते ?, किं बहुदोषया नियत्या समाश्रितया ?; अथान्यया नियत्या तथा नियम्यते, साऽप्यन्यया साऽप्यन्ययेत्येवमनवस्था । तथा नियतेः स्वभावत्वा[1]न्नियत[2]स्वभावयाऽनया भवितव्यं न नानास्वभावयेति, एकत्वाच्च नियतेस्तत्कार्येणाप्येकाकारेणैव भवितव्यं, तथा च सति जगद्वैचित्र्याभावः, न चैतद्दृष्टमिष्टं वा । तदेवं युक्तिभिर्विचार्यमाणा नियतिर्न कथञ्चिद् घटते, यदप्युक्तं—द्वावपि तौ पुरुषौ क्रियाक्रियावादिनौ तुल्यौ, एतदपि प्रतीतिबाधितं, यतस्तयोरेकः क्रियावाद्यपरस्त्वक्रियावादीति कथमनयोस्तुल्यत्वम्, अथैकया नियत्या तथानियतत्वात्तुल्यता अनयोः, एतच्च निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, नियतेरप्रमाणत्वात्, अप्रमाणत्वं च प्राग्लेशतः प्रदर्शितमेव, यदप्युक्तं—यद्दुःखादिकमहमनुभवामि तन्नाहमकार्षमित्यादि, तदपि बालवचनप्रायं, यतो(यत्) जन्मान्तरकृतं शुभमशुभं वा

सा० १ परआणनिरपेक्षत्वेन स्वाभाविकत्वात् । २ एकरूपया ।

शोचयामि तथा 'तिप्पामि'त्ति क्षरामि 'पीडामि'त्ति पीडामनुभवामि 'परितप्पामि'त्ति परितापमनुभवामि, नाहमेवमकार्षं दुःखम्, अपि तु नियतित एवैतन्मय्यागत, न पुरुषकारादिकृतं, यतो न हि कस्यचिदात्माऽनिष्टो येनानिष्टा दुःखोत्पादादिका' क्रियाः समारभत, नियत्यैवासावनिच्छन्नपि तत्कार्यते येन दुःखपरम्परामाग्भवति, कारणमापन्न इति परेऽप्येवमेव योजनीयम् । एवं सति नियतिवादी मेधावीति सोल्लुण्ठमेतत्, स किल नियतिवादी दृष्टं पुरुषकारं परित्यज्यादृष्टनियतिवादाश्रयेण महाविवेकीत्येवमुल्लुण्ठ्यते, स्वकारणं परकारणं च दुःखादिकमनु भवन्निपतितत्त्वमेवदेव विप्रतिवेदयति—जानाति नात्मकृतं नियतिकारणमापन्नं, कारण यात्रैकस्यासदनुष्ठानरतस्यापि न दुःखमुत्पद्यते परस्य तु सदनुष्ठायिनोऽपि तद्भवतीत्यतो नियतिरेव कर्त्रीति । तदेव नियतिवादे स्थिते परमपि यत्किञ्चित्तत्सर्वं नियत्यधीनमिति दर्शयितुमाह—'से बेमी'त्यादि, सोऽहं नियतिवादी पृष्टो निमित्तं 'ब्रवीमी'—ति प्रतिपादयामि ये केचन प्राच्यादिषु दिक्षु त्रस्यन्तीति त्रसा—द्वीन्द्रियादयः स्थावराश्च—पृथिव्यादयः प्राणाः—प्राणिनस्ते सर्वेऽप्येवं नियतित एवौदारिकादिशरीरसम्बन्धमागच्छन्ति, नान्येन केनचित्कर्मादिना शरीरं प्राप्नुवन्ते, तथा बालकुमारयौवनस्थविरवृद्धावस्थादिकं विविधपर्याय नियतित एवानुभवन्ति, तथा नियतित एव 'विवेक' शरीरात्पृथग्भावमनुभवन्ति, तथा नियतित एव विविध विधानम्—अवस्थाविशेषं कुब्जकाणखञ्जवामनजराम रणरोगशोकादिकं वीमत्समागच्छन्ति, तदेव ते प्राणिनस्त्रसाः स्थावरा 'एव' पूर्वोक्तया नीत्या संगतिं यान्ति—नियतिमापन्ना नानाविधविधानभाजो भवन्ति, त एव वा नियतिवादिनः 'संगइयं'ति नियतिमाश्रित्य 'तत्तु

त्प्रेक्षया' नियतिवादोत्प्रेक्षया यत्किञ्चनकारितया परलोकाभीरवो 'नो' नैव एतद्वक्ष्यमाणं विप्रतिवेदयन्ति-
जानन्ति, तद्यथा–क्रिया—सदनुष्ठानरूपा, अक्रिया तु–असदनुष्ठानरूपा इत्यादि यावदेवं ते नियतिवादिनस्तदुपरि
सर्वं दोपजातं प्रक्षिप्य विरूपरूपैः कर्मसमारम्भैर्विरूपरूपान् कामभोगान् भोजनाय–उपभोगार्थं समारभन्त
इति ॥ तदेवमेव–पूर्वोक्तया नीत्या तेऽनार्या विरूपं नियतिमार्गं प्रतिपन्ना विप्रतिपन्नाः, अनार्यत्वं पुनस्तेषां निर्यु-
क्तिकस्यैव नियतिवादस्य समाश्रयणात्, तथाहि–असौ नियतिः किं स्वत एव नियतिस्वभावा उतान्यया नियत्या ९
नियम्यते ?, किं चातः ?; तत्र यद्यसौ स्वयमेव तथास्वभावा सर्वपदार्थानामेव तथास्वभावत्वं किं न कल्प्यते ?,
किं बहुदोषया नियत्या समाश्रितया ?; अथान्यया नियत्या तथा नियम्यते, साऽप्यन्यया साऽप्यन्ययेत्येवमन-
वस्था । तथा नियतेः [1]स्वभावत्वान्नियतस्वभावयाऽनया भवितव्यं न नानास्वभावयेति, एकत्वाच्चं नियतेस्तत्कार्ये-
णाप्येकाकारेणैव भवितव्यं, तथा च सति जगद्वैचित्र्याभावः, न चैतद्दृष्टमिष्टं वा । तदेवं युक्तिभिर्विचार्यमाणा
नियतिर्न कथञ्चिद् घटते, यदप्युक्तं–द्वावपि तौ पुरुषौ क्रियाक्रियावादिनौ तुल्यौ, एतदपि प्रतीतिबाधितं, यतस्त-
योरेकः क्रियावाद्य[2]परस्त्वक्रियावादीति कथमनयोस्तुल्यत्वम्, अथैकया नियत्या तथानियतत्वात्तुल्यता अनयोः, १०
एतच्च निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, नियतेरप्रमाणत्वात्, अप्रमाणत्वं च प्राग्लेशतः प्रदर्शितमेव, यदप्युक्तं–
यद्दुःखादिकमहमनुभवामि तन्नाहमकार्षमित्यादि, तदपि बालवचनप्रायं, यतो(यत्) जन्मान्तरकृतं शुभमशुभं वा

सा० १ परआणनिरपेक्षत्वेन स्वाभाविकत्वात् । २ एकरूपया ।

नरिहोपभुज्यत, स्वकृतकर्मफलेश्वरत्वादसुमतां, तथा चोक्तं—"यदिह क्रियते कर्म, तत्परत्रोपभुज्यते । मूलसिक्तेषु वृक्षेषु, फलं शाखासु जायते ॥ १ ॥" तथा—"यदुपात्तमन्यजन्मनि शुभमशुभं वा स्वकर्म परिणत्या । तच्छक्यमन्यथा नो कर्तुं देवासुरैरपि हि ॥ २ ॥" तदेवं ते नियतिवादिनोऽन्यार्थां विप्रतिपन्नास्तमेव नियुक्तिकं नियतिवादमदधानास्तमेव च प्रतीयन्ते इत्यादि तावमेव यावदन्तरा कामभोगेषु विषण्णा इति चतुर्थः पुरुषजातः समाप्तः ॥ साम्प्रतमुपसंजिघृक्षुराह—'इत्येते' पूर्वोक्तास्तज्जीवतच्छरीरपञ्चमहाभूतेश्वरकर्तृत्वनियतिवादपक्षाभ्युपगमवन्तश्चत्वारः पुरुषा नानाप्रकारा प्रज्ञा—मतिर्येषां ते तथा नाना—भिन्नश्छन्द—अभिप्रायो येषां ते तथा, नानाप्रकारं शीलम्—अनुष्ठानं येषां ते तथा, नानारूपा दृष्टिः—दर्शनं येषां ते तथा, नानारूपा रुचिः—चेतोऽभिप्रायो येषां ते तथा, नानाप्रकार आरम्भो—धर्मानुष्ठानं येषां ते तथा, नानाप्रकारेण—परस्परभिन्नेनाध्यवसायेन संयुक्ता धर्मार्थमुपसाः, प्रहीणः—परित्यक्तः पूर्वसंयोगो—मातृपितृकलत्रसंबन्धो यैस्ते तथा, तथा आरात्यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो मार्गो निर्दोषः पापलेशासंपृक्तस्तमार्यं मार्गमसंप्राप्ता इति पूर्वोक्तया नीत्या ते चत्वारोऽपि नास्तिकादयो 'णो हव्वाए' इति परित्यक्तस्य मातापित्रादिसंबन्धस्य धनधान्यहिरण्यादिसंचयस्य च नैहिकसुखभाजो भवन्ति, तथा 'णो पाराए'त्ति असंप्राप्तत्वादार्यस्य मार्गस्य सर्वोपाधिविशुद्धस्य प्रगुणमोक्षपद्धतिरूपस्य न संसारपारगामिनो भवन्ति, न परलोकसुखभाजो भवन्तीति, किंत्वन्तराल एव गृहवासार्यमार्गयोर्मध्यवर्तिन एव कामभोगेषु 'विषण्णाः'—अध्युपपन्ना दुस्तारपङ्कमग्ना इव करिणो विषीदन्तीति स्थितम् ॥ उक्ताः परतीर्थिकाः, साम्प्रतं लोकोत्तरं भिक्षाटवि

भिक्षुं पञ्चमं पुरुषजातमधिकृत्याह–

से वेमि पाईणं वा ६ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तंजहा–आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीया गोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवन्ना वेगे दुवन्ना वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे; तेसिं च णं जणजाणवयाइं परिग्गहियाइं भवंति, तं० अप्पयरा वा भुज्जयरा वा, तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म अभिभूय एगे भिक्खायरियाए समुट्ठिता सतो वावि एगे णायओ (अणायओ) य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता असतो वावि एगे णायओ (अणायओ) य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता, [जे ते सतो वा असतो वा णायओ य अणायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता] पुव्वमेव तेहिं णायं भवइ, तंजहा–इह खलु पुरिसे अन्नमन्नं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेदेंति, तंजहा–खेत्तं मे, वत्थू मे, हिरण्णं मे, सुवन्नं मे, धणं मे, धण्णं मे, कंसं मे, दूसं मे, विपुलधण कणग रयण मणि मोत्तिय संख सिल प्पवालरत्तरयण संतसार सावतेयं मे, सद्दा मे, रूवा मे, गंधा मे, रसा मे, फासा मे; एते खलु मे कामभोगा अहमवि एतेसिं ॥ से मेहावी पुव्वामेव अप्पणो एवं समभिजाणेज्जा, तंजहा–इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोयातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुन्ने अमणामे दुक्खे णो सुहे से हंता भयंतारो ! कामभोगाइं मम अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयह अणिट्ठं अकंतं अप्पियं

असुभ अमणुन्नं अमणामं दुक्खं णो सुहं, ताऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा इमाओ मे अण्णयराओ दुक्खाओ रोगातंकाओ पडिमोयह अणिट्ठाओ अकंताओ अप्पियाओ असुभाओ अमणुन्नाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहाओ, एवामेव णो लद्धपुव्वं भवइ, इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा, पुरिसे वा एगता पुव्विं कामभोगे विप्पजहति, कामभोगा वा एगता पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति, अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि, से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो? इति संखाए णं वयं च कामभोगेहिं विप्पजहिस्सामो, से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेतं, इणमेव उवणीयतरागं, तंजहा–माया मे, पिता मे, भाया मे, भगिणी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूता मे, पेसा मे, नत्ता मे, सुण्हा मे, सुहा मे, पिया मे, सहा मे, सयणसंगंथसंथुया मे, एते खलु मम णायओ अहमवि एतेसिं, एवं से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा, इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोयातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव दुक्खे णो सुहे, से हंता भयंतारो! णायओ इमं मम अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयह अणिट्ठं जाव णो सुहं, ताऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जाव परितप्पामि वा, इमाओ मे अन्नयरातो दुक्खातो रोयातंकाओ परिमोएह अणिट्ठाओ जाव णो सुहाओ, एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ, तेसिं वावि भयंताराणं मम णाययाणं अन्नयरे

दुक्खे रोयातंके समुपज्जेज्जा अणिट्ठे जाव णो सुहे, से हंता अहमेतेसिं भयंताराणं णाययाणं इमं अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयामि अणिट्ठं जाव णो सुहे, मा मे दुक्खंतु वा जाव मा मे परितप्पंतु वा, इमाओ णं अण्णयराओ दुक्खातो रोयातंकाओ परिमोएमि अणिट्ठाओ जाव णो सुहाओ, एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ, अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियाइयति अन्नेण कडं अन्नो न पडिसंवेदेति पत्तेयं जायति, पत्तेयं मरइ, पत्तेयं चयइ, पत्तेयं उववज्जइ, पत्तेयं झंझा, पत्तेयं सन्ना, पत्तेयं मन्ना; एवं विन्नू वेदणा, इह (इ) खलु णातिसंजोगा णो ताणाए वा, णो सरणाए वा, पुरिसे वा एगता पुव्विं णातिसंजोए विप्पजहति, णातिसंजोगा वा एगता पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति, अन्ने खलु णातिसंजोगा अन्नो अहमंसि, से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं णातिसंजोगेहिं मुच्छामो ?, इति संखाए णं वयं णातिसंजोगं विप्पजहिस्सामो । से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेयं, इणमेव उवणीयतरागं, तंजहा–हत्था मे, पाया मे, बाहा मे, ऊरू मे, उदरं मे, सीसं मे, सीलं मे, आऊ मे, बलं मे, वण्णो मे, तया मे, छाया मे, सोयं मे, चक्खू मे, घाणं मे, जिब्भा मे, फासा मे; ममाइज्जइ वयाउ पडिजूरइ; तंजहा–आउओ बलाओ वण्णाओ तयाओ छायाओ सोयाओ जाव फासाओ सुसंधितो संधी विसंधीभवइ, वलियतरंगे गाए भवइ, किण्हा केसा पलिया भवंति, तंजहा–जंपि य इमं सरीरगं उरालं आहारोवइयं एयंपि य अणुपुव्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सति, एयं

सखाए से भिक्खू भिक्खायरियाए समुट्ठिए दुहओ लोग आणेज्जा, तं०–जीवा चेव अजीवा चेव, तसा चेव थावरा चेव ॥ (सूत्रम्–१३) ॥

'से बेमि' इत्यादि, यादृक्कामभोगेभ्यसक्तः सन्नन्तरा नोऽवसीदति पद्मवरपौण्डरीकोद्धरणाय च समर्थो भवति तदेतदहं ब्रवीमीति । अस्य चार्थस्योपदर्शनाय प्रस्तावमारचयन्नाह–प्राचीनादिकामन्यतरां दिशमुद्दिश्यैके केचन मनुष्याः 'सन्ति'–भवन्ति, तद्यथा–आर्याः–आर्यदेशोत्पन्ना मगधादिजनपदोद्भवाः, तथा 'अनार्याः'–शकयवनादिदेशोद्भवाः, तथा च 'उच्चैर्गोत्रोद्भवाः'–इक्ष्वाकुहरिवंशादिकुलोद्भवाः, तथा 'नीचैर्गोत्रोद्भवाः'–वर्णापसदसंभूताः, तथा 'कायवन्तः'–प्रांशवः, तथा 'ह्रस्वाः'–वामनकादयः, तथा 'सुवर्णा दुर्वर्णाः'–सुरूपा दुरूपा वा, एके केचन कर्मपरवशा भवन्ति; तेषां चार्यादीनां 'ण'मिति वाक्यालङ्कारे 'क्षेत्राणि'–शालीक्षेत्रादीनि 'वास्तूनि'–खातोच्छ्रितादीनि तानि 'परिगृहीतानि'–स्वीकृतानि भवन्ति, तान्येव विशिनष्टि–'अल्पतराणि'–स्तोकतराणि वा प्रभूततराणि वा भवन्ति । तथा ते(षे)षामेव च जनजानपदाः परिगृहीता भवन्ति, तेऽप्यल्पतराः प्रभूततरा वा भवेयुः, तेषु चार्यादिविशेषणविशिष्टेषु तथाप्रकारेषु कुलेष्वागम्यैवभूतानि गृहाणि गत्वा तथाप्रकारेषु वा कुलेषु 'आगम्य'–जन्म लब्ध्वाऽभिभूय च विषयकषायादीन् परीषहोपसर्गान् वा सम्यगुत्थानेनोत्थाय प्रव्रज्यां गृहीत्वैके केचन तथाविधसत्त्ववन्तो भिक्षाचर्यायां सम्यगुत्थिताः समुत्थिताः तथा 'सतो' विद्यमानानपि वा एके केचन महासत्त्वोपेता 'ज्ञातीन्'–स्वजनान् (अज्ञातीन्–परिजनान्) तथा 'उपकरण

च' कामभोगाङ्गं धनधान्यहिरण्यादिकं विविधं प्रकर्षेण ' हित्वा '-त्यक्त्वा भिक्षाचर्यायां सम्यगुत्थिताः, असतो वा ज्ञातीनुपकरणं च विप्रहाय भिक्षाचर्यायामेके केचनापगतस्वजनविभवाः समुत्थिताः ॥ ये ते पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टा भिक्षाचर्यायामभ्युद्यताः पूर्वमेव—प्रव्रज्याग्रहणकाल एव तैरेतज्ज्ञातं भवति, तद्यथा—'इह'-जगति खलु-वाक्यालङ्कारे अन्यदन्यद्वस्तूद्दिश्य ममैतद्भोगाय भविष्यतीति, एवमसौ प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः प्रविव्रजिषुर्वा 'प्रवेदयति' जानात्येवं परिच्छिनत्ति, तद्यथा—'क्षेत्रं'-शालिक्षेत्रादिकं,'वास्तु'-खातोच्छ्रितादिकं, 'हिरण्यं'-धर्मलाभादिकं, 'सुवर्णं'-कनकं, 'धनं'-गोमहिष्यादिकं, 'धान्यं'-शालि-गोधूमादिकं, 'कांस्यं'-कांस्यपात्रादिकं, तथा 'विपुलानि'-प्रभूततराणि धनकनकरत्नमणिमौक्तिकानि'शंखशिल'त्ति मुक्तशैलादिकाः शिलाः,'प्रवालं'-विद्रुमं, यदि वा-'सिलप्पवालं'ति श्रिया युक्तं प्रवालं श्रीप्रवालं वर्णादिगुणोपेतं तथा 'रत्तरयणं'ति रक्तरत्नं-पद्मरागादिकं तथा 'सत्सारं' शोभनसारमित्यर्थः शूलमण्यादिकं, तथा 'स्वापतेयं' रिक्थं द्रव्यजातं, सर्वमेतत्पूर्वोक्तं 'मे' ममोपभोगाय भविष्यति,तथा 'शब्दाः'-वेण्वादयो 'रूपाणि'-अङ्गनादीनि, 'गन्धाः'-कोष्ठपुटादयः,'रसाः'-मधुरादयः मांसरसादयो वा 'स्पर्शाः'-मृद्वादयः, एते सर्वेऽपि खलु मे कामभोगाः, अहमप्येषां योगक्षेमार्थं प्रभविष्यामीत्येवं संप्रधार्य ॥ स मेधावी पूर्वमेवात्मानं विजानीयाद्-एवं पर्यालोचयेत्, तद्यथा-'इह'-संसारे खलुशब्दो-

सा० १ ०द्रोगाय प्र० । २ विषयासक्त पुरुषो मनुते इति शेष. । ३ धर्मलातादिक प्र० । ४ अघटितरूप्यसुवर्णमितिपर्याय -प्राचीनपुस्तके । ५ शुद्ध प्र० ।

ऽवधारये, इहेव—अस्मिन्नेव जन्मनि मनुष्यभवे वा ममान्यतरदुःखं—शिरोवेदनादिकं आतङ्को वाऽऽशु जीवितापहारी शूलादिकः समुत्पद्येत, तमेव विशिनष्टि—अनिष्टः अकान्तः अप्रियः अशुभोऽमनोज्ञोऽमनामतया—पीडाविशेषकारी दुःखरूपो यदि वा न मनाममनाक् 'मे' मम नितरामित्यर्थः दुःखयतीति दुःख, पुनरपि दुःखोपादानमत्यन्तदुःखप्रतिपादनार्थं सुखलेशस्यापि परिहारार्थं च 'नो' नैव शुभः, अशुभकर्मविपाकापादितत्वादिति । अत्र च यदुक्तमपि पुनरुच्यते तदत्यादरख्यापनार्थं तद्विशेषप्रतिपादनार्थं चेति, तदेवभूत दुःखं रोगातङ्कं वा 'हन्त'—इति खेदे भयाभ्रान्तो यूयं क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यादिकाः—परिग्रहविशेषाः शब्दादयो वा विषयाः तथा हे भगवन्तः ! कामभोगा यूयं मया पालिताः परिगृहीताश्च ततो यूयमपीद दुःखं रोगातङ्कं वा 'परियाइयह'त्ति विभागशः परिगृहीत यूयम्, अत्यन्तपीडयोद्विग्नः पुनस्तदेव दुःख रोगातङ्कं वा विशेषणद्वारेणोच्चारयति—अनिष्टमप्रियमकान्तमशुभममनोज्ञममनाग्भूतमघनामक वा दुःखमेवैतत् ततोऽशुभमित्येवभूत ममोत्पन्नं यूय विभजत अहमनेनातीव दुःखामीति दुःखित इत्यादि पूर्ववदेयमिति, अतोऽस्मान्मामन्यतरस्माद्दुःखाद्रोगातङ्काद्वा प्रतिमोचयत यूयम्, अनिष्टादिविशेषणानि तु पूर्ववद्व्याख्येयानि । प्रथम प्रथमान्तानि पुनर्द्वितीयान्तानि साम्प्रत पञ्चम्यन्तानीति । न चाप भर्यस्तेन दुःखितेन 'एवमेवे'त्ति यथा प्रार्थितस्तथैव लब्धपूर्वो भवति, इदमुक्त भवति—न हि ते क्षेत्रादयः परिग्रहविशेषा नापि शब्दादयः कामभोगास्तं दुःखित दुःखाद्विमोचयन्तीति ॥ एतदेव लेशतो दर्शयति—'इह'—अस्मिन्, सतु—मनुष्यलोके, ते कामभोगा अत्यन्तमभ्यस्ता न 'तस्य' दुःखितस्य त्राणाय शरणाय वा भवन्ति, सुलालिता

नामपि कामभोगानां पर्यवसानं दर्शयितुमाह—'पुरिसो वा' इत्यादि, पुरि शयनात् पुरुषः—प्राणी, 'एकदा'-व्याध्युत्पत्तिकाले जराजीर्णकाले वाऽन्यस्मिन्वा राजाद्युपद्रवे, 'तान्'—कामभोगान् परित्यजति, स वा पुरुषो द्रव्याद्यभावे तैः कामभोगैर्विषयोन्मुखोऽपि त्यज्यते, स चैवमवधारयति—'अन्ये'—मत्तो भिन्नाः खल्वमी कामभोगाः, तेभ्यश्चान्योऽहमस्मि। तदेवं व्यवस्थिते "किमिति वयं पुनरेतेष्वनित्येषु परभूतेष्वन्येषु कामभोगेषु मूर्च्छां कुर्म" इत्येवं केचन महापुरुषाः 'परिसंख्याय'—सम्यग् ज्ञात्वा कामभोगान् वयं 'विप्रजहिष्यामः'—त्यक्ष्याम इत्येवमध्यवसायिनो भवन्ति। पुनरपरं वैराग्योत्पत्तिकारणमाह—'से मेहावी'—स मेधावी—सश्रुतिकः एतज्जानीयात्, तद्यथा—यदेतत्क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णशब्दादिविषयादिकं दुःखपरित्राणाय न भवतीत्युपन्यस्तं तदेतद्बाह्यतरं वर्तते, इदमेव चान्यद्वक्ष्यमाणम् 'उपनीततरम्'—आसन्नतरं वर्तते, तद्यथा—माता, पिता, भ्राता, भगिनीत्यादयो ज्ञातयः; पूर्वापरसंस्तुता एते खलु ममोपकाराय ज्ञातयो भविष्यन्ति, अहमप्येतेषां स्नानभोजनादिनोपकरिष्यामीत्येवं स मेधावी पूर्वमेवात्मनैवं समभिजानीयादित्यादि, एवं पर्यालोचयत्कल्पितवानिति वा, एतदध्यवसायी चासौ स्यादिति दर्शयितुमाह—'इह खलु' इत्यादि, 'इह'—अस्मिन् भवे मम वर्तमानस्यानिष्टादिविशेषणविशिष्टो दुःखातङ्कः समुत्पद्येत, ततोऽसौ तद्दुःखदुःखितो ज्ञातीनेवमभ्यर्थयेत्, तद्यथा—इमं ममान्यतरं दुःखातङ्कमुत्पन्नं परिगृह्णीत यूयमहमनेनोत्पन्नेन दुःखातङ्केन पीडयिष्यामी(ष्य इ)त्यतोऽमुष्मान्मां परिमोचयत यूयमिति, न चैतत्तेन दुःखितेन लब्धपूर्वं भवति, न हि ते ज्ञातयस्तं दुःखान्मोचयितुमलमिति भावः, नाप्यसौ तेषां दुःखमोचनायालमिति दर्शयितुमाह—

'तेसिं यावी'त्यादि, सर्वं प्राग्वद्योजनीयं, यावद्यमेव नो लब्धपूर्वं भवतीति, किमित्येव नोपलब्धपूर्वं भवती त्याह–'अण्णस्स दुक्खं'मित्यादि, सर्वस्यैव संसारोदरविवरवर्तिनोऽसुमतः स्वकृतकर्मोदयाद्दुःखमुत्पद्यते, तदन्य स्य सम्बन्धि दुःखमन्यो–मातापित्रादिकः कोऽपि न प्रत्यापिबति, न तस्मात्पुत्रादेर्दुःखेनासुखेनात्यन्तपीडितः, स्वमना नापि तद्दुःखमात्मनि कर्तुमलं; किमित्येवमाशङ्क्याह–'अण्णेण कड'मित्यादि, 'अन्येन'–जन्तुना कषायवशगेन इन्द्रियानुकूलतया मोहाऽभिलाषिणाऽज्ञानावृतेन मोहोदयवर्तिना यत्कृतं कर्म तदुदयमन्यः प्राणी नो प्रतिसंवेदयति–नानुभवति, तदनुभवने अकृतागमकृतनाशौ स्यातां, न चेमौ युक्तिसंगतौ अतो यथेन कृत तत्सर्वं स एवानुभवति, तथा चोक्तम्–"परकृतकर्मणि यस्मान्न क्रामति संक्रमो विभागो वा। तस्मात्सत्त्वानां कर्म, यस्य यत्तेन तद्वेद्यम् ॥ १ ॥" यस्मात्स्वकृतकर्मफलेश्वरा जन्तवस्तस्मादेवमवधीत्याह–'पत्तेय'मित्यादि, एक मेकं प्रति प्रत्येकं सर्वोऽप्यसुमान् जायते, तथा क्षीणे चायुषि प्रत्येकमेव म्रियते, उक्तं च–"एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्ते। तस्मादाकालिकहितमेकेनैवात्मनः कार्यम् ॥ १ ॥" इति, तथा प्रत्येकं क्षेत्रवास्तु हिरण्यसुवर्णादिकं परिग्रहं शब्दादींश्च विषयान् मातापितृकलत्रादिकं च त्यजति, तथा प्रत्येकमुपपद्यते—युज्यते परिग्रहस्वीकरणतया, तथा प्रत्येकं झंझा—कलहस्तद्ग्रहणात् कषायाः परिगृह्यन्ते, ततः प्रत्येकमेवासुमतां मन्दती व्रतया कषायोद्भवो भवति, तथा संज्ञान संज्ञा–पदार्थपरिच्छित्तिः, साऽपि मन्दमन्दतरपटुतरभेदात् प्रत्येकमेवोप जायते, सर्वभावास्तस्तरतमयोगेन मतेर्व्यवस्थितत्वात्, तथा प्रत्येकमेव 'मन्न'त्ति–मनन–चिन्तन पर्यालोचनमिति

यावत्, तथा प्रत्येकमेव 'विण्णु'त्ति विद्वान्, तया प्रत्येकमेव सातासातरूपवेदना-सुखदुःखानुभवः, उपसंजि-
घृक्षुराह-'इति खलु' इत्यादि, 'इति'-एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण यतो नान्येन कृतमन्यः प्रतिसंवेदयते प्रत्येकं च
जातिजरामरणादिक ततः खल्वमी ज्ञातिसंयोगाः-स्वजनसंबन्धाः संसारचक्रवाले पर्यटतोऽत्यन्तपीडितस्य तदु-
द्धरणे न त्राणाय-न त्राणं कुर्वन्ति, नाप्यनागतसंरक्षणतः शरणाय भवन्ति; किमिति ?, यतः पुरुषः 'एकदा'- ९
क्रोधोदयादिकाले ज्ञातिसंयोगान् 'विप्रजहान्ति'-परित्यजति, 'स्वजनाश्च न बान्धवा' इति व्यवहारदर्शनात्,
ज्ञातिसंयोगा वैकदा तदसदाचारदर्शनतः पूर्वमेव तं पुरुषं परित्यजन्ति-स्वसंबन्धादुत्तारयन्ति। तदेवं व्यवस्थिते
एतद्भावयेत्, तद्यथा—अन्ये खल्वमी ज्ञातिसंयोगा मत्तो भिन्ना इत्वरा एभ्यश्चान्योऽहस्मि । तदेवं व्यवस्थिते
किमङ्ग पुनर्वयमन्यैरन्यैर्ज्ञातिसंयोगैर्मूर्च्छां कुर्मः ?, न तेषु मूर्च्छा क्रियमाणा न्याय्या इत्येवं 'संख्याय'-ज्ञात्वा
प्रत्याकलय्य वयमुत्पन्नवैराग्या ज्ञातिसंयोगांस्त्यक्ष्याम इत्येवं कृताध्यवसायिनो विदितवेद्या भवन्तीति । साम्प्रत-
मन्येन प्रकारेण वैराग्योत्पत्तिकारणमाह-स 'मेधावी'-सश्रुतिकः, 'एतद्'-वक्ष्यमाणं जानीयात्, तद्यथा—बाह्य- १०
तरमेतत् यज्ज्ञातिसंबन्धनम्, इदमेवान्यदुपनीततरम्-आसन्नतरं, शरीरावयवानां भिन्नज्ञातिभ्य आसन्नतरत्वात्,
तद्यथा-हस्तौ ममाशोकपल्लवसदृशौ, तथा भुजौ करिकराकारौ परपुरंजयौ प्रणयिजनमनोरथपूरकौ शत्रुशतजीविता-
न्तकरौ, यथा मम न तथाऽन्यस्य कस्यापीत्येवं पादावपि पद्मगर्भसुकुमारावित्यादि सुगमं, यावत्स्पर्शाः स्पर्शने-
न्द्रियं 'ममाति'-ममीकरोति,-यादृङ्मे न तादृगन्यस्येति भावः, एतच्च हस्तपादादिकं स्पर्शनेन्द्रियपर्यवसानं शरी-

रागपसंबन्धित्वेन विवक्षितं यत्किमपि वयसः परिणामात्–कालकृतावस्थाविशेषात् 'परिजूरइ'त्ति–परिजीर्यते जीर्णतां याति प्रतिक्षणं विशरारुतां याति, तस्मिंश्च प्रतिसमयं विशीर्यति, शरीरे प्रतिसमयमसौ प्राणी एतस्माच्च यति, तथा–आयुषः पूर्वनिबद्धात्मनःपादिहान्याऽपचीयते, आवीचीमरणेन प्रतिसमयं मरणाभ्युपगमात्, तथा बलादपचीयते, तथाहि–यौवनावस्थायामपगमाने शरीरके प्रतिक्षणं शिथिलीभवत्सु संधिबन्धनेषु बलादल्पं भवते, तथा चर्मत्वक्च्छायातोऽपचीयते, अत्र च सनत्कुमारदृष्टान्तो वाच्यः, तथा जीर्यते शरीरे श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि न सम्यक् स्वविषयं परिच्छेत्तुमलं, तथा चोक्तम्–"वास्य वृद्धिर्वयो मेधा त्वक्चक्षुःशुक्रविक्रमाः । दश केषु निवर्तन्ते, मनः सर्वेन्द्रियाणि च ॥ १ ॥" तथा च विशिष्टवयोहान्या 'सुसंधितः'–सुबद्धः संधिः–जानुकूर्परादिको 'विसंधिर्भवति'–विगलितघनो भवतीत्यर्थः, तथा वलितरङ्गाकुलं सर्वतः शिराजालवेष्टितगात्रनोऽपि शरीरमिदमुद्वेगकृद्भवति किंपुनरन्येषां ?, तथा चोक्तम्–"वलिसंततमस्थिशेषितं, शिथिलस्नायुवृतं कले(ले)वरम् । स्वयमेव पुमान् जुगुप्सते, किमु कान्ताः कमनीयविग्रहाः ? ॥ १ ॥" तथा कृष्णाः केशा वयःपरिणामसमयप्राप्ता धवलतां प्रतिपद्यन्ते, तदेवं वयःपरिणामापादितसन्मविरेवक्षानपेक्ष्य, तथा–यदपीदं शरीरमुदारं–श्लाघनावयवरूपोपेतं विशिष्टाहारोपचितम्, एतदपि मयाऽस्य प्रतिक्षणं विशीर्यमाणमायुषः क्षये विप्रहातव्यं भविष्यतीत्येतदवगम्य शरीरानिस्पृहतया संसारासारतां 'संख्याय'–अवगम्य परित्यक्तसमस्तगृहप्रपञ्चो निष्किंचनतामुपगम्य स भिक्षुर्देहधारणार्थं संयमयात्रार्थं भिक्षाचर्यायां समुत्थितः सन् द्विधा लोकं यानीयादिति । तदेवं लोकमवेक्ष्य

दर्शयितुमाह-तद्यथा-जीवाश्च-प्राणधारणलक्षणास्तद्विपरीताश्चाजीवा-धर्माधर्माकाशादयः, तत्र तस्य भिक्षोर-
हिंसाप्रसिद्धये जीवान् विभागेन दर्शयितुमाह-जीवा अप्युपयोगलणक्षा द्विधा, तद्यथा-त्रस्यन्तीति त्रसाः-द्वीन्द्रि-
यादयः, तथा तिष्ठन्तीति स्थावराः-पृथिवीकायादयः। तेऽपि सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकादिभेदेन बहुधा द्रष्ट-
व्याः, चोपरि एतेषु बहुधा व्यापारः प्रवर्तते। साम्प्रतं तदुपमर्दकव्यापारकर्तॄन् दर्शयन्नाह—

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणावि सारंभा सपरिग्गहा, जे
इमे तसा थावरा पाणा ते सयं समारंभंति, अन्नेणवि समारंभावेंति, अण्णंपि समारंभंतं समणुजा-
णंति। इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणावि सारंभा सपरिग्गहा,
जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते सयं परिगिण्हंति, अन्नेणवि परिगिण्हावेंति, अन्नेवि
परिगिण्हंतं; समणुजाणंति। इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणावि
सारंभा सपरिग्गहा, अहं खलु अणारंभे अपरिग्गहे, जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा,
संतेगतिया समणा माहणावि सारंभा सपरिग्गहा, एतेसिं चेव निस्साए बंभचेरवासं वसिस्सामो,
कस्स णं तं हेउं?, जहा पुव्वं तहा अवरं, जहा अवरं तहा पुव्वं; अंजू एते अणुवरया अणुवट्ठिया
पुणरवि तारिसगा चेव। जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणावि
सारंभा सपरिग्गहा, दुहतो पावाइं कुव्वंति इति संखाए दोहिवि अंतेहिं अदिस्समाणो इति

भिपस्स् रीगज्जा । से बेमि पाईण वा ६ जाव एव से परिण्णायकम्मे, एव से मवेयकम्मे; एव से विअसकारए भवसीतिमवक्खायम् ॥ (सूत्रम्-१४) ॥

'इह'-अस्मिन् संसारे, खलुर्वाक्यालङ्कारे, गृहम्—अगारं तत्र तिष्ठन्तीति गृहस्थाः, ते च सहारम्भेण—जीवोपमर्दकारिणा वर्तन्त इति सारम्भा, तथा सह परिग्रहेण—द्विपदचतुष्पदधनधान्यादिना वर्तन्त इति सपरिग्रहाः, न केवल त एव अन्येऽपि 'सन्ति'-विद्यन्त एके केचन 'श्रमणा'-शाक्यादयः, ते च पचनपाचनाद्यनुमतेः सारम्भा दास्यादिपरिग्रहाच्च सपरिग्रहाः, तथा ब्राह्मणाश्चैवंविधा एव, एतेषां च सारम्भकत्वं स्पष्टतरं सूत्रेणैव दर्शयति-य इमे त्रसस्थावराः प्राणिनस्तान् स्वयमेव—अपरप्रेरिता एव समारम्भन्ते, तदुपमर्दकं व्यापारं स्वत एव कुर्वन्तीत्यर्थः, तथा अन्यांश्च समारम्भयन्ति, समारम्भं कुर्वतश्चान्यान् समनुजानन्ति ॥ तदेव प्राणातिपाताद्यवद्यं भोगाङ्गभूत परिग्रहं दर्शयितुमाह-'इह खलु' इत्यादि, इह खलु गृहस्था सारम्भाः सपरिग्रहाः सन्ति श्रमणा ब्राह्मणाश्च, ते च सारम्भपरिग्रहत्वात् किं कुर्वन्तीति दर्शयति—य इमे प्रत्यक्षाः कामप्रधाना भोगाः कामभोगाः, काम्यन्त इति कामा —स्त्रीगात्रपरिष्वङ्गादयो भुज्यन्त इति भोगाः-स्रक्चन्दनवादित्रादयः; त एते सचित्ताः—सचेतना अचेतना वा भवेयु , तदुपादानभूता वाऽर्थाः, तांश्च सचित्ताचित्तान्वाऽर्थान् 'ते'-कामभोगार्थिनो गृहस्थादय स्वत एव परिगृह्णन्ति, अन्येन च परिग्राहयन्ति, अपरं च परिगृह्णन्त समनुजानत इति । साम्प्रतमुपसंजिघृक्षुराह—'इह खलु' इत्यादि, इह-अस्मिन् जगति, 'सन्ति'-विद्यन्ते गृहस्थास्तथाविधाः श्रमणा

खल्वनारम्भोऽपरिग्रहश्च, ये चामी ब्राह्मणाश्च सारम्भाः सपरिग्रहा इत्येवं ज्ञात्वा स भिक्षुरेवमवधारयेद्–अहमेवात्र खल्वनारम्भोऽपरिग्रहश्च, ये चामी गृहस्थादयः सारम्भादिगुणयुक्तास्तदेतन्निश्रया–तदाश्रयेण ब्रह्मचर्यं–श्रामण्यमाचरिष्यामोऽनारम्भा अपरिग्रहाः सन्तः, धर्माधारदेहप्रतिपालनार्थमाहारादिकृते सारम्भपरिग्रहगृहस्थनिश्रया प्रव्रज्यां करिष्याम इत्यर्थः। ननु च यदि तन्निश्रया पुनरपि विहर्तव्यं किमर्थं ते त्यज्यन्त इति जाताशङ्कः पृच्छति—'कस्य हेतोः'–केन कारणेन? आचार्योऽपि विदिताभिप्राय उत्तरं ददाति–यथा–'पूर्वम्'–आदौ तदेतद्गृहस्थश्रमणब्राह्मणत्यजनमभिहितमिति, सर्वकालमपि गृहस्थाः सारम्भादिदोषदुष्टाः श्रमणाश्च केचन यथा 'पूर्वं'–सारम्भपरिग्रहत्वं तेषां तथा 'पश्चादपि'–प्रव्रज्यारम्भकाले तथाविधा एव त इति अधुनोभयपदा गृहस्थभावे सारम्भाः सपरिग्रहस्तथा 'अपरिस्मन्नपि'–प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकाले तथा 'पूर्वमपि'–गृहस्थभावा-व्यभिचारित्वप्रतिपादनार्थमाह–यथा 'अपरम्'–अपरस्मिन् प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकाले तथा 'पूर्वमपि'–गृहस्थभावा-दावपीति, यदि वा—कस्य हेतोस्तद्गृहस्थाद्याश्रयणं क्रियते यतिनेत्याह–यथा 'पूर्वं'–प्रव्रज्यारम्भकाले सर्वमेव भिक्षा-दिकं गृहस्थायत्त तथा पश्चादपि, अतः कथं नु नामानवद्या वृत्तिर्भविष्यतीत्यतः साधुभिरनारम्भैः सारम्भाश्रयणं विधेयम्। यथा चैते गृहस्थादयः सारम्भाः सपरिग्रहाश्च तथा प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यन्त इति दर्शयितुमाह—'अंजू'–इति, व्यक्तमेतदेते गृहस्थादयो यदि वा–'अञ्जू' इति प्रगुणेन न्यायेन स्वरसप्रवृत्त्या सावद्यानुष्ठानेभ्योऽनुपरताः परिग्रहारम्भाच्च सत्संयमानुष्ठानेन चानुपस्थिताः–सम्यगुत्थानमकृतवन्तो येऽपि कथञ्चिद्धर्मकरणायोत्थितास्तेऽप्यु-द्दिष्टभोजित्वात् सावद्यानुष्ठानपरत्वाच्च गृहस्थभावानुष्ठानमनतिवर्तमानाः पुनरपि तादृशा एव–गृहस्थकल्पा एवेति।

मागमतमुपसंहरति—य इमे-गृहस्थादयस्ते 'द्विधाऽपि'-आरम्भपरिग्रहाभ्यामुभाभ्यामपि पापान्युपाददते, यदि वा रागद्वेषाभ्यामुभाभ्यामपि, यदि वा गृहस्थप्रव्रज्यापर्यायाभ्यामुभाभ्यां पापानि कुर्वत इत्येवं 'सङ्ख्याय'-परिज्ञाय 'द्वयोरप्यन्तयोः'-आरम्भपरिग्रहयो रागद्वेषयोर्वा, 'अदृश्यमानः'-अनुपलभ्यमानो, यदि वा रागद्वेषयोर्यन्तौ-अभावो तयोराश्रियमाणो-रागद्वेषाभावत्वेनापदिश्यमानः प्रमित्सभूतो 'भिक्षुः'-भिक्षणशीलो ऽनवद्याहारभोजी सत्संयमानुष्ठाने 'रीयेत'-प्रवर्तेत; एतदुक्तं भवति-य इमे मातापितृसंयोगा यश्चायं धनधान्यादिकः परिग्रहो यच्च हस्तपादाद्यवयवयुक्तं शरीरकं यच्च तदायुर्बलवर्णादिकं तत्सर्वमशाश्वतमनित्यं स्वप्नेन्द्रजालसदृशमसारं, गृहस्थभवनमाश्रमाश्च आरम्भाः सपरिग्रहाश्च, एतत्सर्वं परिज्ञाय सत्संयमानुष्ठाने भिक्षु 'रीयेतेति स्थितम्। स पुनरप्यहमभिकृतमेवार्थं विशेषिततरं सोपपत्तिकं ब्रवीमीति-तत्र प्रज्ञापकापेक्षया प्राच्यादिकाया दिशोऽन्यतरस्याः समायातः स भिक्षुर्द्वयोरप्यन्तयोरदृश्यमानतया सत्संयमे रीयमाणः सन् 'एवम्'-अनन्तरोक्तेन प्रकारेण ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय, प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्याय च परिज्ञातकर्मा भवति। पुनरपि 'एवमिति'-परिज्ञातकर्मत्वाच्चापेतकर्मा भवति-अपूर्वस्याबन्धको भवतीत्यर्थः, पुनरेवमित्येव चकारतया योगनिरोधोपायतः पूर्वोपचितस्य कर्मणो विशेषेणान्तकारको भवतीति, एतच्च तीर्थकरगणधरादिभिर्व्याख्यातमिति। कथं पुनः प्राणातिपातविरतिव्रतादिष्ववस्थितस्य कर्मापगमो भवतीत्युक्तं ?, यतस्तत्प्रत्ययस्यारम्भोपरम्भेन प्राणिनां पीडोत्पद्यते, तया च कर्म

१ ना मेव तिवेद् म ।

मन्थ इत्येवं सर्वं मनस्याधायाह—

तत्थ खलु भगवता छज्जीवनिकाय हेऊ पण्णत्ता, तंजहा–पुढवीकाए जाव तसकाए, से जहा णामए मम अस्सायं दंडेण वा, अट्ठीण वा, मुट्ठीण वा, लेलूण वा, कवालेण वा, आउट्टिज्जमाणस्स वा, हम्ममाणस्स वा, तज्जिज्जमाणस्स वा, ताडिज्जमाणस्स वा, परियाविज्जमाणस्स वा, किलामिज्जमाणस्स वा, उद्दविज्जमाणस्स वा, जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे जीवा, सव्वे भूता, सव्वे पाणा, सव्वे सत्ता; दंडेण वा, जाव कवालेण वा, आउट्टिज्जमाणा वा, हम्ममाणा वा, तज्जिज्जमाणा वा, ताडिज्जमाणा वा, परियाविज्जमाणा वा, किलामिज्जमाणा वा, उद्दविज्जमाणा वा, जावलोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति, एवं नच्चा सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा; ण उद्दवेयव्वा। से बेमि जे य अतीता, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति–सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा ण, परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा; एस धम्मे धुवे णीतिए सासए समिच्च लोगं खेयन्नेहिं पवेदिए, एवं से भिक्खू विरते पाणातिवायातो जाव विरते परिग्गहातो णो दंतपक्खालणेणं दंते

1 सा० °काइया जाव तसकाइया प्र० ।

पक्खालेज्जा, णो अंजण, णो वमण णो धूवणे, णो त परिआविएज्जा। से भिक्खू अकिरिए, अलूसए अकोहे, अमाणे, अमाए, अलोहे, उवसंते परिनिव्वुडे णो आसंस पुरतो करेज्जा; इमेण मे दिट्ठेण वा सुएण वा मएण वा विण्णाएण वा इमेण वा सुचरियतवनियमबंभचेरवासेण इमेण वा जायामायावुत्तिएण धम्मेणं इओ चुए पेच्चा देवे सिया कामभोगाण वसवत्ती सिद्धे वा अदुक्खमसुभे एत्थवि सिया एत्थवि णो सिया। से भिक्खू सद्देहिं अमुच्छिए, रूवेहिं अमुच्छिए, गंधेहिं अमुच्छिए रसेहिं अमुच्छिए, फासेहिं अमुच्छिए;विरए कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुन्नाओ परपरिवायाओ अरइरईओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते। से भिक्खू जे इमे तसथावरापाणा भवंति ते णो सयं समारभइ, णो वऽण्णेहिं समारभावेंति, अन्ने समारंभंतेवि न समणुजाणति इति; से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते। से भिक्खू जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते णो सयं परिगिण्हति, णो अन्नेण परिगिण्हावेंति अन्नं, परिगिण्हंतंपि ण समणुजाणति इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते से भिक्खू। जंपिय इमं संपराइयं कम्मं कज्जइ; णो त सयं करेति, णो अण्णाण कारवेति, अन्नंपि करेंतं ण समणुजाणइ इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते। से भिक्खू जाणेज्जा असणं वा ४ अस्सिंपडियाए एग

साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूताइं, जीवाइं, सत्ताइं; समारंभ समुद्दिस्स कीतं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टुद्देसियं तं चेतियं सिया तं (अप्पणो पुत्ताईणट्ठाए जाव आएसाए पुढो पहेणाए सामासाए पायरासाए संणिहिसंणिचओ किज्जइ इह एतेसिं प्राणवाणं भोयणाए) णो सयं भुंजइ, णो अण्णेणं भुंजावेति, अन्नंपि भुंजंतं ण समणुजाणइ इति, से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते। तत्थ भिक्खू परकडं परणिट्ठितमुग्गमुप्पायणेसणासुद्धं सत्थाईयं सत्थपरिणामियं अविहिंसियं एसियं वेसियं सामुदाणियं पत्तमसणं कारणट्ठा पमाणजुत्तं अक्खोवंजणवणलेवणभूयं संजमजायामायावत्तियं बिलमिव पन्नगभूतेणं अप्पाणेणं आहारं आहारेज्जा, अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले। से भिक्खू मायन्ने अन्नयरं दिसं अणुदिसं वा पडिवन्ने धम्मं आइक्खे विभए किट्टे उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए, संतिविरतिं उवसमं निव्वाणं सोयवियं, अज्जवियं, मद्दवियं, लाघवियं, अणतिवातियं; सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं जाव सत्ताणं अणुवाइं किट्टए धम्मं। से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे णो अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउं धम्माइक्खेज्जा, णो वत्थस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो लेणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो सयणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो अन्नेसिं

१ अप्पणो° इत्यादिना, °भोयणाए । २ इत्यन्तेन्त अ-आ इति प्रतौ नास्तीति ।

विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा, नन्नत्थ कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेज्जा । इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया, जे तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया; ते एवं सव्वोवगता, ते एवं सव्वोवरता, ते एवं सव्वोवसंता; ते एवं सव्वत्ताए परिनिव्वुडत्तियेमि । एवं से भिक्खू धम्मट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवण्णे से जहेयं वुतियं अदुवा पत्ते पउमवरपोंडरीयं अदुवा अपत्ते पउमवरपोंडरीयं, एवं से भिक्खू परिण्णायकम्मे परिण्णायसंगे परिण्णायगेहवासे उवसंते समिए सहिए सया जए, सेवं वयणिज्जे, तंजहा-समणेत्ति वा, माहणेत्ति वा, खंतेति वा, दंतेति वा, गुत्तेति वा, मुत्तेति वा, इसीति वा, मुणीति वा, कतीति वा, विऊति वा, भिक्खूति वा, लूहेति वा, तीरट्ठीति वा, चरणकरणपारविउत्तियेमि ॥ (सूत्रम् १५) ॥ इति बितियसुयक्खंधस्स पोंडरीयं नाम पढमज्झयणं समत्तं ॥

'तत्रेति'—कर्मबन्धप्रस्तावे, खलु वाक्यालङ्कारे, 'भगवता'—उत्पन्नज्ञानेन तीर्थकृता षड्जीवनिकाया हेतुत्वे नोपन्यस्ताः, तद्यथा-पृथिवीकायो यावत्त्रसकायोऽपीति, तेषां च पीड्यमानानां यथा दुःखमुत्पद्यते तथा स्वसंविदितेन दृष्टान्तेन दर्शयितुमाह—तद्यथा नाम—मम 'असात'—दुःखं वक्ष्यमाणैः प्रकारैरुत्पद्यते तथाऽन्येषामपीति, तद्यथा—दण्डेनास्थ्ना मुष्टिना 'लेलुना'—लोष्ठेन, 'कपालेन'—कर्परेण, 'आकोट्यमानस्य'—संकोच्यमानस्य हन्य

मानस्य कशादिभिः, तर्ज्यमानस्याङ्गुल्यादिभिः, ताड्यमानस्य कुड्यादावभिघातादिना, परिताप्यमानस्याग्न्यादौ, अन्येन वा प्रकारेण परिक्लाम्यमानस्य, तथा 'अपद्राव्यमानस्य'–मार्यमाणस्य, यावल्लोमोत्खननमात्रमपि हिंसा-करं दुःखं भयं च यन्मयि क्रियते, तत्सर्वमहं संवेदयामीत्येवं जानीहि, तथा सर्वे प्राणा जीवा भूतानि सत्त्वा इत्येते एकार्थिकाः, कथञ्चिद्भेदं वाऽऽश्रित्य व्याख्येयाः, तत्रैतेषां दण्डादिनाऽऽकुट्यमानानां यावल्लोमोत्खननमात्रमपि दुःखं प्रतिसंवेदयतामेतच्च हिंसाकरं दुःखं भयं चोत्पन्नं ते सर्वेऽपि प्राणिनः प्रतिसंवेदयन्ति–साक्षादनुभवन्तीति; एवमात्मोपमया पीड्यमानानां जन्तूनां यतो दुःखमुत्पद्यतेऽतः सर्वेऽपि प्राणिनो न हन्तव्या–न व्यापादयितव्या, 'नाज्ञापितव्या'–बलात्कारेण व्यापारे न प्रयोक्तव्याः, तथा न परिग्राह्या न परितापयितव्या नापद्रावयितव्याः। सोऽहं ब्रवीमि, एतत् न स्वमनीषिकया, किंतु सर्वतीर्थकराज्ञयेति दर्शयति–'जे अतीए' इत्यादि, ये केचन तीर्थकृत ऋषभादयोऽतीताः, ये च विदेहेषु वर्तमानाः सीमन्धरादयो, ये चागामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यन्ति पद्मनाभादयः 'अर्हन्तः'–अमरासुरनरेश्वराणां पूजार्हा भगवन्त–ऐश्वर्यादिगुणकलापोपेताः; सर्वेऽप्येवं ते व्यक्तवाचा 'आख्यान्ति'–प्रतिपादयन्ति एवं सदेवमनुजायां पर्षदि भाषन्ते, स्वत एव; न यथा बौद्धानां बोधिसत्त्वप्रभावात् कुड्यादिदेशनत इति, एवं प्रकर्षेण ज्ञापयन्ति हेतूदाहरणादिभिः, एवं प्ररूपयन्ति नामादिभिर्यथा सर्वे प्राणा न हन्तव्या इत्यादि, 'एष धर्मः'–प्राणिरक्षणलक्षणः प्राग्व्यावर्णितस्वरूपो 'ध्रुवः'–अवश्यंभावी 'नित्यः'–

विरूवरूवाण कामभोगाणं हेउ धम्ममाइक्खेज्जा, अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा, नन्नत्थ कम्म निज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेज्जा । इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म उट्ठाणेण उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया, जे तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेण उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया; ते एवं सव्वोवगता, ते एवं सव्वोवरता, ते एवं सव्वोवसंता, ते एवं सव्वत्ताए परिनिव्वुडत्तिबेमि । एवं से भिक्खू धम्मट्ठी धम्मविऊ णियाग पडिवण्णे से जहेयं बुतियं अदुवा पत्ते पउमवरपोंडरीयं अदुवा अपत्ते पउमवरपोंडरीयं, एवं से भिक्खू परिण्णायकम्मे परिण्णायसंगे परिण्णायगेहवासे उवसंते समिए सहिए सया जए, सेयं वयणिज्जे, तंजहा-समणेति वा, माहणेति वा, खंतेति वा, दंतेति वा, गुत्तेति वा, मुत्तेति वा, इसीति वा, मुणीति वा, कतीति वा, विऊति वा, भिक्खूति वा, लूहेति वा, तीरट्ठीति वा, चरणकरण पारविउत्तिबेमि ॥ (सूत्रम् १५) ॥ इति बितियसुयक्खंधस्स पोंडरीयं नाम पढमज्झयणं समत्तं ॥

'तत्रेति'–क्रमप्रस्तावे, खलु वाक्यालङ्कारे, 'भगवता'–उत्पन्नज्ञानेन तीर्थकृता षड्जीवनिकाया हेतुत्वेनोपन्यस्ताः, तद्यथा–पृथिवीकायो यावत्त्रसकायोऽपीति, तेषां च पीड्यमानानां यथा दुःखमुत्पद्यते तथा स्वसंवित्तिसिद्धेन दृष्टान्तेन दर्शयितुमाह–तद्यथा नाम–मम 'असातं'–दुःखं दण्डादिभिः प्रकारैरुत्पद्यते तथाऽन्येषामपीति, तद्यथा–दण्डेनास्थ्ना मुष्टिना 'लेलुना'–लोष्टेन, 'कपालेन'–कर्परेण, 'आकोट्यमानस्य'–संकोच्यमानस्य हन्य

ममापि विशिष्ट भविष्यतीत्येवं नाशंसां विदध्यात्, तथाऽमुना सुचरिततपोनियमब्रह्मचर्यवासेन तथाऽमुना वा यात्रामात्रावृत्तिना धर्मेणानुष्ठितेन 'इतः'–अस्माद्भवाच्युतस्य 'प्रेत्य'–जन्मान्तरे स्यामहं देवः, तत्रस्थस्य च मे वशवर्तिनः कामभोगा भवेयुः, अशेषकर्मवियुतो वा सिद्धोऽदुःखः (अशुभः) शुभाशुभकर्मप्रकृत्यपेक्षयेत्येवंभूतोऽहं स्यामागामिनि काल इत्येवमाशंसां न विदध्यादिति, यदि वा विशिष्टतपश्चरणादिनाऽऽगामिनि काले ममाणिमाद्यष्टमेत्यादिकाऽष्टप्रकारा सिद्धिर्भविष्यतीत्यनया च सिद्ध्या सिद्धोऽहमदुःखोऽशुभो मध्यस्थ इत्येवंरूपामाशंसां न कुर्यात् । तदकरणे च कारणमाह–'एत्थवि' इत्यादि, 'अत्रापि'–विशिष्टतपश्चरणे सत्यपि कुतश्चिन्निमित्तादुपसर्गाद्यानसद्भावे सति कदाचित्सिद्धिः स्यात्कदाचिच्च नैवाशेषकर्मक्षयलक्षणा सिद्धिः स्यात्, तथा चोक्तम्—"जे जत्तिया उ हेऊ भवस्स, ते चेव तत्तिया मोक्खे" इत्यादि । यदि वाऽत्राप्यणिमाद्यष्टगुणकारणे तपश्चरणादौ सिद्धिः स्यात्कदाचिच्च न स्यात्–तद्विपर्ययोऽपि वा स्यादिति, एवं व्यवस्थिते प्रेक्षापूर्वकारिणां कथमाशंसा कर्तुं युज्यते इति, सिद्धिश्चाष्टप्रकारेयं–अणिमा १, लघिमा २, महिमा ३, प्राप्तिः ४, प्राकाम्यं ५, ईशत्वं ६, वशित्वं ७, यत्रकामावसायित्वमिति ८; तदेवमैहिकार्थमामुष्मिकार्थं कीर्त्तिवर्णश्लोकाद्यर्थं च तपो न विधेयमिति स्थितम् । साम्प्रतमनुकूलप्रतिकूलेषु शब्दादिषु विषयेषु रागद्वेषाभावं दर्शयितुमाह–स भिक्षुः सर्वाशंसारहितो वेणुवीणादिषु शब्देषु 'अमूर्च्छितः'–अगृद्धोऽनध्युपपन्नः, तथा रासभादिशब्देषु कर्कशेषु अद्विष्टः, एवं रूपरसगन्धस्पर्शेष्वपि

ना० १ इच्छाऽनभिघात. । २ स्थावरेष्वप्याज्ञाकारित्व । ३ भूमावप्युन्मज्जननिमज्जने । ४ सत्यसंकल्पता ।

शान्त्यादिरूपेण शाश्वत इत्येवं च 'अभिसमेत्य'–केवलज्ञानेनावलोक्य 'लोक'–चतुर्दशरज्ज्वात्मकं 'सेवज्ञैः'–तीर्थकृद्भिः 'प्रवेदित'–कथित इत्येव सर्वं ज्ञात्वा स भिक्षुर्विदितवेद्यो विरतः प्राणातिपातादावत्परिग्रहादिति, एतदेव दर्शयितुमाह—'णो दंत' इत्यादि, इह पूर्वोक्तमहाव्रतपालनार्थमनेनोत्तरगुणाः प्रतिपाद्यन्ते, तत्र अपरिग्रहो–निष्किञ्चनः सन् साधुर्नो 'दन्तप्रक्षालनेन'–कदम्बादिकाष्ठेन दन्तान् प्रक्षालयेत्, तथा नो 'अञ्जन'–सौवीरादिकं विभूषार्थमक्ष्णोर्दद्यात्, तथा नो वमनविरेचनादिकाः क्रियाः कुर्यात्, तथा नो शरीरस्य स्वीयवस्त्राणां वा धूपनं कुर्यात्, नापि कासापनयनार्थं त धूम योगवर्तिनिष्पादितमापिबेदिति । साम्प्रत मूलगुणोत्तरगुणप्रस्तावमुपसंजिघृक्षुराह–(ग्रन्थाग्रं ९०००) स मूलोत्तरगुणव्यवस्थितो भिक्षुर्नास्य क्रिया–सावद्या विद्यते इत्यक्रियः, संवृतात्मकतया सांपरायिककर्माबन्धक इत्यर्थः, कुत एवंभूतः यतः प्राणिनामलूषक –अहिंसकोऽनुपमर्दक इत्यर्थः, तथा न विद्यते क्रोधो यस्यासावक्रोधः, एवममानोऽमायोऽलोभ , कषायोपशमाच्चोपशान्त –शीतीभूतस्तदुपशमाच्च परिनिर्वृत इव परिनिर्वृतः, एष तावदैहिकेभ्यः कामभोगेभ्यो विरतः, पारलौकिकेभ्योऽपि विरत इति दर्शयति–'नो आससं' इत्यादि, 'नो'–नैवाशंसां पुरस्कृत्य, ममानेन विशिष्टतपसा जन्मान्तरे कामभोगावाप्तिर्भविष्यतीत्येवंभूतामाशंसां न पुरस्कुर्यादिति, एतदेव दर्शयितुमाह—'इमेण मे' इत्यादि, अस्मिन्नेव जन्मन्यमुना विशिष्टतपःफलेन, दृष्टेनामर्षौषध्यादिना तथा, पारलौकिकेन च श्रुतेनार्ह्रकचक्रिमहामण्डलिकवासुदेवत्वादीनां विशिष्टतपःफलेन, तथा 'मपण व'त्ति–'मन ज्ञाने' जातिस्मरणादिना ज्ञानेन, यथाऽऽचार्याद्यैः महाशाखिज्ञातेन–अवगतेन

'जीवान्'-आयुष्कधरणलक्षणान् 'सत्त्वान्'-सदा सत्त्वोपेतान्, 'समारभ्य'-तदुपमर्दकमारम्भं विधाय 'समुद्दिश्य'-तत्पीडां सम्यगुद्दिश्य, क्रीतं क्रयेण द्रव्यविनिमयेन, 'पामिच्चं'ति-उद्यतकम्, 'आच्छेद्य'मित्यन्यस्मादाच्छिद्य 'अनिसृष्ट'मिति-परेणानुत्संकलितम्, 'अभ्याहृत'मिति-साध्वभिमुखं ग्रामादेरानीतम्, 'आहृत्य'-उपेत्य साध्वर्थं कृतमुद्देशिकमित्येवं भूतमाहारजातं साधवे दत्तं स्यात्, तच्चाकामेन तेन परिगृहीतं स्यात्, तदेवं दोषदुष्टं च ज्ञात्वा स्वय न भुञ्जीत, नाप्यपरेण भोजयेत्; न च भुञ्जानपरं समनुजानीयादित्येवं दुष्टाहारदोषान्निवृत्तो भिक्षुर्भवतीति। अथ पुनरेवं जानीयादित्यादि, तद्यथा-विद्यते तेषां गृहस्थानामेवंभूतो वक्ष्यमाणः 'पराक्रमः'-सामर्थ्यमाहारनिर्वर्तनं प्रत्यारम्भस्तेन च यदाहारजातं निर्वर्त्तितं 'यस्य चार्थाय'-यत्कृते तत् 'चेतित'मिति-दत्तं निष्पादितं स्याद्-भवेत्, यत्कृते च तन्निष्पादितं तत्स्वनामग्राहमाह, तद्यथा—आत्मनः स्वनिमित्तमेवाहारादिपाकनिर्वर्तनं कृतमिति, तथा पुत्राद्यर्थं यावदादेशाय-आदिश्यते यस्मिन्नागते संभ्रमेण परिजनस्तदासनदानादिव्यापारे स आदेशः-प्राघूर्णकस्तदर्थं वा पृथक्प्रहेणार्थं विशिष्टाहारनिर्वर्तनं क्रियते, तथा श्यामा-रात्रिस्तस्यामशनमाशः श्यामाशस्तदर्थं, प्रातरशनं प्रातराशः-प्रत्यूषस्येव भोजनं तदर्थं 'सन्निधिसंनिचयो'-विशिष्टाहार[3]संग्रहस्य संचयः क्रियते। अनेन चैतत्प्रतिपादितं भवति-बालवृद्धग्लानादिनिमित्तं प्रत्यूषादिसमयेष्वपि भिक्षाटनं क्रियते, तस्य चायमभिहितः संभवः, स च 'संनिधिसंचय'-इहैकेषां मानवानां भोजनार्थं भवति, तत्र भिक्षु-

सा० 1 आदिशब्दस्य प्रकारार्थत्वाद् दुहितृस्नुषा, यावच्छब्दश्च धान्याद्यर्थम्। २ ०शनासनदा० प्र०। ३ समुदायस्य।

वाच्यमिति। पुनरपि सामान्येन क्रोधाद्युपशमं दर्शयितुमाह–'विरए कोहाओ' इत्यादि, क्रोधमानमायालोभेभ्यो विरत इत्यादि सुगमं यावदिति, 'से महया आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए से भिक्खु'त्ति,– स भिक्षुर्भवति यो महतः कर्मोपादानादुपशान्तः सत्संयमे चोपस्थितः सर्वपापेभ्यश्च विरतः प्रतिविरत इति। एतदेव च महतः कर्मोपादानाद्विरमणं साक्षाद्दर्शयितुमाह–'जे इमे' इत्यादि, ये केचन त्रसाः स्थावराश्च प्राणिनो भवन्ति, तान् सर्वानपि 'नो'–नैव स्वयं सत्साधवः समारभन्ते,–प्राण्युपमर्दकमारम्भं नारभन्त इतियावत्, तथा नान्यैः समारम्भयन्ते,–न चान्यान् समारभमाणान् समनुजानत इत्येवं महतः कर्मोपादानादुपशान्तः प्रतिविरतो भिक्षुर्भवतीति। साम्प्रतं कामभोगनिवृत्तिमधिकृत्याह–'जे इमे' इत्यादि, ये केचनामी काम्यन्त इति कामा भुज्यन्त इति भोगाः, ते च सचित्ता अचित्ता वा भवेयुः, तांश्च न स्वतो गृह्णीयान्नाप्यन्येन ग्राहयेत्, नाप्यपरं गृह्णन्तं समनुजानीयादित्येवं कर्मोपादानाद्विरतो भिक्षुर्भवतीति। साम्प्रतं सामान्यतः साम्परायिककर्मोपादाननिषेधमधिकृत्याह–यदपीदं संपरैति तासु तासु गतिष्वनेन कर्मणेति सांपरायिकं, तच्च तत्प्रद्वेषनिह्नवमात्सर्यान्तरायाशातनो पघातैर्बध्यते, तत्कर्म तत्कारणं वा न कृतकारितानुमतिभिः करोति स भिक्षुरभिधीयत इति। साम्प्रतं भिक्षाविशुद्धिमधिकृत्याह–'से भिक्खू' इत्यादि, स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतमाहारजातं जानीयात्, 'अस्सिं पडियाए'त्ति– 'एतत्प्रतिज्ञया' आहारदानप्रतिज्ञया यदि वा 'अस्मिन्पर्याये'–साधुपर्याये व्यवस्थितमेकं साधुं साधर्मिकं समुद्दिश्य कश्चिच्छ्रावकः प्रकृतिभद्रको वा साध्वाहारदानार्थं 'प्राणिनः'–द्व्येकेन्द्रियान् 'भूतानि'–त्रिकालभावीनि

'जीवान्'-आयुष्कधरणलक्षणान् 'सत्त्वान्'-सदा सत्त्वोपेतान्, 'समारभ्य'-तदुपमर्दकमारम्भं विधाय 'समुद्दिश्य'-तत्पीडां सम्यगुद्दिश्य, क्रीतं क्रयेण द्रव्यविनिमयेन, 'पामिच्चं'ति-उद्यतकम्, 'आच्छेद्य'मित्यन्यसादाच्छिद्य 'अनिसृष्ट'मिति-परेणानुत्संकलितम्, 'अभ्याहृत'मिति-साध्वभिमुखं ग्रामादेरानीतम्, 'आहृत्य'-उपेत्य साध्वर्थं कृतमुद्देशिकमित्येवं भूतमाहारजातं साधवे दत्तं स्यात्, तच्चाकामेन तेन परिगृहीतं स्यात्, तदेवं दोषदुष्टं च ज्ञात्वा स्वय न भुञ्जीत, नाप्यपरेण भोजयेत्; न च भुञ्जानपरं समनुजानीयादित्येवं दुष्टाहारदोषान्निवृत्तो भिक्षुर्भवतीति । अथ पुनरेवं जानीयादित्यादि, तद्यथा-विद्यते तेषां गृहस्थानामेवंभूतो वक्ष्यमाणः 'पराक्रमः'-सामर्थ्यमाहारनिर्वर्तनं प्रत्यारम्भस्तेन च यदाहारजातं निर्वर्त्तितं 'यस्य चार्थाय'-यत्कृते तत् 'चेतित'मिति-दत्तं निष्पादितं स्याद्-भवेत्, यत्कृते च तन्निष्पादितं तत्स्वनामग्राहमाह, तद्यथा—आत्मनः स्वनिमित्तमेवाहारादिपाकनिर्वर्तनं कृतमिति, तथा पुत्राद्यर्थं[1] यावदादेशाय-आदिश्यते यस्मिन्नागते संभ्रमेण परिजनस्तद्दासनदानादि[2]व्यापारे स आदेशः-प्राघूर्णकस्तदर्थं वा पृथक्प्रहेणार्थं विशिष्टाहारनिर्वर्तनं क्रियते, तथा श्यामा-रात्रिस्तस्यामशनमाशः श्यामाशस्तदर्थं, प्रातरशनं प्रातराशः-प्रत्यूषस्येव भोजनं तदर्थं 'सन्निधिसंनिचयो'-विशिष्टाहार[3]संग्रहस्य संचयः क्रियते । अनेन चैतत्प्रतिपादितं भवति-बालवृद्धग्लानादिनिमित्तं प्रत्यूपादिसमयेष्वपि भिक्षाटनं क्रियते, तस्य चायमभिहितः संभवः, स च 'संनिधिसंचय'-इहैकेषां मानवानां भोजनार्थं भवति, तत्र भिक्षु-

सा० १ आदिशब्दस्य प्रकारार्थत्वाद् दुहितृस्नुषा, यावच्छब्दश्च धाम्याद्यर्थम् । २ ०शनासनदा० प्र० । ३ समुदायस्य ।

उपतविहारी परकृतपरनिष्ठितमुद्गमोत्पादनैषणाशुद्धमाहारमाहरेत्, अत्र च परकृतपरनिष्ठिते चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा—तस्य कृत तस्यैव च निष्ठित, तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितम्, अन्यस्य कृत तस्यैव निष्ठितम्, अन्यस्य कृत मन्यस्य निष्ठितमित्यत्र चतुर्थो भङ्गः सूत्रेणोपात्तः; अयं च शुद्धो द्वितीयश्च, अन्यस्य निष्ठितत्वात्, तत्राधाकर्मादि त्रिकादय उद्गमदोषाः षोडश, धात्र्युत्पादनादोषा धात्रीदूत्यादिकाः षोडशैव, तथैषणादोषाः शङ्कितादयो दश, एव मेभिर्द्विचत्वारिंशद्दोषै रहितत्वाच्छुद्धः तथा शस्त्रम्—अग्न्यादिकं तेनातीत—प्रासुकीकृत, 'शस्त्रपरिणामित'मिति—शस्त्रेण स्वकायपरकायादिना निर्जीवीकृतं वर्णगन्धरसादिभिश्च परिणमित, हिंसां प्राप्त-हिंसितं, विरूपं हिंसितं विहिंसितं—न सम्यक् निर्जीवीकृतमित्यर्थः, तत्प्रतिषेधादविहिंसित, निर्जीवमित्यर्थः, तदन्वेषितम्—अन्वेषित भिक्षा चर्याविधिना प्राप्त, 'भैक्षिक'मिति—केवलसाधुवेषावाप्त न पुनर्वाग्व्यापारेणतो निमित्तादिना, चोत्पादित तदपि 'सामुदानिक'—'समुदान—भिक्षासमूहस्तत्र भव सामुदानिकम्, एतदुक्त भवति—मधुकरवृत्त्याऽवाप्तं सर्वत्र स्तोक स्तोकं गृहीतमित्यर्थः। तथा प्रशस्येद ग्रास—गीतार्थेनोपात्तमशनम्—आहारजात, तदपि वेदनावैयावृत्त्यादिके कारणे सति, तत्रापि प्रमाणयुक्तं नातिमात्रं, प्रमाण चेदम्—"अद्धम सणस्स सवंजणस्स कुज्जा दवस्स दो भाए। वाउपवियारणट्ठा छब्भाग ऊणय कुज्जा ॥ १ ॥" इति। एतदपि न वर्णबलाद्यर्थं किंतु यात्रामात्रेणाहारेण यतः क्रियासु प्रवर्तते, तत्र दृष्टान्तद्वयमाह—तद्यथा—अक्षस्योपाञ्जनम्—अभ्यङ्गो व्रणस्य च लेपन—प्रलेपस्तदुपमया आहारमाहरेत्, तथा

ख 1 अर्द्धमशनस्य सव्यंजनस्य कुर्याद् द्रवस्य द्वौ भागौ। वातप्रविचारणार्थं षष्ठं भागमूनं कुर्यात् ॥ १ ॥

चोक्तम्–"अब्भंगेण व सगडं ण तरइ विगइं विणा उ जो साहू । सो रागदोसरहिओ मत्ताए विहीइ तं सेवे ॥ १ ॥" एतदेव दर्शयति–संयमयात्रायां मात्रा संयमयात्रामात्रा, यावत्याऽऽहारमात्रया संयमयात्रा प्रवर्तते सा तथा, तया–संयमयात्रामात्रया वृत्तिर्यस्य तत्तथा, तदपि बिलप्रवेशपन्नगभूतेनात्मनाऽऽहारमाहरेत्, एतदुक्तं भवति–यथाऽहिर्बिलं प्रविशन् तूर्णं प्रविशति एवं साधुनाऽप्याहारस्तत्स्वादमनास्वादयता शीघ्रं प्रवेशयितव्य इति, यदि वा सर्पेणेवाहारो लब्ध्वाऽस्वादमभ्यवहार्यत इति । तदेव चाहारजातं दर्शयितुमाह—'अन्नं'–भक्तम्, 'अन्नकाले'–सूत्रार्थपौरुष्युत्तरकालं भिक्षाकाले प्राप्ते, पुरःपश्चात्कर्मपरिहृतं भवति;–यथोक्तभिक्षाटनेन, ग्रहणकालावाप्तं भैक्षं परिभोगकाले भुञ्जीत, तथा पानकं पानकाले, नातितृषितो भुञ्जीत नाप्यतिबुभुक्षितः पानकं पिबेदिति, तथा वस्त्रं वस्त्रकाले गृह्णीयाद्, उपभोगं वा कुर्यात्, तथा 'लयनं'–गुहादिकमाश्रयस्तस्य वर्षास्ववश्यमुपादानम् अन्यदा त्वनियमः, तथा शय्यतेऽस्मिन्निति शयनं–संस्तारकः स च शयनकाले, तत्राप्यगीतार्थानां प्रहरद्वयं निद्राविमोक्षो गीतार्थानां प्रहरमेकमिति । स भिक्षुराहारोपधिशयनस्वाध्यायध्यानादीनां मात्रां जानातीति तद्विधिज्ञः सन् अन्यतरां दिशमनुदिशं वा 'प्रतिपन्नः'–समाश्रितो धर्ममाख्यापयेत्—प्रतिपादयेत्, यद्येन विधेयं तद्यथायोगं विभजेद्, धर्मफलानि च कीर्तयेद्—आविर्भावयेत्, तच्च धर्मकथनं परहितार्थप्रवृत्तेन साधुना सम्यगुपस्थितेषु शिष्येषु अनुपस्थितेषु वा—कौतुकादिप्रवृत्तेषु 'शुश्रूषमाणेषु'–श्रोतुं प्रवृत्तेषु स्वपरहिताय 'प्रवेदयेद्'–आवे-

सा० १ अभ्यङ्गेनेव शकटं न शक्नोति विकृतिं विनैव य साधु । स रागद्वेषरहितो मात्रया विधिना तां सेवेत ॥ १ ॥

...दशपवर्दिनिपातन्। श्रोतृमुपस्थितेषु यत्कथयेत्तद्दर्शयितुमाह—'संतिविरइं' इत्यादि, शान्ति –उपशम क्रोध
...मयपाना प्राणातिपातादिभ्यो विरतिः शान्तिविरतिः, यदि वा शान्तिः–अशेषक्लेशोपशमरूपा तस्यै—तदर्थं
...तिः शान्तिविरतिस्तां कथयेत्, 'उपसमम्'–इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमरूप रागद्वेषाभावजनित, तथा 'निर्वृत्ति'–
निरानमनपर शोपरमरूपं, तथा 'सोयवियं'ति–शौच तदपि मायशौच मनोपाधिविशुद्धता व्रतामालिन्य, 'अज्ज
वियं'ति–आर्जवम्–ममायित्व, तथा मार्दव—मृदुभावः, सर्वत्र प्रश्रयवत्त्व विनयनमनेतिपावत्, तथा 'लाघ
वियं'ति–क्रमतो लाघवापादनं, कर्मगुरोरात्मनः कर्मापनयनतो लघुत्वस्यासजनन, साम्प्रतमुपसंहारद्वारेण सर्व
...कारणमाह–अतिपतनम्–अतिपातः प्राण्युपमर्दन तद्विद्यते यस्यासावतिपाती तत्स्वस्त्वमतिपेषावननति
...णिनां भूतानां यावत्सत्त्वानां धर्ममनुविचिन्त्यानुविचिन्त्य वा 'कीर्तयेत्'–कथयेत्, इदमुक्त
...यथाभूतं धर्मं कथयेदिति। साम्प्रत धर्मकीर्तन यथा निरुपधि भवति, तथा दर्शयितुमाह—
...निष्ठिताहारभोजी यथाक्रियाकालानुष्ठायी शुश्रूषत्सु धर्मं कीर्तयेत्, नाप्यस्य हेतोर्भक्तमायमीश्वरो
पमकपात्रस्य निग्मनाहारजातं दातव्यमित्येतन्निमित्त न धर्ममाचक्षीत, तथा पानवस्त्रलयनशयननिमित्त न धर्म
माचक्षीत, अन्येषां वा विरूपरूपाणाम्–उपासनानां कार्याणां कामभोगानां वा निमित्त न धर्ममाचक्षीत, तथा
...निमनुपगच्छन् धर्ममाचक्षीत, कर्मनिर्जरयाथान्यत्र न धर्म कथयेत्, अपरप्रयोजननिरपेक्ष एव धर्मं कथयेदिति। धर्मे
...हारेणोपसंहिरन्नाह—'इह खलु तस्से'त्यादि, 'इह'–अस्मिन् जगति, खलु–वाक्यालङ्कारे

'तस्य'–भिक्षोर्गुणवतः 'अन्तिके'–समीपे पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं धर्मं श्रुत्वा, 'निशम्य'–अवगम्य सम्यगुत्थानेनोत्थाय, 'वीराः'–कर्मविदारणसहिष्णवो ये चैवंभूतास्ते 'एवं'–पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टानुष्ठानतया सर्वस्मिन्नपि मोक्षकारणे सम्यग्दर्शनादिके उप–सामीप्येन गताः सर्वोपगताः, तथैव सर्वेभ्यः पापस्थानेभ्य उपरताः सर्वोपरताः तथा, त एव सर्वोपशान्ता जितकषायतया शीतलीभूताः, तथा त एव सर्वात्मतया–सर्वसामर्थ्येन सदनुष्ठाने उद्यमं कृतवन्तो ये चैवंभूतास्तेऽशेषकर्मक्षयं कृत्वा परि–समन्तान्निर्वृताः अशेषकर्मक्षयं कृतवन्तः, इति ब्रवीमीति पूर्ववत्। साम्प्रतमध्ययनोपसंहारार्थमाह—'एव'मिति पूर्वोक्तविशेषणकलापविशिष्टः स भिक्षुः पुनरपि सामान्यतो विशेष्यते–धर्मः–श्रुतचारित्राख्यस्तेनार्थी धर्मार्थी, यथावस्थितं परमार्थतो धर्मं सर्वोपाधिविशुद्धं जानातीति धर्मवित्, तथा नियागः—संयमो विमोक्षो वा, कारणे कार्योपचारं कृत्वा तं प्रतिपन्नो नियागप्रतिपन्नः, स चैवंभूतः पञ्चमपुरुषजातः, तं चाश्रित्य तत्–यथेदं प्राक् प्रदर्शितं तत्सर्वमुक्तं, स च प्राप्तो वा, स्यात्पद्मवरपौण्डरीकम्–अनुग्राह्यं पुरुषविशेषं चक्रवर्त्यादिकं, तत्प्राप्तिश्च परमार्थतः केवलज्ञानावाप्तौ सत्यां भवति, साक्षाद्यथाऽवस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छित्तेः, अप्राप्तौ वा स्यात् मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानैर्व्यस्तैः समस्तैर्वा समन्वितः, स चैवंभूतः प्राग्व्यावर्णितगुणकलापोपेतो भिक्षुः, परि–समन्तात् ज्ञातं कर्म स्वरूपतो विपाकतस्तदुपादानतश्च येन स परिज्ञातकर्मा, तथा परिज्ञातः सङ्गः–संबन्धः सबाह्याभ्यन्तरो येन स तथा, परिज्ञातो निःसारतया गृहवासो येन स तथा, उपशान्त इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमात्, तथा समितः पञ्चभिः समितिभिः, तथा सह हितेन वर्तत इति सहितो ज्ञानादिभिर्वा सहितः—

द्येत्प्रकृपयेदिति भावः । श्रोतृनुपस्थितेषु यत्कथयेत्तद्दर्शयितुमाह—'संतिविरइं' इत्यादि, शान्ति—उपशमः क्रोधजयस्तत्प्रधाना प्राणातिपातादिभ्यो विरतिः शान्तिविरतिः, यदि वा शान्तिः—अशेषक्लेशोपशमरूपा तस्यै—तदर्थं विरतिः शान्तिविरतिस्तां कथयेत्, 'उपशमम्'—इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमरूपं रागद्वेषाभावजनितं, तथा 'निर्वृत्तिं'—निर्वाणमशेषद्वन्द्वोपरमरूपं, तथा 'सोयवियं'ति—शौचं तदपि भावशौचं सर्वोपाधिविशुद्धता व्रतामालिन्यं, 'अज्जवियं'ति—आर्जवम्—अमायित्वं, तथा मार्दवं—मृदुभावः, सर्वत्र प्रश्रयवत्त्वं विनयनम्रतेति यावत्, तथा 'लाघवियं'ति—कर्मणां लाघवापादनं, कर्मगुरोर्वाऽऽत्मनः कर्मापनयनतो लघुभावस्यासंजननं, साम्प्रतमुपसंहारद्वारेण सर्वशुभानुष्ठानानां मूलकारणमाह—अतिपतनम्—अतिपातः प्राण्युपमर्दनं तद्विद्यते यस्यासावतिपातिकस्तत्प्रतिषेधादनतिपातिकस्तं, सर्वेषां प्राणिनां भूतानां यावत्सत्त्वानां धर्ममनुविविच्यानुविचिन्त्य वा 'कीर्तयेत्'—कथयेत्, इदमुक्तं भवति—सर्वप्राणिनां रक्षाभूतं धर्मं कथयेदिति । साम्प्रतं धर्मकीर्तनं यथा निरुपधि भवति, तथा दर्शयितुमाह—स भिक्षुः परकृतपरिनिष्ठिताहारभोजी यथाक्रियाकालानुष्ठायी शुश्रूषत्सु धर्मं कीर्तयेत्, नान्नस्य हेतोर्धर्ममयमीश्वरो धर्मकथाप्रवणो विशिष्टमाहारजातं दास्यतीत्येतन्निमित्तं न धर्ममाचक्षीत, तथा पानवस्त्रलयनशयननिमित्तं न धर्ममाचक्षीत, अन्येषां वा विरूपरूपाणाम्—उच्चावचानां कार्याणां कामभोगानां वा निमित्तं न धर्ममाचक्षीत, तथा ग्लानिमनुपगच्छन् धर्ममाचक्षीत, कर्मनिर्जरायाश्चान्यत्र न धर्मं कथयेत्, अपरप्रयोजननिरपेक्ष एव धर्मं कथयेदिति । धर्मकथाश्रवणफलदर्शनद्वारेणोपसंजिहीर्षुराह—'इह खलु तस्से'त्यादि, 'इह'—अस्मिन् जगति, खलु—वाक्यालङ्कारे

जलमालकद्दमालं बहु[1]विहिवल्लिगहणं च पुक्खरिणिं[2]। जंघाहि[3] व बाहाहिँ[4] व नावाहि[5] व तं दुरवगाहं ॥
पउमं उल्लंघेत्तुं[6] ओयरमाणस्स होइँ[7] वावत्ती । किं नत्थि से उवाओ[8] जेणुल्लंघेज्ज अविवन्नो[9] ॥१६२॥
विज्जा व देवकम्मं अहवा आगासिया विउव्वणया। पउमं उल्लंघेत्तुं[10] न एस इणमो जिणक्खाओ[11] ॥
सुद्धप्पओग[12]विज्जा सिद्धा उ जिणस्स जाणणा विज्जा । भवियजणपोंडरीया उ जाए[13] सिद्धिगति[14]-
मुवेंति ॥ १६४ ॥ पुंडरीयं सम्मत्तं ॥ छ ॥

इह 'उपमा'–दृष्टान्तः, 'पौण्डरीकेण'–श्वेतशतपत्रेण कृतः, तस्येहाभ्यर्हितत्वात्, तस्यैव चोपचयेन सर्वावयवनिष्पत्तिर्यावद्विशिष्टोपायेनोद्धरणं, दार्ष्टान्तिकाधिकारस्तु पुनरत्र भणितः–अभिहितश्चक्रवर्त्यादेर्भव्यस्य जिनोपदेशेन सिद्धिरिति, तस्यैव पूज्यमानत्वादिति । पूज्यत्वमेव दर्शयितुमाह–'सुरमणुय' इत्यादि, सुरादिषु चतुर्गतिकेषु जन्तुषु मध्ये मनुजाश्चरित्रस्य–सर्वसंवररूपस्य प्रभवः–शक्ता वर्तन्ते, न शेषाः सुरादयः, तेष्वपि मनुजेषु महाजननेतारश्चक्रवर्त्यादयो वर्तन्ते, तेषु प्रबोधितेषु प्रधानानुगामित्वात् इतरजनः सुप्रतिबोध एव भवतीत्यतोऽत्र चक्रवर्त्यादिना पौण्डरीककल्पेनाधिकार इति । पुनरप्यन्यथा मनुजप्राधान्यं दर्शयितुमाह–'अविय हु' इत्यादि, गुरु-

१ वहु० पहु० अ-आ. । २ पुक्खरणीं, पुक्करणी अ-आ. । ३ जघाहिं अ-आ । ४ पाहाहिं च, पाहाहिअ-आ । ५ नावाए वा दुरवगाह अ-आ । ६ तुपर०, तुपर० अ-आ । ७ अ-आ. होज्ज । ८ उवाउ अ-आ । ९ °ल्लघेज्जु अविवन्नो, °ल्लघेत्तु अविवत्तो अ आ । १० °घेत्तु,° घेउ अ आ. । ११ °क्खाउ अ-आ । १२ °उगवि° अ-आ । १३ जीए अ जोए आ. । १४ गइ अ-आ. ।

समन्वित', 'सदा'-सर्वकालं 'यतः'-संयतः प्राम्याचर्मितनियमकलापोपेतः, स एवगुणकलापान्वित एतद्रूप नीयः, तद्यथा-श्राम्यतीति श्रमणः सममना वा, तथा मा प्राणिनो अहि-व्यापादयेत्येवं प्रवृत्तिः-उपदेशो यस्य स माहनः स ब्रह्मचारी वा ब्राह्मणः, शान्तः स क्षमोपेतो, दान्त इन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन, तथा तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तः, तथा मुक्त इव मुक्तः, तथा विशिष्टतपश्चरणोपेतो महर्षिः, तथा मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः, तथा कृतमस्यास्तीति कृती पुण्यवान् परमार्थपण्डितो वा, तथा विद्वान् सद्विद्योपेतः, तथा भिक्षुर्निरवद्याहारतया भिक्षणशीलः, तथाऽन्तप्रान्ताहारत्वेन रूक्षः, तथा संसारतीरमूतो मोक्षस्तदर्थी, तथा चर्यत इति चरण-मूलगुणा, क्रियत इति करणम्-उत्तरगुणास्तेषां पारं—तीरं पर्यन्तगमन वेत्तीति चरणकरणपारविदिति। इतिशब्दः—परि समाप्तौ। ब्रवीमीति तीर्थकरवचनाद्यर्थः सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य एव भणति-यथाऽहं न स्वमनीषिकया ब्रवीमीति। साम्प्रत समस्ताध्ययनोपात्तदृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तात्पर्यार्थं गाथाभिर्निर्युक्तिकद्दर्शयितुमाह—

उवमा य पुंडरीए तस्सेव य उवणएण निज्जुत्ती। अधिगारो पुण भणिओ जिणोवदेसेण सिद्धित्ति॥

सुरमणुयतिरियनिरओवगे मणुया पहू चरित्तम्मि। अवि य महाजणनेयत्ति चक्कवट्टिंमि अधिगारो॥

अवि य हु भारियकम्मा नियमा उक्कस्सनिरयठितिगामी। तेऽवि हु जिणोवदेसेणं तेणेव भवेण सिज्झंति

१ पोंडरीए अ-आ। २ निज्जुत्ती अ-आ। ३ अहिगारो अ-आ। ४ भणिउ अ-आ। ५ °वए अ-आ। ६ निरउवगेसु अ-आ। ७ नेयत्ति अ-आ। ८ अहिगारो अ-आ। ९ अवि यहु अ-आ। १० ठिइ अ-आ। ११ तएणा अ-आ।

जलमालकद्दमालं बहुविहिवल्लिगहणं च पुक्खरिणिं[1][2]। जंघाहि[3] व बाहाहिँ[4] व नावाहि[5] व तं दुरवगाहं ॥
पउमं उल्लंघेत्तुं[6] ओयरमाणस्स होइ[7] वावत्ती । किं नत्थि से उवाओ[8] जेणुल्लंघेज्ज अविवन्नो[9] ॥१६२॥
विज्जा व देवकम्मं अहवा आगासिया विउव्वणया। पउमं उल्लंघेत्तुं[10] न एस इणमो जिणक्खाओ[11] ॥
सुद्धप्पओग[12]विज्जा सिद्धा उ जिणस्स जाणणा विज्जा । भवियजणपोंडरीया उ जाए[13] सिद्धिगति[14]-
मुवेंति ॥ १६४ ॥ पुंडरीयं सम्मत्तं ॥ छ ॥

इह 'उपमा'-दृष्टान्तः, 'पौण्डरीकेण'-श्वेतशतपत्रेण कृतः, तस्येहाभ्यर्हितत्वात्, तस्यैव चोपचयेन सर्वावयवनिष्पत्तिर्यावद्विशिष्टोपायेनोद्धरणं, दार्ष्टान्तिकाधिकारस्तु पुनरत्र भणितः-अभिहितश्चक्रवर्त्यादेर्भव्यस्य जिनोपदेशेन सिद्धिरिति, तस्यैव पूज्यमानत्वादिति । पूज्यत्वमेव दर्शयितुमाह-'सुरमणुय' इत्यादि, सुरादिषु चतुर्गतिकेषु जन्तुषु मध्ये मनुजाश्चरित्रस्य-सर्वसंवररूपस्य प्रभवः-शक्ता वर्तन्ते, न शेषाः सुरादयः, तेष्वपि मनुजेषु महाजननेतारश्चक्रवर्त्यादयो वर्तन्ते, तेषु प्रबोधितेषु प्रधानानुगामित्वात् इतरजनः सुप्रतिबोध एव भवतीत्यतोऽत्र चक्रवर्त्यादिना पौण्डरीककल्पेनाधिकार इति । पुनरप्यन्यथा मनुजप्राधान्यं दर्शयितुमाह-'अत्थि हु' इत्यादि, गुरु-

१ वहु० पहु० अ-आ. । २ पुक्खरणीं, पुष्करणी अ-आ. । ३ जघाहिं अ-आ । ४ पाहाहिं च, पाहाहिअ-आ । ५ नावाए वा दुरवगाहं अ-आ । ६ तुपर०, तुपर० अ-आ । ७ अ-आ. होज्ज । ८ उवाउ अ-आ । ९ °लघेज्जु अविवन्नो, °लघेत्तु अविवत्तो अ आ । १० °घेत्तु,° घेउं अ आ. । ११ °क्खाउ अ-आ । १२ °उगवि° अ-आ । १३ जीए अ जोए आ. । १४ गइ अ-आ. ।

कर्मांशोऽपि मनुष्या आसंकलितनरकायुषोऽपि—नरकगमनयोग्या अपि तेऽप्येवम्भूताज्जिनोपदेशाच्चेनैव भवेन सम स्तकर्मक्षयात् सिद्धिगामिनो भवन्तीति । तदेवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तात्पर्यार्थं प्रदर्श्य दृष्टान्तभूतपौण्डरीकाऽऽधारायाः पुष्करिण्या दुरवगाहित्वं पश्चाल्लापकोपात्त निर्युक्तिकृद्दर्शयितुमाह—'जलमाले'-त्यादि, जलमालाम्-अस्यर्थप्रचुरजलां, तथा कर्दममालाम्-अप्रतिष्ठिततलतया प्रभूततरपङ्कां तथा बहुविधवल्लिगहनां च पुष्करिणीं, नद्याम्यां वा बाहुभ्यां वा नावा दुस्तरां पुष्करिणीं, दृष्ट्वेति क्रियाध्याहारः, किंवान्यत्-'पउम' इत्यादि, तन्मध्ये पद्मवरपौण्डरीकं गृहीत्वा समुत्तरतोऽनस्य व्यापत्तिः प्राणानां भवेत्, किं तत्र कश्चिदुपायः स नास्ति ?, येनोपायेन गृहीतकमलः सन् तां पुष्करिणीमुल्लङ्घयेदविपन्न इति । तदुल्लङ्घनोपाय दर्शयितुमाह–'विद्या चे'त्यादि, विद्या वा काचित्प्रज्ञप्त्यादिका देवताकर्म वाऽथवाऽऽकाशगमनलब्धिर्वा कस्यचिद्भवेत् तेनासावविपन्नो गृहीतपौण्डरीकः सन्नुल्लङ्घयेत्तां पुष्करिणीम्, एष च जिनैरुपायः समाख्यात इति । अर्थोपसंहारार्थमाह–'सुद्धप्पे'त्यादि, शुद्धप्रयोग विद्या सिद्धा जिनस्यैव विज्ञानरूपा विद्या नान्यस्य कस्यचिद्यया विद्यया तीर्थकरदर्शितया भव्यजनपौण्डरीकाः सिद्धिमुपगच्छन्तीति । गतोऽनुगमः, साम्प्रतं नयाः, ते च पूर्ववद्द्रष्टव्या इति । समाप्तं पौण्डरीकाख्यं द्वितीयश्रुतस्कन्धे प्रथमाध्ययनमिति ॥ [ग्रन्थाग्रम् १०२०] ॥

इति श्रीसूत्रकृताङ्गे पौण्डरीकाख्यमाद्यमध्ययनं समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वितीयक्रियास्थानाख्याध्ययनस्य प्रारम्भः ॥

व्याख्यातं प्रथमाध्ययनं, साम्प्रतं द्वितीयमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः, इहान्तराध्ययने पुष्करिणीपौण्डरीकदृष्टान्तेन तीर्थिकाः सम्यङ्मोक्षोपायाभावात् कर्मणां बन्धकाः प्रतिपादिताः, सत्साधवश्च सम्यग्दर्शनादिमोक्षमार्गप्रवृत्तत्वान्मोचकाः सदुपदेशदानतोऽपरेषामपीति । तदिहापि यथा कर्म द्वादशभिः क्रियास्थानैर्बध्यते, यथा च त्रयोदशेन मुच्यते, तदेतत्पूर्वोक्तमेव बन्धमोक्षयोः प्रतिपादनं क्रियते, अनन्तरसूत्रेण चाय संबन्धः; तद्यथा–भिक्षुणा चरणकरणविदा कर्मक्षपणायोद्यतेन द्वादश क्रियास्थानानि–कर्मबन्धकारणानि सम्यक् परिहर्तव्यानि, तद्विपरीतानि च मोक्षसाधनानि आसेवितव्यानि, इत्यनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा–कर्मणां बन्धोऽनेन प्रतिपाद्यते, तद्विमोक्षश्चेति। नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे क्रियास्थानमिति द्विपदं नाम, तत्रापि क्रियापदनिक्षेपार्थं प्रस्तावमारचयन्निर्युक्तिकृदाह–

किरियाओ भणियाओ किरियाठाणंति तेण अज्झयणं। अहिगारो पुण भणिओ बंधे तह मोक्खमग्गे य ॥ १६५ ॥

१ °उ. अ आ. । २ ०य° अ-आ ।

कर्मांशोऽपि मनुजा आर्यकलिवनरकायुषोऽपि—नरकगमनयोग्या अपि तेऽप्येवम्भूताज्जिनोपदेशादेनैव भवेन सम स्तकर्मक्षयात् सिद्धिगामिनो भवन्तीति । तदेवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तात्पर्यार्थं प्रदर्श्य दृष्टान्तभूतपौण्डरीकाऽऽधा-रायाः पुष्करिण्या दुरवगाहित्व सूत्रालापकोपात्त निर्युक्तिकृद्दर्शयितुमाह—'जलमाल'—त्यादि, जलमालाम्—अस्पर्शप्रचुरजलां, तथा कर्दममालाम्—अप्रतिष्ठितजलतया प्रभूततरपङ्कां तथा बहुविधवल्लिगहनां च पुष्करिणीं, बह्वाम्भां वा बाहुभ्यां वा नावा दुस्तरां पुष्करिणीं, दृष्ट्वेति क्रियाध्याहारः, किंभान्यत्—'पउम' इत्यादि, तन्मध्ये पद्मवरपौण्डरीकं गृहीत्वा समुत्तरतोऽत्रस्य व्यापत्तिः प्राणानां भवेत्, किं तत्र कश्चिदुपायः स नास्ति ?, येनोपायेन गृहीतकमलः सन् तां पुष्करिणीमुल्लङ्घयेदविपन्न इति । तदुच्यतेनोपायं दर्शयितुमाह—'विधा वे'त्यादि, विद्या वा काषिस्तम्भादिका देवताकर्म वाऽऽकाशगमनलब्धिर्वा कस्यचिद्भवेत् तेनासावविपन्नो गृहीतपौण्डरीकः सन्तुलङ्घयेत्तां पुष्करिणीम्, एष च जिनेरुपायः समाख्यात इति । सर्वोपसंहारार्थमाह—'सुद्धप्पे'त्यादि, शुद्धप्रयोग विधा सिद्धा जिनस्यैव विज्ञानरूपा विद्या नान्यस्य कस्यचिदपरया विद्यया तीर्थकरदर्शितया भव्यजनपौण्डरीकाः सिद्धिमुपगच्छन्तीति । गतोऽनुगमः, साम्प्रतं नयाः, ते च पूर्ववद्द्रष्टव्या इति । समाप्तं पौण्डरीकाख्यं द्वितीयश्रुतस्कन्धे प्रथमाध्ययनमिति ॥ [ग्रन्थाग्रम् १०२०] ॥

इति श्रीसूत्रकृताङ्गे पौण्डरीकाख्यमाद्यमध्ययनं समाप्तम् ॥

प्रयोगक्रिया, उपायक्रिया, करणीयक्रिया, समुदानक्रिया, ईर्यापथक्रिया, सम्यक्त्वक्रिया, सम्यङ्मिथ्यात्वक्रिया, मिथ्यात्वक्रिया चेति"। तत्र प्रयोगक्रिया मनोवाक्कायलक्षणा त्रिधा, तत्र स्फुरद्भिर्मनोद्रव्यैरात्मन उपयोगो भवति, एवं वाक्काययोरपि वक्तव्यं, तत्र शब्दे निष्पाद्ये वाक्काययोर्द्वयोरप्युपयोगः, तथा चोक्तम्–"गिण्हइ य काइएणं णिसिरइ तह वाइएण जोगेण" गमनादिका तु कायक्रियैव १, उपायक्रिया तु घटादिकं द्रव्यं येनोपायेन क्रियते, तद्यथा–मृत्खननमर्दनचक्रारोपणदण्डचक्रसलिलकुम्भकारव्यापारैर्यावद्भिरुपायैः क्रियते सा सर्वोपायक्रिया २, करणीयक्रिया तु यद्येन प्रकारेण करणीयं तत्तेनैव क्रियते नान्यथा, तथाहि–घटो मृत्पिण्डादिकयैव सामग्र्या क्रियते न पाषाणसिकतादिकयेति ३, समुदानक्रिया तु यत्कर्म प्रयोगगृहीतं समुदायावस्थं सत्प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशरूपतया यया व्यवस्थाप्यते सा समुदानक्रिया, सा च मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसंपरायं यावत् भवति ४, ईर्यापथक्रिया तूपशान्तमोहादारभ्य सयोगिकेवलिनं यावदिति ५, सम्यक्त्वक्रिया तु सम्यग्दर्शनयोग्याः कर्मप्रकृतीः सप्तसप्ततिसंख्या यया बध्नाति साऽभिधीयते ६, सम्यङ्मिथ्यात्वक्रिया तु तद्योग्याः प्रकृतीश्चतुःसप्ततिसंख्या यया क्रियया बध्नाति साऽभिधीयते ७, मिथ्यात्वक्रिया तु सर्वाः प्रकृतीर्विंशत्युत्तरशतसंख्यास्तीर्थकराहारकशरीरतदङ्गोपाङ्गत्रिकरहिता यया बध्नाति सा मिथ्यात्वक्रियेत्यभिधीयते ८। साम्प्रतं स्थाननिक्षेपार्थमाह—इयं च गाथाऽऽचारप्रथमश्रुतस्कन्धे द्वितीयाध्ययने लोकविजयाख्ये 'जे गुणे से मूलट्ठाणे' इत्यत्र स्थानशब्दस्य सूत्रस्पर्शिकानिर्युक्त्यां प्रबन्धेन व्याख्यातेति नेह प्रत-

सू० १ काययोगयुक्तस्य। २ प्रयोजन व्यापार.। ३ गृह्णाति च कायिकेन निस्सारयति वाचिकेन योगेन।

वच्चे किरिपजणया य पयोगुवायकरणिज्जसमुदाणे। इरियावहसमत्ते सम्मामिच्छा य मिच्छत्ते ॥
नामं ठवणा दविए खेत्तेऽद्धा उड्ढ उवरती वसही। सजमपग्गहजोहे अचलगणण सघणा भावे ॥
समुदाणियाणिह तओ समपउत्ते य भावठाणमि। किरियाहिं पुरिस पावाइए उ सव्वे
परिक्खेज्जा ॥ १९८ ॥ किरियाठाण सम्मत्त ॥ छ ॥

तत्र क्रियन्त इति क्रियास्ताश्च कर्मबन्धकारणत्वेनाऽवश्यकान्तर्वर्तिनि प्रतिक्रमणाध्ययन—'पडिक्कमामि तेरसहिं किरियाठाणेहिं' ति अस्मिन्सूत्रेऽभिहिताः। यदि वा इहैव क्रिया 'भणिताः'—अभिहितास्तेनेदमध्ययन क्रियास्थानमित्युच्यते। तच्च क्रियास्थान क्रियावतस्तेव भवति नाक्रियावतस्तु, क्रियावन्तश्च कथिदुच्यन्ते केचि दुच्यन्तेऽतोऽध्ययनार्थाधिकारः, पुनरभिहितो बन्धे तथा मोक्षमार्गे चेति। तत्र नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यादिकां क्रियां प्रतिपादयितुमाह—तत्र द्रव्ये—द्रव्यविषये या क्रिया एजनता 'एजृ कम्पन' जीवस्याजीवस्य वा कम्पनरूपा चलनस्वभावा सा द्रव्यक्रिया, सापि प्रयोगाद्विस्रसया वा भवेत्, तत्राप्युपयोगपूर्विका वाऽनुपयोग पूर्विका वा अक्षिनिमेषमात्रादिका सा सर्वा द्रव्यक्रियेति। भावक्रिया स्त्रियं, तद्यथा—"प्रयोगक्रिया, उपायक्रिया,

१ वाणे क-ख । २ मिच्छेय क-ख । ३ 'उत्थाइमवरीअ तथा उड्ड उवरई। वा ४ भावावग्रहेति: 'पय । ५ वावि' क-ख.। ६ इय ड सम्मं ख-ख । ७ 'हि ख मा । ८ °उ क-ख.। वा० ९ मे इस्मा म ।

करणीयक्रिया, समुदानक्रिया, ईर्यापथक्रिया, सम्यक्त्वक्रिया, सम्यङ्मिथ्यात्वक्रिया, मिथ्यात्वक्रिया चेति"। तत्र प्रयोगक्रिया मनोवाक्कायलक्षणा त्रिधा, तत्र स्फुरद्भिर्मनोद्रव्यैरात्मन उपयोगो भवति, एवं वाक्काययोरपि वक्तव्यं, तत्र शब्दे निष्पाद्ये वाक्काययोर्द्वयोरप्युपयोगः, तथा चोक्तम्—"गिण्हइ य काइएणं णिसिरइ तह वाइएण जोगेण" गमनादिका तु कायक्रियैव १, उपायक्रिया तु घटादिकं द्रव्यं येनोपायेन क्रियते, तद्यथा—मृत्खननमर्दनचक्रारोपणदण्डचक्रसलिलकुम्भकारव्यापारैर्यावद्भिरुपायैः क्रियते सा सर्वोपायक्रिया २, करणीयक्रिया तु यद्येन प्रकारेण करणीयं तत्तेनैव क्रियते नान्यथा, तथाहि—घटो मृत्पिण्डादिकयैव सामग्र्या क्रियते न पाषाणसिकतादिकयेति ३, समुदानक्रिया तु यत्कर्म प्रयोगगृहीतं समुदायावस्थं सत्प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशरूपतया यया व्यवस्थाप्यते सा समुदानक्रिया, सा च मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसंपरायं यावत् भवति ४, ईर्यापथक्रिया तूपशान्तमोहादारभ्य सयोगिकेवलिनं यावदिति ५, सम्यक्त्वक्रिया तु सम्यग्दर्शनयोग्याः कर्मप्रकृतीः सप्तसप्ततिसंख्या यया बध्नाति साऽभिधीयते ६, सम्यङ्मिथ्यात्वक्रिया तु तद्योग्याः प्रकृतीश्चतुःसप्ततिसंख्या यया क्रियया बध्नाति साऽभिधीयते ७, मिथ्यात्वक्रिया तु सर्वाः प्रकृतीर्विंशत्युत्तरशतसंख्यास्तीर्थकराहारकशरीरतदङ्गोपाङ्गत्रिकरहिता यया बध्नाति सा मिथ्यात्वक्रियेत्यभिधीयते ८। साम्प्रतं स्थाननिक्षेपार्थमाह—इयं च गाथाऽऽचारप्रथमश्रुतस्कन्धे द्वितीयाध्ययने लोकविजयाख्ये 'जे गुणे से मूलट्ठाणे' इत्यत्र स्थानशब्दस्य सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यां प्रबन्धेन व्याख्यातेति नेह प्रत-

सा० १ काययोगयुक्तस्य । २ प्रयोजन व्यापार । ३ गृह्णाति च कायिकेन निस्सारयति वाचिकेन योगेन ।

न्यते। इह पुनर्यया क्रियया येन च स्थानेनाधिकारस्तद्दर्शयितुमाह—क्रियाणां मध्ये सामुदानिका क्रिया या व्याख्याता, तस्याश्च कषायानुगतत्वात् बहवो भेदा यतस्ततस्तासां सामुदानिकानां क्रियाणामिह प्रकरणे 'ठा'ति अधिकारो व्यापारः, सम्यक्प्रयुक्ते च भावस्थाने, तथेह विरतिरूपं संयमस्थानं प्रशस्तभावसेवनारूपं च गृह्यते, सम्यक्प्रयुक्तभावस्थानग्रहणसामर्थ्यादैर्यापथिकी क्रियापि गृह्यते, सामुदानिकाक्रियाप्रत्याख्यानाप्रशस्तभावस्थानान्यपि गृहीतानि, आभिश्च पूर्वोक्ताभिः क्रियाभिः पूर्वोक्तान् पुरुषान् तद्द्वारायातांश्चावादुकांश्च परीक्षेत सर्वानपीति। यथा चैवं तथा स्वत एव सूत्रकारः 'तजहा—से एगइया मणुस्सा भवंती'त्यादिना, तथा प्रावादुकपरीक्षामपि 'पावओ उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिया' इत्यादिना वक्ष्यतीति। गतो निर्युक्त्यनुगमः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यम्, तच्चेदम्—

सुयं मे आउसंतेण भगवया एवमक्खायं—इह खलु किरियाठाणे णामज्झयणे पण्णत्ते, तस्स णं अयमट्ठे—इह खलु संजूहेणं दुवे ठाणे एवमाहिज्जंति, तंजहा—धम्मे चेव अधम्मे चेव, उवसंते चेव अणुवसंते चेव। तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते, इह खलु पाईणं वा ६ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तंजहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुव्वण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे। तेसिं च णं इमं एतारूवं दंडसमादाणं संपेहाए तंजहा—णेरइएसु वा, तिरिक्खजोणिएसु वा,

मणुस्सेसु वा, देवेसु वा; जे यावन्ने तहप्पगारा पाणा विन्नू वेयणं वेयंति। तेसिं पि य णं इमाइं तेरस किरियाठाणाइं भवंतीतिमक्खायं, तंजहा—अट्ठादंडे १, अणट्ठादंडे २, हिंसादंडे ३, अकम्हादंडे ४, दिट्ठीविपरियासियादंडे ५, मोसवत्तिए ६, अदिन्नादाणवत्तिए ७, अज्झत्थवत्तिए ८, माणवत्तिए ९, मित्तदोसवत्तिए १०, मायावत्तिए ११, लोभवत्तिए १२; इरियावहिए १३॥ सूत्रम्—१६॥

सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्येदमाह, तद्यथा—श्रुतं मयाऽऽयुष्मता भगवतैवमाख्यातम्—इह खलु क्रियास्थानं नामाध्ययनं भवति, तस्य चायमर्थः—इह खलु 'संजूहेणं'ति सामान्येन—संक्षेपेण समासतो द्वे स्थाने भवतः, एते क्रियावन्तस्ते सर्वेऽप्यनयोः स्थानयोरेवमाख्यायन्ते, तद्यथा—धर्मे चैवाधर्मे चैव, इदमुक्तं भवति—धर्मस्थानमधर्मस्थानं च, यदि वा—धर्मादनपेतं धर्म्यं विपरीतमधर्म्यं, कारणशुद्ध्या च कार्यशुद्धिर्भवतीत्याह—उपशान्तं यत्तद्धर्मस्थानम्, अनुपशान्तं चाधर्मस्थानं, तत्रोपशान्ते—उपशमप्रधाने धर्मस्थाने धर्म्यस्थाने वा केचनमहासत्त्वाः समासन्नोत्तरोत्तरशुभोदया वर्तन्ते, परे च तद्विपर्यस्ते विपर्यस्तमतयः संसाराभिष्वङ्गिणोऽधोऽधोगतयो वर्तन्ते। इह च यद्यप्यनादिभवाभ्यासादिन्द्रियानुकूलतया प्रायशः पूर्वमधर्मप्रवृत्तो भवति लोकः, पश्चात्सदुपदेशयोग्याचार्यसंसर्गाद्धर्मस्थाने प्रवर्तते, तथाऽप्यभ्यर्हितत्वात् पूर्वं धर्मस्थानमुपशमस्थानं च प्रदर्शितं; पश्चात्तद्विपर्यस्तमिति। साम्प्रतं तु यत्र प्राणिनामनुपदेशतः स्वरसप्रवृत्त्याऽऽदावेव स्थानं भवति, तदधिकृत्याह—'तत्थ णं' इत्यादि, तत्रेति वाक्योपन्यासार्थे, णमिति वाक्यालङ्कारे; योऽसौ प्रथमानुष्ठेयतया प्रथमस्याधर्मपक्षस्य स्थानस्य विविधो भङ्गो विभङ्गो—

न्त । इह पुनर्यया क्रियया येन च स्थानेनाधिकारस्तद्दर्शयितुमाह—क्रियाणां मध्ये सामुदानिका क्रिया या व्याख्याता, तस्याश्च कषायानुगतत्वात् महतो भेदा यतस्ततस्तासां सामुदानिकानां क्रियाणामिह प्रकरणे 'तत्'ति अधिकारो व्यापारः, सम्यक्प्रयुक्ते च भावस्थाने, तथेह विरतिरूपं संयमस्थानं प्रशस्तभावसंपन्नारूपं च गृह्यते, सम्यक्प्रयुक्तभावस्थानग्रहणसामर्थ्यादीर्यापथिकी क्रियापि गृह्यते, सामुदानिकाक्रियाग्रहणाच्चाप्रशस्तभाव स्थानान्यपि गृहीतानि, आभिश्च पूर्वोक्ताभिः क्रियाभिः पूर्वोक्तान् पुरुषान् तद्द्वारायातान्प्रावादुकांश्च परीक्षेत सर्वानपीति । यथा चैव तथा स्वत एव सूत्रकारः 'तंजहा—से एगइया मणुस्सा भवंती'त्यादिना, तथा प्रावादुक-परीक्षायामपि 'पावमो उवगरणं च सिप्पसहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिया' इत्यादिना वक्ष्यतीति । गतो निर्युक्त्यनुगमः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यम्, तच्चेदम्—

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु किरियाठाणे णामज्झयणे पण्णत्ते, तस्स णं अयमट्ठे—इह खलु संजूहेणं दुवे ठाणे एवमाहिज्जंति, तंजहा—धम्मे चेव अधम्मे चेव, उवसंते चेव अणुवसंते चेव। तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते, इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तंजहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुव्वण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे। तेसिं च णं इमं एतारूवं दंडसमादाणं संपेहाए तंजहा—णेरइएसु वा, तिरिक्खजोणिएसु वा,

लेष्ठुकादिबुद्ध्या शराद्यभिघातेन चटकादिव्यापादनम् ५, तथा मृषावादप्रत्ययिकः, स च सद्भूतनिह्नवासद्भूतारोपणरूपः ६, तथा अदत्तस्य परकीयस्याऽऽदानं— स्वीकरणमदत्तादानं—स्तेयं तत्प्रत्ययिको दण्ड इति ७, तथाऽऽत्मन्यध्यध्यात्मं तत्र भव आध्यात्मिको दण्डः, तद्यथा—निर्निमित्तमेव दुर्मना उपहतमनःसंकल्पो हृदयेन दूयमानश्चिन्तासागरावगाढः संतिष्ठते ८, तथा जात्याद्यष्टमदस्थानोपहतमनाः परावमदर्शी तस्य मानप्रत्ययिको दण्डो भवति ९, तथा मित्राणामुपतापेन दोषो मित्रदोषस्तत्प्रत्ययिको दण्डो भवति १०, तथा माया—परवञ्चनबुद्धिस्तया दण्डो मायाप्रत्ययिकः ११, तथा लोभप्रत्ययिको—लोभनिमित्तो दण्ड इति १२, एवं पञ्चभिः समितिभिः समितस्य तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तस्य सर्वत्रोपयुक्तस्येर्याप्रत्ययिकः सामान्येन कर्मबन्धो भवति १३; एतच्च त्रयोदशं क्रियास्थानमिति । 'यथोद्देशस्तथा निर्देश' इति कृत्वा प्रथमात्क्रियास्थानादारभ्य व्याचिख्यासुराह—

पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा, णाइहेउं वा, अगारहेउं वा, परिवारहेउं वा, मित्तहेउं वा, णागहेउं वा, भूतहेउं वा, जक्खहेउं वा, तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरिति, अण्णेणवि णिसिरावेति, अण्णंपि णिसिरंतं समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम्-१७ ॥

यत्प्रथममुपात्तं दण्डसमादानमर्थाय दण्ड इत्येवमाख्यायते तस्यायमर्थः, तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः, पुरुषग्रहण-

विभागो विचारस्तस्यापमर्थ इति । 'इह'-अस्मिन् जगति प्राच्यादिषु दिक्षु मध्येऽन्यतरस्यां दिशि 'सन्ति'-विद्यन्ते एके केचन 'मनुष्या'-पुरुषाः, त एवंभूता भवन्तीत्याह, तद्यथा—आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः तद्विपरीतास्त्वनार्या एके केचन भवन्ति, यावद्रूपाः सुरूपा वेति । 'तेषां च'-आर्यादीनाम् 'इम' वक्ष्यमाणमेत द्रूप दण्डयतीति दण्ड—पापोपादानसंकल्पस्तस्य समादान-ग्रहण, 'समेहाए'त्ति-संप्रेक्ष्य, तच्च चतुर्गतिकानामन्य थाद्यः, 'पाणा'-प्राणिनो विश्वंसो वेदना-ज्ञान तद् 'वेदयन्ति'-अनुभवन्ति, यदि वा सातासातरूपां वेदनाम नुभवन्तीति, अत्र चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा-संज्ञिनो वेदनामनुभवन्ति विदन्ति च १, सिद्धास्तु विदन्ति नानुभव न्ति २, असंज्ञिनोऽनुभवन्ति न पुनर्विदन्ति ३, अजीवास्तु न विदन्ति नाप्यनुभवन्तीति ४, इह पुनः प्रथमतृतीया भ्यामधिकारो द्वितीयचतुर्थावस्तुभूताविति, 'तेषां च'-नारकतिर्यग्मनुष्यदेवानां तथाविधज्ञानवताम्, 'इमानि'-वक्ष्यमाणलक्षणानि त्रयोदश क्रियास्थानानि भवन्तीत्येवमाख्यातं तीर्थकरगणधरादिभिरिति । कानि पुनस्तानीति दर्शयितुमाह-'तजहे'त्यादि, तद्यथेत्ययमुदाहरणवाक्योपन्यासार्थः, 'आत्मार्थाय'-स्वप्रयोजनकृते दण्डोऽर्थ दण्डः पापोपादान १, तथाऽनर्थदण्ड इति निष्प्रयोजनमेव सावद्यक्रियानुष्ठानमनर्थदण्डः २, तथा हिंसनं हिंसा-प्राण्युपमर्दरूपा, तया सैव वा दण्डो हिंसादण्डः ३, तथाऽकस्माद् अनुपयुक्तस्य दण्डोऽकस्माद्दण्डः, अन्यस्य क्षिप याऽन्यस्य व्यापादनमिति ४, तथा दृष्टेर्विपर्यासो-रज्ज्वामिव सर्पबुद्धिस्तया दण्डो दृष्टिविपर्यासदण्डः, तद्यथा-

लेष्ठुकादिबुद्ध्या शराद्यभिघातेन चटकादिव्यापादनम् ५, तथा मृषावादप्रत्ययिकः, स च सद्भूतनिह्नवासद्भूतारोपणरूपः ६, तथा अदत्तस्य परकीयस्याऽऽदानं— स्वीकरणमदत्तादानं–स्तेयं तत्प्रत्ययिको दण्ड इति ७, तथाऽऽत्मन्यध्यध्यात्मं तत्र भव आध्यात्मिको दण्डः, तद्यथा–निर्निमित्तमेव दुर्मना उपहतमनःसंकल्पो हृदयेन दूयमानश्चिन्तासागरावगाढः संतिष्ठते ८, तथा जात्याद्यष्टमदस्थानोपहतमनाः परावमदर्शी तस्य मानप्रत्ययिको दण्डो भवति ९, तथा मित्राणामुपतापेन दोषो मित्रदोषस्तत्प्रत्ययिको दण्डो भवति १०, तथा माया–परवञ्चनबुद्धिस्तया दण्डो मायाप्रत्ययिकः ११, तथा लोभप्रत्ययिको–लोभनिमित्तो दण्ड इति १२, एवं पञ्चभिः समितिभिः समितस्य तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तस्य सर्वत्रोपयुक्तस्येर्याप्रत्ययिकः सामान्येन कर्मबन्धो भवति १३; एतच्च त्रयोदशं क्रियास्थानमिति । 'यथोद्देशस्तथा निर्देश' इति कृत्वा प्रथमात्क्रियास्थानादारभ्य व्याचिख्यासुराह—

पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा, णाइहेउं वा, अगारहेउं वा, परिवारहेउं वा, मित्तहेउं वा, णागहेउं वा, भूतहेउं वा, जक्खहेउं वा, तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरिति, अण्णेणवि णिसिरावेति, अण्णंपि णिसिरंतं समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम्–१७ ॥

यत्प्रथममुपात्तं दण्डसमादानमर्थाय दण्ड इत्येवमाख्यायते तस्यायमर्थः, तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः, पुरुषग्रहण-

सुपलक्षम् सर्वोऽपि चातुर्गतिकः प्राणी 'आत्मनिमित्तम्'-आत्मार्थं, तथा 'ज्ञातिनिमित्तं' स्वजनार्थं, तथा अगार-गृहं तन्निमित्तं, तथा 'परिवारो'-दासीकर्मकरादिकः परिकरो वा —गृहवेष्टपादिकस्तन्निमित्तं, तथा मित्रनागभूतयक्षाद्यर्थं, 'तं'-तथाभूतं स्वपरोपघातरूपं दण्डं त्रसस्थावरेषु प्राणिषु स्वयमेव 'निसृजति'-निक्षिपति, दण्डमिव दण्डमुपरि पातयति, प्राण्युपमर्दकारिणीं क्रियां करोतीत्यर्थः, तथाऽन्येनापि कारयति, अपरं दण्डं निसृजन्तं समनुजानीते, एवं कृतकारितानुमतिभिरेव तस्यानात्मज्ञस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यक्रियोपात्तं कर्म 'आधीयते'-संबध्यते इति । एतत्प्रथमं दण्डसमादानमर्थदण्डप्रत्ययिकमित्याख्यातमिति ।

अहावरे दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भवंति से णो अच्चाए, णो अजिणाए, णो मंसाए, णो सोणियाए, एवं हिययाए, पित्ताए, वसाए, पिच्छाए, पुच्छाए, वालाए, सिंगाए, विसाणाए, दंताए, दाढाए, णहाए, ण्हारुणिए, अट्ठीए, अट्ठिमिंजाए, णो हिंसिंसु मेत्ति, णो हिंसंति मेत्ति, णो हिंसिस्संति मेत्ति, णो पुत्तपोसणाए, णो पसुपोसणयाए, णो अगारपरिवूहणताए, णो समणमाहणवत्तणाहेउं, णो तस्स सरीरगस्स किंचि विप्परियादित्ता भवति; से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुंपइत्ता, विलुंपइत्ता, उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवति; अणट्ठादंडे। से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तंजहा—इक्कडाइ वा, कढिणाइ वा, जंतुगाइ वा, परगाइ वा, मोक्खाइ वा, तणाइ वा, कुसाइ वा,

णो अगारपडि-
कुच्छगाइ वा, पव्वगाइ वा, पलालाइ वा; ते णो पुत्तपोसणाए, णो पसुपोसणाए, णो अगारपडि-
वूहणयाए, णो समणमाहणपोसणयाए, णो तस्स सरीरगस्स किंचि विपरियाइत्ता भवंति; से हंता,
छेत्ता, भेत्ता, लुंपइत्ता, विलुंपइत्ता; उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवति, अणट्ठादंडे।
से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा, दहंसि वा, उदगंसि वा, दवियंसि वा, वलयंसि वा, णूमंसि
वा, गहणंसि वा, गहणविदुग्गंसि वा, वणंसि वा, वणविदुग्गंसि वा, पव्वयंसि वा, पव्वयवि-
दुग्गंसि वा; तणाइं ऊसविय ऊसविय सयमेव अगणिकायं णिसिरति, अण्णेणवि अगणिकायं
णिसिरावेति, अण्णंपि अगणिकायं णिसिरिंतं समणुजाणइ; अणट्ठादंडे, एवं खलु तस्स तप्प-
त्तियं सावज्जन्ति आहिज्जइ, दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम्-१८ ॥

तथापरं द्वितीयं दण्डसमादानमनर्थदण्डप्रत्ययिकमित्यभिधीयते, तदधुना व्याख्यायते, तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषो निर्निमित्तमेव निर्विवेकतया प्राणिनो हिनस्ति, तदेव दर्शयितुमाह-'जे इमे' इत्यादि, ये केचन 'अमी'-संसारान्तर्वर्तिनः प्रत्यक्षा बस्तादयः प्राणिनस्तांश्चासौ हिंसन्नर्चा-शरीरं 'नो'-नैवार्चार्थं हिनस्ति, तथाऽजिनं-चर्म नापि तदर्थम्, एवं मांसशोणितहृदयपित्तवसापिच्छपुच्छवालशृङ्गविषाणनखस्नाय्वस्थ्यस्थिमज्जा इत्येवमादिकं कारणमुद्दिश्य नैवाहिंसिषुर्नापि हिंसन्ति, नापि हिंसयिष्यन्ति मां मदीयं चेति, तथा नो 'पुत्रपोषणाये'ति-पुत्रादिकं पोषयिष्यामीत्येतदपि कारणमुद्दिश्य न व्यापादयति, तथा नापि पशूनां पोषणाय, तथाऽगारं-गृहं तस्य

परिमृद्गणम्-उपघातस्तदर्थं वा न हिनस्ति, तथा न श्रमणब्राह्मणवर्तनाहेतु, तथा पचन पालयितुमारभ्य नो तस्य शरीरस्य किमपि परित्राणाय 'सत्'-प्राणव्यपरोपणं भवति, इत्येवमादिकं कारणमनपेक्ष्यैवासौ क्रीडया तच्छीलतया व्यसनेन वा प्राणिनां हन्ता भवति, दण्डादिभिः तथा छेत्ता भवति, कर्णनासिकाविकर्तनतः, तथा भेत्ता शूलादिना, तथा लुम्पयिता अन्यतराङ्गावयवविकर्तनतः, तथा विलुम्पयिता अक्ष्युत्पाटनचर्मविकर्तनकरपादादिच्छेदनतः, परमाधार्मिकवत्प्राणिनां निर्निमित्तमेव नानाविधोपायैः पीडोत्पादको भवति; तथा जीविताद्व्यपरोपयिता भवति, स च सद्विवेकमुज्झित्वाऽस्मान वा परित्यज्य बालवद्बालः-अज्ञोऽसमीक्षितकारितया जन्मान्तरानुबन्धिनो वैरस्याभागी भवति, तदेव निर्निमित्तमेव पञ्चेन्द्रियप्राणिपीडनतो यथाऽनर्थदण्डो भवति; तथा प्रतिपादितम्, अधुना स्थावरानधिकृत्योच्यते-'से जहे'त्यादि, यथा कश्चित्पुरुषो निर्विवेकः पथि गच्छन् वृक्षादेः पल्लवादिकं दण्डादिना प्रध्वंसयन् फलनिरपेक्षस्तच्छीलतया प्रयाति, एतदेव दर्शयति—'जे इमे' इत्यादि, ये केचन 'अमी'-प्रत्यक्षाः स्थावरा वनस्पतिकायाः प्राणिनो भवन्ति, तद्यथा-इक्कडादयो वनस्पतिविशेषा उपात्तास्तदि-हैयमिकया ममानया प्रयोजनमित्येवमभिसंधाय न छिनत्ति, केवलं तत्पत्रपुष्पफलादिनिरपेक्षस्तच्छीलतया छिनत्ती-त्येतत्सर्वमनुयोजनीयमिति, यथा न पुत्रपोषणाय, नो पशुपोषणाय, नागारप्रतिबृंहणाय, न श्रमणब्राह्मणवृत्तये, नापि शरीरस्य किञ्चित्परित्राणं भविष्यतीति, केवलमेवमसौ वनस्पतिं हन्ता, छेत्तेत्यादि, यावज्जन्मान्तरानुबन्धिनो वैरस्याभागी भवति, अयं वनस्पत्याश्रयोऽनर्थदण्डोऽभिहितः । साम्प्रतमग्न्याश्रितमाह-'से जहे'त्यादि, तद्यथा

नाम कश्चित्पुरुषः सदसद्विवेकविकलतया कच्छादिकेषु दशसु स्थानेषु वनदुर्गपर्यन्तेषु तृणानि–कुशपुष्पकादीनि पौनःपुन्येनोर्ध्वाधःस्थानि कृत्वा 'अग्निकायं'–हुतभुजं 'निसृजति'–प्रक्षिपत्यन्येन वाऽग्निकायं बहुसत्त्वापकारिणं दवार्थं 'निसर्जयति'–प्रक्षेपयत्यन्यं च निसृजन्तं समनुजानीते। तदेवं योगत्रिकेण कृतकारितानुमतिभिस्तस्य यत्किञ्चनकारिणः 'तत्प्रत्ययिकं'–दवदाननिमित्तं 'सावद्यं कर्म'–महापातकमाख्यातम्, एतच्च द्वितीयमनर्थदण्डसमादानमाख्यातमिति। तृतीयमधुना व्याचिख्यासुराह—

अहावरे तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे ममं वा ममिं वा; अन्नं वा, अन्निं वा; हिंसिंसु वा, हिंसइ वा, हिंसिस्सइ वा; तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति, अण्णेणवि णिसिरावेति, अन्नंपि णिसिरंतं समणुजाणइ; हिंसादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम्–१९ ॥

अथापरं तृतीयं दण्डसमादानं हिंसादण्डप्रत्ययिकमाख्यायते, तद्यथानाम कश्चित् 'पुरुषः'–पुरुषकारं वहन् स्वतो मरणभीरुतया, वा मामयं घातयिष्यतीत्येवं मत्वा कंसवद्देवकीसुतान् भावतो जघान, मदीयं वा पितरमन्यं वा मामकं–ममीकारोपेतं परशुरामवत्कार्तवीर्य–जघानान्यं वा कञ्चनायं सर्पसिंहादिर्व्यापादयिष्यतीति मत्वा सर्पादिकं व्यापादयति, अन्यदीयस्य वा कस्यचिद्धिरण्यपश्वादेरयमुपद्रवकारीतिकृत्वा तत्र दण्डं निसृजति, तदेवमयं मां मदीयमन्यदीयं वा हिंसितवान् हिनस्ति हिंसिष्यतीत्येवं संभाविते त्रसे स्थावरे वा 'तं दण्डं'–प्राणव्यप-

रोपलक्षणं स्वयमेव निसृजति, अन्येन निसर्जयति, निसृजन्त वाऽन्य समनुजानीते । इत्येवतृतीय दण्डसमादान सिद्दण्डप्रत्ययिकमाख्यातमिति ।

अहावरे चउत्थे दण्डसमादाणे अकस्मात् दण्डवत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा, मियवत्तिए, मियसंकप्पे, मियपणिहाणे; मियवहाए गंता एए मियत्तिकाउ अन्नयरस्स मियस्स वहाए उसुं आयामेत्ता ण णिसिरेज्जा, स मिय वहिस्सामित्ति कट्टु तित्तिर वा, वट्टग वा, चडग वा, लावग वा, कवोयग वा, कविं वा, कविंजलं वा, विंधित्ता भवइ; इह खलु से अन्नस्स अट्ठाए अण्ण फुसति, अकम्हादण्डे । से जहाणामए केइ पुरिसे सालीणि वा, वीहीणि वा, कोद्दवाणि वा, कगूणि वा, परगाणि वा, रालाणि वा, णिलिज्जमाणे, अन्नयरस्स तणस्स वहाए सत्थं णिसिरेज्जा, से सामग, तणग, कुमुदुग, वीहीऊसिय, कलेसुयं तण छिंदिस्सामित्तिकट्टु सालिं वा, वीहिं वा, कोद्दवं वा, कगु वा, परग वा, रालय वा; छिंदित्ता भवइ, इति खलु से अन्नस्स अट्ठाए अन्न फुसति, अकम्हादण्डे; एवं खलु तस्स तप्पत्तिय सावज्ज आहिज्जइ, चउत्थे दण्डसमादाणे अकम्हादण्डवत्तिए आहिए ॥ सूत्रम्–२० ॥

अथापरं चतुर्थं दण्डसमादानमकस्माद्दण्डप्रत्ययिकमाख्यायते, इह चाकस्मादित्ययं शब्दो मगधदेशे सर्वेणा प्यागोपालाङ्गनादिना संस्कृत एवोच्चार्यते इति तदिहापि तथाभूत एवोच्चारित इति । तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषो

लुब्धकादिकः कच्छे वा यावद्वनदुर्गे वा गत्वा मृगैः-हरिणैराटव्यपशुभिर्वृत्तिः—वर्त्तनं यस्य स मृगवृत्तिकः, स चैवंभूतो मृगेषु संकल्पो यस्यासौ मृगसंकल्पः, एतदेव दर्शयति—मृगेषु प्रणिधानम्-अन्तःकरणवृत्तिर्यस्य स मृगप्रणिधानः—क्व मृगान्द्रक्ष्यामीत्येतदध्यवसायी सन् मृगवधार्थं कच्छादिषु गन्ता भवति, तत्र च गतः सन् दृष्ट्वा मृगानेते मृगा इत्येवं कृत्वा तेषां मध्येऽन्यतरस्य मृगस्य वधार्थम् 'इषुं'-शरं 'आयामेत्त'त्ति-आयामेन समाकृष्य मृगमुद्दिश्य निसृजति, स चैवं संकल्पो भवति-यथाऽहं मृगं हनिष्यामीति इषुं क्षिप्तवान्, स च तेनेपुणा तित्तिरादिकं पक्षिविशेषं व्यापादयिता भवति, तदेवं खल्वसावन्यस्यार्थाय निक्षिप्तो दण्डो यदाऽन्यं 'स्पृशति'-घातयति सोऽकस्माद्दण्ड इत्युच्यते । अधुना वनस्पतिमुद्दिश्याकस्माद्दण्डमाह-'से जहे'त्यादि, तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः कृषीवलादिः शाल्यादेः-धान्यजातस्य 'श्यामादिकं'-तृणजातमपनयन् धान्यशुद्धिं कुर्वाणः सन्नन्यतरस्य तृणजातस्यापनयनार्थं 'शस्त्रं'-दात्रादिकं निसृजत्, स च श्यामादिकं तृणं छेत्स्यामीति कृत्वाऽकस्माच्छालिं वा यावत् रालकं वा छिन्द्याद्रक्षणीयस्यैवासावकस्माच्छेत्ता भवति, इत्येवमन्यस्यार्थाय-अन्यकृतेऽन्यं वा 'स्पृशति'-छिनत्ति, यदिवा 'स्पृशती'त्यनेनापि परितापं करोतीति दर्शयति, तदेवं खलु 'तस्य'-तत्कर्तुः 'तत्प्रत्ययिकम्'-अकस्माद्दण्डनिमित्तं 'सावद्य'मिति पापम् 'आधीयते'-संबध्यते, तदेतच्चतुर्थं दण्डसमादानमकस्माद्दण्डप्रत्ययिकमाख्यातमिति ।

अहावरे पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासियादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ

पुरिसे माईहिं वा, पिईहिं वा, भाईहिं वा, भगिणीहिं वा, भज्जाहिं वा, पुत्तेहिं वा, धूताहिं वा, सुण्हाहिं वा, सद्धिं संवसमाणे मित्तं अमित्तमेव मन्नमाणे मित्ते हयपुव्वे भवइ दिट्ठिविपरियासियादंडे। से जहाणामए केइ पुरिसे गामघायंसि वा, णगरघायंसि वा, खेड० कब्बड० मडंब घायंसि वा, दोणमुहघायंसि वा, पट्टणघायंसि वा, आसमघायंसि वा, सन्निवेसघायंसि वा, निग्गमघायंसि वा, रायहाणिघायंसि वा, अतेणं तेणमिति मन्नमाणे अतेणे हयपुव्वे भवइ दिट्ठिविपरियासियादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासियादंडवत्तिए त्ति आहिए ॥ सूत्रम्-२१ ॥

अथापरं पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्यासदण्डप्रत्ययिकमित्याख्यायते, तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः—पारमक्षा दिक्षे मातृपितृभ्रातृभगिनीभार्यापुत्रदुहितृस्नुषादिभिः सार्धं '(सं)वसन्'—तिष्ठन् ज्ञातिपालनकृते मित्रमेव दृष्टिविपर्यासादमित्रोऽयमित्येवं मन्यमानो 'हन्यात्'—व्यापादयेत् तेन च दृष्टिविपर्यासवता मित्रमेव हतपूर्वं भवतीति, अतो दृष्टिविपर्यासदण्डोऽयम्। पुनरप्यन्यथा तमेवाह—'से जहे'त्यादि, तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः पुरुषकार मुद्वहन् ग्रामघातादिके विभ्रमे भ्रान्तचेता दृष्टिविपर्यासादचौरमेव चौरोऽयमित्येवं मन्यमानो व्यापादयेत्, तदेवं 'तेन'—भ्रान्तमनसा विभ्रमाकुलेनाचौर एव हतपूर्वो भवति, सोऽयं दृष्टिविपर्यासदण्डः, तदेवं खलु 'तस्य'—दृष्टिविपर्यासवत् तत्प्रत्ययिकं सावद्यं कर्माधीयते। तदेवं पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्यासप्रत्ययिकमाख्यातमिति।

अहावरे छट्ठे किरियट्ठाणे मोसावत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा, णाइहेउं वा, अगारहेउं वा; परिवारहेउं वा, सयमेव मुसं वयति, अण्णेवि मुसं वाएइ, मुसं वयंतंपि अण्णं समणुजाणइ; एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, छट्ठे किरियट्ठाणे मोसावत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम्-२२ ॥

अथापरं षष्ठं क्रियास्थानं मृषावादप्रत्ययिकमाख्यायते, तत्र च पूर्वोक्तानां पञ्चानां क्रियास्थानानां सत्यपि क्रियास्थानत्वे प्रायशः परोपघातो भवतीतिकृत्वा दण्डसमादानसंज्ञा कृता, षष्ठादिषु च बाहुल्येन न परव्यापादनं भवतीत्यतः क्रियास्थानमित्येषा संज्ञोच्यते, तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः स्वपक्षावेशादाग्रहादात्मनिमित्तं यावत्परिवारनिमित्तं वा सद्भूतार्थनिह्नवरूपमसद्भूतोद्भावनस्वभावं वा स्वयमेव मृषावादं वदति, तद्यथा-नाहं मदीयो वा कश्चिच्चौरः, स च चौरमपि सद्भूतमप्यर्थमपलपति, तथा परमचौरं चौरमिति वदति, तथाऽन्येन मृषावादं भाणयति, तथाऽन्यांश्च मृषावादं वदतः समनुजानीते । तदेवं खलु तस्य योगत्रिककरणत्रिकेण मृषावादं वदतस्तत्प्रत्ययिकं सावद्यं कर्म 'आधीयते'-संबध्यते, तदेतत्षष्ठं क्रियास्थानं मृषावादप्रत्ययिकमाख्यातमिति ।

अहावरे सत्तमे किरियट्ठाणे अदिन्नादाणवत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा, जाव परिवारहेउं वा; सयमेव अदिन्नं आदियइ, अन्नेणवि अदिन्नं आदियावेति, अदिन्नं आदियंतं अन्नं समणुजाणइ; एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, सत्तमे किरि-

यट्ठाणे अविसावाणवत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम्-२३ ॥

अथापरं सप्तमं क्रियास्थानमदत्तादानप्रत्ययिकमाख्यायते, एतदपि प्राग्वदेव, तद्यथा नाम कश्चित्पुरुष आत्मनिमित्त, यावत्परिवारनिमित्त, परद्रव्यमदत्तमेव गृह्णीयादपरं च ग्राहयत्गृह्णन्तमप्यपरं समनुजानीयादित्येव तस्यादत्तादानप्रत्ययिकं कर्म सम्बध्यते, इति सप्तम क्रियास्थानमाख्यातमिति ।

अहावरे अट्ठमे किरियट्ठाणे अज्झत्थवत्तिएत्ति आहिज्जइ । से जहाणामए केइ पुरिसे णत्थि ण केइ किंचि विसंवादेति सयमेव हीणे, दीणे, दुट्ठे, दुम्मणे, ओहयमणसंकप्पे, चिंतासोगसागर संपविट्ठे, करतलपल्हत्थमुहे, अट्टज्झाणोवगए, भूमिगयदिट्ठिए, झियाइ; तस्स ण अज्झत्थया आस सइया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जइ (अंति), तं०-कोहे, माणे, माया, लोहे; अज्झत्थमेव कोहमाण मायालोहे, एव खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जति आहिज्जइ, अट्ठमे किरियट्ठाणे अज्झत्थवत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम्-२४ ॥

अथापरमष्टम क्रियास्थानमाध्यात्मिकमिति-अन्तःकरणोद्भवमाख्यायते, तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषश्चिन्तो स्मेवाप्रधानः, तस्य च नास्ति कश्चिद्विसंवादयिता-न तस्य कश्चिद्विसंवादेन परिभावेन वाऽसद्भूतोद्भावनेन वा चित्तदुःखमुत्पादयति, तथाप्यसौ स्वयमेव वर्णापसदहीनो दुर्बलहीनो दुश्चिततया दुष्टो दुर्मनास्तथोपहतोऽस्य स्वतया मनःसंकल्पो यस्य स तथ तथा; चिन्तेव शोक इति वा (स एव) सागरः-चिन्ताशोकसागरश्चिन्ता

प्रधानो वा शोकश्चिन्ताशोकः स एव सागरः, तत्र प्रविष्टः चिन्ताशोकसागरप्रविष्टः । तथाभूतश्च यदवस्थो भवति, तद्दर्शयति–करतले पर्यस्तं मुखं यस्य स तथाऽहर्निशं भवति, तथाऽऽर्तध्यानोपगतोऽपगतसद्विवेकतया धर्मध्याना-दूरवर्ती निर्निमित्तमेव द्वन्द्वोपहतवद्ध्यायति । तस्यैवं चिन्ताशोकसागरावगाढस्य सत आध्यात्मिकानि–अन्तः-करणोद्भवानि मनःसंश्रितान्यसंशयितानि वा–निःसंशयानि चत्वारि वक्ष्यमाणानि स्थानानि भवन्ति, तानि चैव-माख्यायन्ते; तद्यथा–क्रोधस्थानं, मानस्थानं, मायास्थानं; लोभस्थानमिति । ते चावश्यं क्रोधमानमायालोभा आत्मनोऽधि भवन्त्या(न्तीत्या)ध्यात्मिकाः, एभिरेव सद्भिर्दुष्टं मनो भवति । तदेवं तस्य दुर्मनसः क्रोधमानमाया-लोभवत एवमेवोपहतमनःसंकल्पस्य 'तत्प्रत्ययिकम्'–अध्यात्मनिमित्तं सावद्यं कर्म 'आधीयते'–संबध्यते । तदेवमष्टममेतत्क्रियास्थानमाध्यात्मिकाख्यमाख्यातमिति ।

अहावरे णवमे किरियट्ठाणे माणवत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे जातिमएण वा, कुलमएण वा, बलमएण वा, रूवमएण वा, तवमएण वा, सुयमएण वा, लाभमएण वा, इस्सरियमएण वा, पन्नामएण वा, अन्नतरेण वा; मयट्ठाणेणं मत्ते समाणे परं हीलेति, निंदेति, खिंसति, गरहति, परिभवइ, अवमण्णेति; इत्तरिए अयं, अहमंसि पुण विसिट्ठजाइकुलबलाइगुणो-ववेए; एवं अप्पाणं समुक्कस्से, देहच्चुए कम्मबितिए अवसे पयाइ, तंजहा–गब्भाओ गब्भं ४, जम्माओ जम्मं, माराओ मारं, णरगाओ णरगं; चंडे थद्धे चवले माणियावि भवइ; एवं खलु तस्स

तप्परितप माघमति आहिअइ; णवमे किरियाठाणे माणवत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम्-२९ ॥

अथापरं नवमं क्रियास्थानं मानप्रत्ययिकमाख्यायते, तद्यथा-नाम कश्चित्पुरुषो जात्यादिगुणोपेत सन् जातिकुलबलरूपतपःश्रुतलाभैश्वर्यप्रज्ञामदाख्यैरष्टभिर्मदस्थानैरन्यतरेण वा मत्तः परमवमन्यमानो हीलयति; तथा निन्दति, जुगुप्सते, गर्हति, परिभवति; एतानि चैकार्थिकानि कथञ्चिद्भेदं चोत्प्रेक्ष्य व्याख्येयानीति । यथा परिभवति तथा दर्शयति—इतरोऽयं जघन्यो हीनजातिकः, तथा मत्तः कुलबलरूपादिभिर्दूरमपभ्रष्टः सर्वजनावगीतोऽयमिति । अहं पुनर्विशिष्टजातिकुलबलादिगुणोपेतः, एवमात्मानं समुत्कर्षयेदिति । साम्प्रतं मानोत्कर्षविपाकमाह—'देहच्चुए'-इत्यादि, तदेवं जात्यादिमदोन्मत्तः सन्निहैव लोके गर्हितो भवति, अत्र च जात्यादिपदद्वयादिसंयोगा द्रष्टव्याः, ते चैव भवन्ति—जातिमदः, कस्यचिच्च कुलमदः, अपरस्य कुलमदो न जातिमदः, परस्योभयम्, अपरस्यानुभयमित्येवं पदत्रयेणाष्टौ चतुर्भिः षोडशेत्यादि, यावदष्टभिः पदैः षट्पञ्चाशदधिकं शतद्वयमिति, सर्वत्र मद्यामावरूपचरममङ्गः शुद्ध इति । परलोकेऽपि च मानी दुःखभाग्भवतीत्येतत्प्रदर्श्यते—स्वायुषः क्षये देहाच्च्युतो भवान्तरं गच्छन् शुभाशुभकर्मद्वितीयः कर्मपराधीनत्वादवशः-परतन्त्रः प्रयाति, तद्यथा—गर्भाद्गर्भं पञ्चेन्द्रियापेक्ष,

पा० १ मामेवैकस्मात् सोपधामे जातिमद्यमे'रमत्र म प्रक्रमतः पृथक् प्रथमरती च जातिकुलेश्वर्यो नैमर्कमद इति प्रसिद्धपञ्चरोषेमाव्यमतादिवजमवाहमिति । २ विमुमाह प्र । ३ पञ्चम्यन्तात्वासमवो समम् । ४ अपमन्दे । ५ बदवमानः (वाहि-७) "तदेवं इत्यादि "छद इति" पर्यन्ता पाठोऽप्रत आमाति । परलोकेऽपीति पाठमं च भवतीत्यामे ।

तथा गर्भादगर्भं विकलेन्द्रियेषूत्पद्यमानः, पुनरगर्भाद्गर्भमेवमगर्भादगर्भम्, एतच्च नरककल्पगर्भदुःखापेक्षायामभिहितम्; उत्पद्यमानदुःखापेक्षया त्विदमभिधीयते–जन्मन एकस्मादपरं जन्मान्तरं व्रजति, तथा मरणं मारस्तस्मान्मारान्तरं व्रजति, तथा नरकदेश्यात्—श्वपाकादिवासाद्रत्नप्रभादिकं नरकान्तरं व्रजति; यदिवा नरकात्सीमन्तकादिकादुद्धृत्य सिंहमत्स्यादावुत्पद्य पुनरपि तीव्रतर नरकान्तरं व्रजति, तदेवं नटवद्रङ्गभूमौ संसारचक्रवाले स्त्रीपुनपुं- ९
सकादीनि बहून्यवस्थान्तराण्यनुभवति। तदेवं मानी परपरिभवे सति चण्डो रौद्रो भवति, परस्यापकरोति; तदभावे ह्यात्मानं व्यापादयति। तथा स्तब्धश्चपलो यत्किञ्चनकारी मानी मन् सर्वोऽप्येतदवस्थो भवतीति। तदेवं 'तत्प्रत्ययिकं'–माननिमित्तं सावद्यं कर्म 'आधीयते'–संबध्यते। नवममेतत्क्रियास्थानमाख्यातमिति।

अहावरे दसमे किरियट्ठाणे मित्तदोसवत्तिएत्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा, पितीहिं वा, भाईहिं वा, भइणीहिं वा, भज्जाहिं वा, धूयाहिं वा, पुत्तेहिं वा, सुण्हाहिं वा; सद्धिं संवसमाणे तेसिं अन्नयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडे निवत्तेति, १०
तंजहा–सीओदगवियडंसि वा कायं उच्छोलित्ता भवति, उसिणोदगवियडेण वा कायं ओसिंचित्ता भवति, अगणिकाएणं कायं उवडहित्ता भवति, जोत्तेण वा, वेत्तेण वा, णेत्तेण वा, तयाइ वा [कण्णेण वा छियाए वा], लयाए वा, (अन्नयरेण वा दवरएण) पासाइं उद्दालित्ता भवति, दंडेण वा, अट्ठीण वा, मुट्ठीण वा, लेलूण वा, कवालेण वा; कायं आउट्टित्ता भवति, तहप्पगारे

सप्पसिय साधम्मति आहिज्जइ; णवमे किरियाठाणे माणवत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम्–२५ ॥

अथापरं नवमं क्रियास्थानं मानप्रत्ययिकमाख्यायते, तद्यथा–नाम कश्चित्पुरुषो जात्यादिगुणोपेतः सन् जातिकुलबलरूपतप श्रुतलाभैश्वर्यप्रज्ञामदाख्यैरष्टभिर्मदस्थानैरन्यतरेण वा मत्तः परमवमत्या हीलयति; तथा निन्दति, जुगुप्सते, गर्हति, परिभवति, एतानि चैकार्थिकानि कथञ्चिद्भेदं चोत्प्रेक्ष्य व्याख्येयानीति । यथा परिभवति तथा दर्शयति—इतरोऽयं जघन्यो हीनजातिकः, तथा मत्तः कुलबलरूपादिभिर्दूरमपभ्रष्टः सर्वजनावगीतोऽयमिति । अहं पुनर्विशिष्टजातिकुलबलादिगुणोपेतः, एवमात्मानं समुत्कर्षयेदिति । साम्प्रतं मानोत्कर्षविपाकमाह– 'देहच्चुए'–इत्यादि, तदेवं जात्यादिमदोन्मत्तः सन्निहैव लोके गर्हितो भवति, अत्र च जात्यादिपदद्वयादि संयोगा द्रष्टव्याः, ते चैव भवन्ति–जातिमदः, कस्यचिच्च कुलमदः, अपरस्य कुलमदो न जातिमदः, परस्योभयम्, अपरस्यानुभयमित्येवं पदत्रयेणाष्टौ चतुर्भिः षोडशेत्यादि, यावदष्टभिः पदैः षट्पञ्चाशदधिकं शतद्वयमिति, सर्वत्र मदाभावरूपचरमभङ्गः शुद्ध इति । परलोकेऽपि च मानी दुःखमागभवतीत्यनेन प्रदर्श्यते–स्वायुषः क्षये देहाच्च्युतो भवान्तरं गच्छन् शुभाशुभकर्मद्वितीयः कर्मपरायत्तत्वादवशः–परतन्त्रः प्रयाति, तद्यथा–गर्भाद्गर्भं पञ्चेन्द्रियापेक्ष,

---

मा० १ कामभोगैश्वर्यात् बोध्यतामे जातिस्मभेऽप्यत्र न प्रज्ञामदः पृथक् प्रतिपाद्यो न जातिकुलमदादौ नेपर्यस्य इति प्रतिकल्पनुरोधेना- न्यतमविवक्षयाऽग्रहीमिति । २ मित्तुमाह प्र । ३ पञ्चमन्तम्मानमदो सम्यग् । ४ मनान्त । ५ वक्तमागः (पंक्ति–७) तदेवं ' इत्यारभ्य " शुद्ध इति " पर्यन्तः पाठोऽत्रक नायाति । परलोकेऽपीति वाक्यं च भवतीत्यस्मामे ।

गच्छति गते वा तत्सहवासिनः सुमनसो भवन्ति । तथाप्रकारश्च पुरुषजातोऽल्पेऽप्यपराधे महान्तं दण्डं कल्पय-
तीति, एतदेव दर्शयितुमाह—दण्डस्य पार्श्वं दण्डपार्श्वं तद्विद्यते यस्यासौ दण्डपार्श्वी स्वल्पतया स्तोकापराधेऽपि
कुप्यति दण्डं च पातयति । तमप्यतिगुरुमिति दर्शयितुमाह-दण्डेन गुरुको दण्डगुरुको यस्य च दण्डो महान्
भवति, असौ दण्डेन गुरुर्भवति, तथा दण्डः पुरस्कृतः सदा पुरस्कृतदण्ड इत्यर्थः, स चैवंभूतः स्वस्य परेषां च
'अस्मिन् लोके'-अस्मिन्नेव जन्मनि अहितः प्राणिनामहितदण्डापादनात्, तथा परस्मिन्नपि जन्मन्यसावहितः, ९
तच्छीलतया चासौ यस्य कस्यचिदेव येन केनचिदेव निमित्तेन क्षणे क्षणे संज्वलयतीति संज्वलनः, स चात्यन्त-
क्रोधनो वधबन्धच्छविच्छेदादिषु शीघ्रमेव क्रियासु प्रवर्तते, तदभावेऽप्युत्कटद्वेषतया मर्मोद्घट्टनतः पृष्ठिमांसमपि
खादेत्, तत्तदसौ ब्रूयात् येनासावपि परः संज्वलेत् ज्वलितश्चान्येषामपकुर्यात्, तदेवं खलु तस्य महादण्डप्रवर्तयितु-
स्तद्दण्डप्रत्ययिकं सावद्यं कर्माऽऽधीयते । तदेतद्दशमं क्रियास्थानं मित्रद्रोहप्रत्ययिकमाख्यातमिति । अपरे पुनरष्टमं
क्रियास्थानमात्मदोषप्रत्ययिकमाचक्षते, नवमं तु परदोषप्रत्ययिकं; दशमं पुनः प्राणवृत्तिकं क्रियास्थानमिति । १०

अहावरे एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिएत्ति आहिज्जइ, जे इमे भवंति-गूढायारा तमो-
कसिया उलुगपत्तलहुया पव्वयगुरुया ते आयरियावि संता अणारियाओ भासाओवि पउ-
ज्जंति, अन्नहासंतं अप्पाणं अन्नहा मन्नंति, अन्नं पुट्ठा अन्नं वागरंति, अन्नं आइक्खियव्वं अन्नं
आइक्खंति । से जहाणामए केइ पुरिसे अंतोसल्ले तं सल्लं णो सयं णिहरति, णो अन्नेण णिहरा-

पुरिसजाए सयसमाणे दुम्मणा भवति, पवसमाणे सुमणा भवति, तहप्पगारे पुरिसजाए दण्डपासी दण्डगुरुए दंडपुरक्खडे अहिए इमंसि लोगंसि अहिए परंसि लोगंसि संजलणे कोहणे पिट्ठिमंसि यावि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति, दसमे किरियट्ठाणे मित्तदोसवत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम्-२६ ॥

अथापरं दशमं क्रियास्थानं मित्रदोषप्रत्ययिकमाख्यायते, तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः प्रभुकल्पो मातापितृभ्रातृस्वजनादिभिः सार्धं परिवसंस्तेषां च मातापित्रादीनामन्यतमेनानाभोगतया यथाकथंचिच्छुतमेऽप्यपराधे वाचिके दुर्वचनादिके, तथा कायिके हस्तपादादिके संघट्टनरूपे कृते सति स्वयमेव—आत्मना क्रोधाध्मातो गुरुतरं 'दण्ड'-दुःखोत्पादकं 'निर्वर्तयति'-करोति, तद्यथा-शीतोदके 'विकटे'-प्रभूते शीते वा शिशिरादौ 'तस्य'-अपराधकर्तुं कायमधो बोलयिता भवति, तथोष्णोदकविकटेन 'काय'-शरीरमपसिञ्चयिता भवति, तत्र विकटग्रहणात्पुष्पतैलेन काञ्जिकादिना वा कायमुपतापयिता भवति, तथा अग्निकायेन उल्मुकेन तप्तायसा वा कायमुपदाहयिता भवति, तथा योत्रेण वा वेत्रेण वा नेत्रेण वा 'त्वचा वा'-कशादिकया लतया वाऽन्यतमेन वा दवरकेण ताडनतः 'तस्य'-अपराधकर्तुः 'शरीरपार्श्वाणि उद्दालयितु'ति-चर्माणि लुम्पयितु भवति; तथा दण्डादिना कायमुपताडयिता भवतीति । तदेवमल्पापराधिन्यपि महाक्रोधदण्डवति तथाप्रकारे पुरुषजाते एकत्र वसति सति तत्सहवासिनो मातापित्रादयो दुर्मनसस्तदनिष्टाशङ्कया भवन्ति, तस्मिंश्च 'प्रवसति'-देशान्तरे

गच्छति गते वा तत्सहवासिनः सुमनसो भवन्ति । तथाप्रकारश्च पुरुषजातोऽल्पेऽप्यपराधे महान्तं दण्डं कल्पय-
तीति, एतदेव दर्शयितुमाह—दण्डस्य पार्श्वं दण्डपार्श्वं तद्विद्यते यस्यासौ दण्डपार्श्वी स्वल्पतया स्तोकापराधेऽपि
कुप्यति दण्डं च पातयति । तमप्यतिगुरुमिति दर्शयितुमाह-दण्डेन गुरुको दण्डगुरुको यस्य च दण्डो महान्
भवति, असौ दण्डेन गुरुर्भवति, तथा दण्डः पुरस्कृतः सदा पुरस्कृतदण्ड इत्यर्थः, स चैवंभूतः स्वस्य परेषां च ९
'अस्मिन् लोके'-अस्मिन्नेव जन्मनि अहितः प्राणिनामहितदण्डापादनात्, तथा परस्मिन्नपि जन्मन्यसावहितः,
तच्छीलतया चासौ यस्य कस्यचिदेव येन केनचिदेव निमित्तेन क्षणे क्षणे संज्वलयतीति संज्वलनः, स चात्यन्त-
क्रोधनो वधबन्धछविच्छेदादिषु शीघ्रमेव क्रियासु प्रवर्तते, तदभावेऽप्युत्कटद्वेषतया मर्मोद्घट्टनतः पृष्ठिमांसमपि
खादेत्, तत्तदसौ ब्रूयात् येनासावपि परः संज्वलेत् ज्वलितश्चान्येषामपकुर्यात्, तदेवं खलु तस्य महादण्डप्रवर्तयितु-
स्तद्दण्डप्रत्ययिकं सावद्यं कर्माऽऽधीयते । तदेतद्दशमं क्रियास्थानं मित्रद्रोहप्रत्ययिकमाख्यातमिति । अपरे पुनरष्टमं
क्रियास्थानमात्मदोषप्रत्ययिकमाचक्षते, नवमं तु परदोषप्रत्ययिकं; दशमं पुनः प्राणवृत्तिकं क्रियास्थानमिति । १०

अहावरे एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिएत्ति आहिज्जइ, जे इमे भवंति-गूढायारा तमो-
कसिया उलुगपत्तलहुया पव्वयगुरुया ते आयरियावि संता अणारियाओ भासाओवि पउ-
ज्जंति, अन्नहासंतं अप्पाणं अन्नहा मन्नंति, अन्नं पुट्ठा अन्नं वागरंति, अन्नं आइक्खियव्वं अन्नं
आइक्खंति । से जहाणामए केइ पुरिसे अंतोसल्ले तं सल्लं णो सयं णिहरति, णो अन्नेण णिहरा-

वेति, णो पडिविद्धंसेइ, एयमेव निण्हवेइ, अविउट्टमाणे अंतोअंतो रियइ, एयमेव माइ मायं कट्टु णो आलोएइ, णो पडिक्कमेइ, णो णिंदइ, णो गरहइ, णो विउट्टइ, णो विसोहेइ, णो अकरणाए अब्भुट्ठेइ, णो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जइ, माई अस्सिं लोए पच्चायाइ माइ परंसि लोए (पुणो पुणो) पच्चायाइ निंदइ गरहइ पसंसइ णिच्चरइ ण नियट्टइ णिसिरिय दंडं छाएति, माई असमाहडसुहलेस्से यावि भवइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ; एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिएत्ति आहिए ॥ सूत्रम्–२७ ॥

अथापरमेकादशं क्रियास्थानमाख्यायते, तद्यथा–ये केचनामी भवन्ति पुरुषाः, किंविशिष्टाः ?–गूढ आचारो येषां ते गूढाचाराः–गलकर्तकग्रन्थिच्छेदादयः, ते च नानाविधैरुपायैर्विश्रम्भमुत्पाद्य पश्चादपकुर्वन्ति, यथोता देरभयकुमारादिवत् । ते च मायाशीलत्वेनाप्रकाशचारिणः, तमसि कषितुं शीलं येषां ते तमसिकाषिणस्त एव च काषिकाः, परावञ्चनाः क्रियाः कुर्वन्तीत्यर्थः । ते च स्वचेष्टयैवोलूकपत्रलघवः, कौशिकपिच्छवल्लघीयांसोऽपि पर्वतवद्गुरुमात्मानं मन्यते, यदिवाऽकार्यप्रवृत्तेः पर्वतवन्नो स्तम्भयितुं शक्यते, ते चाऽऽर्यदेशोत्पन्ना अपि सन्तः शाठ्यात्मप्रच्छादनार्थपरमभयोत्पादनार्थं चानार्यभाषाः प्रयुञ्जते, परव्यामोहार्थं स्वमतिपरिकल्पितभाषाभिरपरा विदिताभिर्भाषन्ते; तथाऽन्यथाव्यवस्थितमात्मानम् अन्यथा–साध्वाकारेण मन्यते व्यवस्थापयन्ति च, तथाऽन्य स्पृष्टा मातृस्थानतोऽन्यदाचष्टे, यथाऽऽम्रान् पृष्टः केदारकानाचष्टे, वादकाले वा कश्चिवाय(न्याय) चावि

तया व्याकरणे प्रवीणस्त(र्णं त)र्कमार्गमवतारयति; यथा वा 'शरदि वाजपेयेन यजेते'त्यस्य वाक्यास्यार्थं पृष्टस्तदर्थानभिज्ञः कालातिपातार्थं शरत्कालं व्यावर्णयति, तथाऽन्यस्मिंश्चार्थे कथयितव्येऽन्यमेवार्थमाचक्षते । तेषां च सर्वार्थविसंवादिनां कपटप्रपञ्चचतुराणां विपाकोद्भवनाय दृष्टान्तं दर्शयितुमाह–'से जहे'त्यादि, तत् यथा नाम कश्चित्पुरुषः संग्रामादपक्रान्तोऽन्तः—मध्ये शल्यं—तोमरादिकं यस्य सोऽन्तःशल्यः, स च शल्यघट्टनवेदनाभीरुतया तच्छल्यं न स्वतो 'निर्हरति'–अपनयति–उद्धरति नाप्यन्येनोद्धारयति, नापि तच्छल्यं वैद्योपदेशेनौषधोपयोगादिभिरुपायैः 'प्रतिध्वंसयति'–विनाशयति, अन्येन केनचित्पृष्टो वाऽपृष्टो वा तच्छल्यं निष्प्रयोजनमेव 'निह्नुते'–अपलपति, तेन च शल्येनासावन्तर्वर्तिना 'अविउट्टमाणे'त्ति पीड्यमानः 'अंतो अंतो'त्ति मध्ये मध्ये पीड्यमानोऽपि 'रीयते'–व्रजति, तत्कृतां वेदनामधिसहमानः क्रियासु प्रवर्तत इत्यर्थः । साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकमाह–'एवमेवे'त्यादि, यथाऽसौ सशल्यो दुःखभाग्भवति एवमेवासौ 'मायी'–मायाशल्यवान् यत्कृतमकार्यं तन्मायया निगूहयन् मायां कृत्वा न तां मायामन्यस्मै 'आलोचयति'–कथयति, नापि तस्मात् स्थानात् प्रतिक्रामति—न ततो निवर्तते, नाप्यात्मसाक्षिकं तन्मायाशल्यं निन्दति, तद्यथा–धिङ् मां यदहमेवंभूतमकार्यं कर्मोदयात्तत् कृतवान्, तथा नापि परसाक्षिकं गर्हति–आलोचनार्हसमीपे गतो नापि च जुगुप्सते, तथा 'नो विउट्टति'–नापि तन्मायाख्यं शल्यमकार्यकरणात्मकं विविधम्–अनेकप्रकारं त्रोटयति–अपनयति, यद्यस्यापराधस्य प्रायश्चित्तं तत्तेन पुनस्तदकरणतया (न) निर्वर्त्तयतीत्यर्थः, नापि तन्मद्यादिकमकार्यं सेवित्वाऽऽलो-

वनार्हायात्मानं निवेद्य तत्कार्याकरणतयाऽभ्युत्तिष्ठते, प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यापि नोद्युक्तविहारी भवतीत्यर्थः, तथा नापि गुर्वादिभिरभिधीयमानोऽपि 'यथाऽर्हम्'-यथाकार्यनिर्वहणयोग्यं प्रायः चित्तं शोधयतीति प्रायश्चित्तं-तपःकर्म विशिष्टं चान्द्रायणाद्यात्मकं 'प्रतिपद्यते'-अभ्युपगच्छति । तदेवं मायया सत्कार्यप्रच्छादकोऽस्मिन्नेव लोके मायावीत्ययं सर्वकार्येष्वेवाविश्रम्भणस्थेन 'प्रत्यायाति'-प्रख्यातिं याति, तथाभूतश्च सर्वस्यापि अविश्वास्यो भवति, तथा चोक्तम्-"मायाशीलः पुरुषः" (यद्यपि न करोति किञ्चिदपराधं । सर्पस्याविश्वासो भवति तथा प्यात्मदोषहतः ॥१॥) इत्यादि, तथाऽतिमायावित्वादसौ परस्मिन् लोके जन्मान्तराणामसौ सपीडमेषु यातनास्थानेषु नरकतिर्यगादिषु 'पौनःपुन्येन प्रत्यायाति'-भूयोभूयस्तेष्वेवारघट्टघटीयन्त्रन्यायेन प्रत्यागच्छतीति । तथा नानाविधैः प्रपञ्चैर्भ्रमयित्वा परं निन्दति-जुगुप्सते, तद्यथा—अयमज्ञः पशुकल्पो नानेन किमपि प्रयोजन मिति, एवं परं निन्दयित्वाऽऽत्मानं प्रशंसयति, तद्यथा-असावपि मया वञ्चित इत्येवमात्मप्रशंसया तुष्यति, तथा चोक्तम्-"येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यती"ति । एवं चासौ लब्धप्रसरोऽधिकं निश्चयेन वा चरति-तथा विधानुष्ठायी भवतीति निश्चरति । तत्र च गृद्धः संस्तस्मान्मातृस्थानाद्य निवर्तते, तथाऽसौ मायाबलेन 'दण्ड'-प्राण्युपमर्दकारिणं 'निसृज्य'-पातयित्वा पश्चात् 'छादयति'-अपलपति अन्यस्य वोपरि प्रक्षिपति, स च मायावी सर्वदा वञ्चनपरायणः संस्तमनाः सर्वानुष्ठानेष्वप्येवम्भूतो भवति-असमाहृता—अनङ्गीकृता शोभना लेश्या येन स तथा आर्तध्यानोपहततयाऽप्राप्तशोभनलेश्य इत्यर्थः । तदेवमपगतधर्मध्यानोऽसमाहितोऽशुद्धलेश्यश्चापि

भवति । तदेवं खलु तस्य 'तत्प्रत्ययिकं'-मायाशल्यप्रत्ययिकं सावद्यं कर्माऽऽधीयते । तदेतदेकादशं क्रियास्थानं मायाप्रत्ययिकं व्याख्यातम् । एतानि चार्थदण्डादीनि एकादश-क्रियास्थानानि सामान्येनासंयतानां भवन्ति, इदं तु द्वादशं क्रियास्थानं पाखण्डिकानुद्दिश्याभिधीयते—

अहावरे बारसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिएत्ति आहिज्जइ, जे इमे भवंति; तंजहा-आरन्निया, आवसहिया, गामंतिया, कण्हुईरहस्सिया, णो बहुसंजया; णो बहुपडिविरया सव्वपाणभूतजीवसत्तेहिं, ते अप्पणो सच्चामोसाइं एवं विउंजंति; अहं ण हंतव्वो, अन्ने हंतव्वा; अहं ण अज्जावेयव्वो, अन्ने अज्जावेयव्वा; अहं ण परिघेतव्वो, अन्ने परिघेतव्वा; अहं ण परितावेयव्वो, अन्ने परितावेयव्वा; अहं ण उद्दवेयव्वो, अन्ने उद्दवेयव्वा; एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया, गिद्धा, गढिया, गरहिया, अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा, भुज्जयरो वा, भुंजित्तु भोगभोगाइं कालमासे कालं किच्चा, अन्नयरेसु आसुरिएसु किव्बिसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति; ततो विप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए, तमूयत्ताए, जाइमूयत्ताए, पच्चायंति; एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, दुवालसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिएत्ति आहिए । इच्चेयाइं दुवालस-किरियट्ठाणाइं दविएणं समणेण वा, माहणेण वा; सम्मं सुपरिजाणिअव्वाइं भवंति ॥सूत्रम्-२८॥

पश्चाच्चात् क्रियास्थानादनन्तरमथापरं द्वादश क्रियास्थानं लोभप्रत्ययिकमाख्यायते, तद्यथा—य इमे भवन्ति नाना अरण्ये वसन्तीत्यारण्यका:, ते च कन्दमूलफलाहाराः सन्तः केचन वृक्षमूले वसन्ति, केचनावसथेषु—उटजाकारेषु गृहेषु, तथा अपरे ग्रामादिकमुपजीवन्तो ग्रामस्यान्ते—समीपे वसन्तीति ग्रामान्तिकाः, तथा 'कचित्'—कार्ये मण्डलप्रवेशादिके रहस्य येषां ते कचिद्राहसिकाः, ते च 'न बहुसंयता'—न सर्वसावद्यानुष्ठानेभ्यो निवृत्ताः, एतदुक्तं भवति—न बाहुल्येन त्रसेषु दण्डसमारम्भं विदधति, एकेन्द्रियोपजीविनस्त्वविगानेन तापसादयो भवन्तीति, तथा 'न बहुविरता'—न सर्वेष्वपि प्राणातिपातविरमणादिषु व्रतेषु वर्तन्ते, किन्तु ?, द्रव्यतः कतिपयव्रतवर्तिनो न भावतो, मनागपि तत्कारणस्य सम्यग्दर्शनस्याभावादित्यभिप्रायः, इत्येतदाविर्भावयितुमाह—'सव्वपाणे'त्यादि, ते चारण्यकादयः सर्वप्राणिभूतजीवसत्त्वेभ्य आत्मना—स्वतः अविरताः—तदुपमर्दकारम्भादविरता इत्यर्थः । तथा ते पाषण्डिका आत्मना—स्वतो बहूनि सत्या(त्य)मृषाभूतानि वाक्यानि 'एव'—वक्ष्यमाणनीत्या विशेषेण 'युञ्जन्ति'—प्रयुञ्जन्ति ब्रुवत इत्यर्थः, यदिवा सत्यान्यपि तानि प्राण्युपमर्दकत्वेन मृषाभूतानि सत्या(त्य)मृषाणि, एवं ते प्रयुञ्जन्तीति दर्शयति—तद्यथा—अहं ब्राह्मणत्वाद्दण्डादिभिर्न हन्तव्योऽन्ये तु शूद्रत्वाद्धन्तव्याः, तथाहि तद्वाक्यं—'शूद्रं व्यापाद्य प्राणायामं जपेत्, किंचिद्वा दद्यात्, तथा क्षुद्रसत्त्वानामनस्थिकानां शकटभरमपि व्यापाद्य ब्राह्मणं भोजये(दि)'त्यादि, अपरं चाहं वर्णोत्तमत्वात् नाज्ञापयितव्योऽन्ये तु मत्तोऽधमाः समाज्ञापयितव्याः, तथा नाहं परितापयितव्योऽन्ये तु परितापयितव्याः, तथाऽहं वेतनादिना कर्मकरणाय न

नाहमुपद्रावयितव्यो-जीविताद्परोपयितव्योऽन्ये तु अपरो-
ग्राह्योऽन्ये तु शूद्रा ग्राह्या इति, किं बहुनोक्तेन ?, नाहमुपद्रावयितव्यो-जीवितादपरोपयितव्योऽन्ये तु अपरोपयितव्या इति। तदेवं तेषां परपीडोपदेशनतोऽतिमूढतयाऽसंबद्धप्रलापिनामज्ञानावृतानामात्मंभरीणां विषमदृष्टीनां न प्राणातिपातविरतिरूपं व्रतमस्ति, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् मृषावादादत्तादानविरमणाभावोऽप्यायोज्यः। अधुना त्वनादिभवाभ्यासाद्दुस्त्यजत्वेन प्राधान्यात् सूत्रेणैवाब्रह्माधिकृत्याह-'एवमेवे'त्यादि, 'एवमेव'-पूर्वोक्तेनैव कारणेनातिमूढत्वादिना परमार्थमजानानास्ते तीर्थिकाः स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामाः, यदिवा स्त्रीषु कामेषु च शब्दादिषु मूर्छिता गृद्धा ग्रथिता अध्युपपन्नाः। अत्र चात्यादरख्यापनार्थं प्रभूतपर्यायग्रहणम्, एतच्च स्त्रीषु शब्दादिषु च प्रवर्तनं प्रायः प्राणिनां प्रधानं संसारकारणं, तथा चोक्तम्-"मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयमित्यादि", इह च स्त्रीसङ्गासक्तस्यावश्यंभाविनी शब्दादिविषयासक्तिरित्यतः स्त्रीकामग्रहणं, तत्र चाऽऽसक्ता यावन्तं कालमासते तत्सूत्रेणैव दर्शयति-यावद्वर्षाणि चतुष्पञ्चषड्दशकानि, अयं च मध्यमकालो गृहीतः, एतावत्कालोपादानं च साभिप्रायकं, प्रायस्तीर्थिका अतिक्रान्तवयस एव प्रव्रजन्ति, तेषां चैतावानेव कालः संभाव्यते; यदिवा मध्यग्रहणात्तत ऊर्ध्वमधश्च गृह्यते इति दर्शयति-तस्माच्चोपात्तादल्पतरः प्रभूततरो वापि कालो भवति। तत्र च ते त्यक्त्वापि गृहवासं 'भुक्त्वा भोगभोगान्'-इति स्त्रीभोगे सति अवश्यं शब्दादयो भोगाः भोगभोगास्तान् भुक्त्वा, ते च किल वयं प्रव्रजिता इति, न च भोगेभ्यो विनिवृत्ताः, यतो मिथ्यादृष्टितयाऽज्ञानान्धत्वात् सम्यग्विर-

सा० १ मूले व्यत्ययेन । २ मूलमेतदधर्मस्य महादोषसमुच्छ्रय ।

तिपरिणाम-[ग्रन्थाग्रं ९५००] रहिताः, ते चैवम्भूतपरिणामाः स्वायुषः क्षये कालमासे कालं कृत्वा विकृष्टतपसो अपि सन्तोऽन्यतरेष्वासुरिकेषु किल्बिषिकेषु स्थानेषूत्पादयितारो भवन्ति, ते ह्यज्ञानतपसा मृता अपि किल्बिषिकेषु स्थानेषूत्पद्यन्ते, तस्मादपि स्थानादायुषः क्षयाच्च्युताः किल्बिषबहुलास्तत्कर्मशेषेणैलवन्मूका एलमूकास्तद्भावेनोत्पद्यन्ते, किल्बिषिकस्थानाच्च्युतः सन्ननन्तरभवे वा मानुषत्वमवाप्य यथैलको मूकोऽव्यक्तवाक् भवति, एवमसावप्यव्यक्तवाक् समुत्पद्यन्त इति । तथा ‘तमूयत्ताए’त्ति—तमस्त्वेन—अत्यन्तान्धतमसत्वेन जात्यन्धतया मत्यज्ञानावृततया वा तथा जातिमूकत्वेनापगतवाच इह प्रत्यागच्छन्तीति । तदेवम्भूत खलु तेषां तीर्थिकानां परमार्थतः सावद्यानुष्ठानादनिवृत्तानामाधाकर्मादिप्रवृत्तेस्तत्प्रायोग्यभोगभाजां ‘तप्पत्तियं’—लोभप्रत्ययिकं सावद्यं कर्माधीयते । तदेतल्लोभप्रत्ययिकं द्वादशं क्रियास्थानमाख्यातमिति । साम्प्रतमेतेषां द्वादशानामप्युपसंहारार्थमाह—‘इति’—उपप्रदर्शने, ‘एतानि’—अर्थदण्डादीनि लोभप्रत्ययिकक्रियास्थानपर्यवसानानि द्वादशापि क्रियास्थानानि कर्मग्रन्थिद्रावणाद्द्रव्यः—संयमः, स विद्यते यस्यासौ द्रविको मुक्तिगमनयोग्यतया वा द्रव्यभूतः श्रमणः—साधुः, तमेव विशिनष्टि—मा वधीरित्येवं प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनस्तेनैवं एतद्गुणविशिष्टेनैतानि सम्यग्यथावस्थितवस्तुस्वरूपनिरूपणतो मिथ्यादर्शनाभिवानि संसारकारणानीतिकृत्वा ज्ञपरिज्ञया ज्ञातव्यानि, प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहर्तव्यानि भवन्तीति ।

अहावरे तेरसमे किरियट्ठाणे इरियावहिएत्ति आहिज्जइ, इह खलु अत्तत्ताए संवुडस्स अण

गारस्स ईरियासमियस्स, भासासमियस्स, आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमियस्स, उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमियस्स; मणसमियस्स; वयसमियस्स, कायसमियस्स; मणगुत्तस्स, वयगुत्तस्स, कायगुत्तस्स, गुत्तिंदियस्स, गुत्तबंभयारिस्स; आउत्तं गच्छमाणस्स, आउत्तं चिट्ठमाणस्स, आउत्तं णिसीयमाणस्स, आउत्तं तुयट्टमाणस्स, आउत्तं भुंजमाणस्स, आउत्तं भासमाणस्स; आउत्तं वत्थं, पडिग्गहं, कंबलं, पायपुंछणं, गिण्हमाणस्स वा; णिक्खिवमाणस्स वा जाव चक्खुपम्हणिवायमवि अत्थि विमाया सुहुमा किरिया ईरियावहिया नाम कज्जइ, सा पढमसमए बद्धा पुट्ठा, वितीयसमए वेइया, तइयसमए णिज्जिण्णा; सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेइया णिज्जिण्णा सेयकाले अकम्मे यावि भवति। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, तेरसमे किरियट्ठाणे ईरियावहिएत्ति आहिज्जइ; से बेमि। जे य अतीता, जे य पडुपन्ना; जे य आगमिस्सा अरिहंता, भगवंता, सव्वे ते एयाइं चेव तेरस किरियट्ठाणाइं भासिंसु वा, भासेंति वा, भासिस्संति वा; पन्नविंसु वा, पन्नविंति वा, पन्नविस्संति वा; एवं चेव तेरसमं किरियट्ठाणं सेविंसु वा, सेवंति वा; सेविस्संति वा ॥ सूत्रम्-२९ ॥

अथापरं त्रयोदशं क्रियास्थानमीर्यापथिकं नामाख्यायते। ईरणमीर्या तस्यास्तया वा पन्था ईर्यापथस्तत्र

यथाभीगपथिकम्, एतच्च शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तं, प्रवृत्तिनिमित्तं त्विदम्—सर्वत्रोपयुक्तस्याकषायस्य समीक्षितमनोवाक्कायक्रियस्य या क्रिया तया यत्कर्म तदीर्यापथिकं, सैव वा क्रिया ईर्यापथिकेत्युच्यते । सा कस्य भवति ?, किंभूता वा ?, कीदृक्कर्मफला वा ?, इत्येतद्दर्शयितुमाह—'इह खलु' इत्यादि, 'इह'—जगति प्रवचने संयमे वा वर्तमानस्य, खलुशब्दोऽवधारणेऽलङ्कारे वा आत्मनो भाव आत्मत्वं तदर्थमात्मत्वार्थं संवृतस्य मनोवाक्कायैः, परमार्थत एवंभूतस्यैवात्मभावोऽपरस्य त्वसंवृतस्यात्मत्वमेव नास्ति, सद्भूतात्मकार्याकरणात्, तदेवमात्मार्थं संवृतस्यानगारस्येर्यासमित्यादिभिः पञ्चभिः समितिभिर्मनोवाक्कायैः समितस्य, तथा तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तस्य, पुनर्गुप्तिग्रहणमेताभिरेव गुप्तिभिर्गुप्तो भवतीत्यस्यार्थस्याविर्भावनायात्यादरख्यापनार्थं चेति । तथा गुप्तेन्द्रियस्य नवब्रह्मचर्यगुप्त्युपेतब्रह्मचारिणश्च सतः, तथोपयुक्तं गच्छतस्तिष्ठतो निषीदतस्त्वग्वर्तनां कुर्वाणस्य तथोपयुक्तमेव वस्त्रं पतद्ग्रहं कम्बलं पादपुञ्छनकं वा गृह्णतो निक्षिपतो वा यावच्चक्षुःपक्ष्मनिपातमप्युपयुक्तं कुर्वतः सतोऽत्यन्तमुपयुक्तस्यापि अस्ति—विद्यते, विविधा मात्रा विमात्रा तदेवंविधा सूक्ष्माक्षिपक्ष्मसंचलनरूपादिकेर्यापथिका नाम क्रिया केवलिनाऽपि क्रियते, तथाहि—सयोगी जीवो न शक्नोति क्षणमप्येकं निश्चलः स्थातुम्, अग्निना ताप्यमानोदकवत्क्रामणशरीरानुगतः सदा परिवर्तत एवास्ते, तथा चोक्तम्—"केवली णं भंते ! अस्सिं समयंसि जेसु आगास

ख० १ यद्यपि विद्यते यस्य भावोऽप्रमत्तस्य तदीर्या० (च ईर्यापथिकं तस्येदमीर्या) प्र० मात्रयेदना वाभीष्टत् । २ केवली भगवन् ! अस्मिन् समये येष्वाकाशप्रदेशेषु ।

पएसेसु" इत्यादि । तदेवं केवलिनोऽपि सूक्ष्मगात्रसंचारा भवन्ति, इह च कारणे कार्योपचारात्तया क्रियया यद्बध्यते कर्म तस्य च कर्मणो या अवस्थास्ताः क्रियाः, ता एव दर्शयितुमाह–'सा पढमसमये'इत्यादि, याऽमावकषायिणः क्रिया तया यद्बध्यते कर्म तत्प्रथमसमय एव बद्धं स्पृष्टं चेतिकृत्वा तत्क्रियैव बद्धस्पृष्टेत्युक्ता, तथा द्वितीयसमये वेदितेत्यनुभूता, तृतीयसमये निर्जीर्णा, एतदुक्तं भवति–कर्म योगनिमित्तं बध्यते, तत्स्थितिश्च कषायायत्ता, तदभावाच्च न तस्य सांपरायिकस्येव स्थितिः, किंतु योगसद्भावाद्बध्यमानमेव स्पृष्टतां–संश्लेषं याति, द्वितीयसमये त्वनुभूयते, तच्च प्रकृतितः सातावेदनीयं स्थितितो द्विसमयस्थितिकमनुभावतः शुभानुभावं अनुत्तरोपपातिकदेवसुखातिशायि प्रदेशतो बहुप्रदेशमस्थिरबन्धं बहुव्ययं च, तदेवं सेर्यापथिका क्रिया प्रथमसमये बद्धस्पृष्टा, द्वितीयसमये उदिता वेदिता निर्जीर्णा भवति; 'सेयकाले'त्ति–आगामिनि तृतीयसमये तत्कर्मापेक्षयाऽकर्मतापि च भवति, एवं तावद्वीतरागस्येर्याप्रत्ययिकं कर्म 'आधीयते'–संबध्यते । तदेतत्त्रयोदशं क्रियास्थानं व्याख्यातम् । ये पुनस्तेभ्योऽन्ये प्राणिनस्तेषां सांपरायिको बन्धः, ते तु यानि प्रागुक्तानीर्यापथवर्ज्यानि द्वादश क्रियास्थानानि तेषु वर्तन्ते, तेषां च तद्वर्तिनामसुमतां मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगनिमित्तः सांपरायिको बन्धो भवति, यत्र च प्रमादस्तत्र कषाया [योगाश्च] नियमाद्भवन्ति, कषायिणश्च योगाः; योगिनस्त्वेते भाज्याः,

सा० १ बध्यमानस्य बध्यत्वादाद्यस्य गणना, तृतीयस्य तु निर्जीर्यमाणस्य निर्जीर्णत्वान्न स्थितौ गणनेति उक्तमित्य, भाष्ये तत्त्वार्थस्य तु एकसमयस्थितिकमिति ।

तत्र प्रमादकषायप्रत्ययिको बन्धोऽनेकप्रकारस्थितिः, तद्रहितस्तु केवलयोगप्रत्ययिको द्विसमयस्थितिरैर्यापथिक इति स्थितम् । एतानि त्रयोदश क्रियास्थानानि न भगवद्वर्धमानस्वामिनैवोक्तानि अपि त्वन्यैरपीत्येतद्दर्शयितुमाह–'से बेमी'त्यादि, सोऽहं ब्रवीमीति, यत्प्रागुक्तं तद्ब्रवीमीति, तद्यथा–ये तेऽतिक्रान्ता ऋषभादयस्तीर्थकृतो, ये च वर्तमानाः क्षेत्रान्तरे सीमन्धरस्वामिप्रभृतयो, ये चागामिनः पद्मनाभादयोऽर्हन्तो भगवन्तः सर्वेऽपि ते पूर्वोक्तान्येतानि त्रयोदश क्रियास्थानान्यभाषिषुः, भाषन्ते, भाषिष्यन्ते च । तथा तत्स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च प्ररूपितवन्तः, प्ररूपयन्ति, प्ररूपयिष्यन्ति च । तथैतदेव त्रयोदशं क्रियास्थानं सेवितवन्तः, सेवन्ते, सेविष्यन्ते च; यथाहि जम्बूद्वीपे सूर्यद्वयं तुल्यप्रकाशं भवति, यथा वा सदृशोपकरणा प्रदीपास्तुल्यप्रकाशा भवन्ति, एवं तीर्थकृतोऽपि निरावरणत्वात् कालत्रयवर्तिनोऽपि तुल्योपदेशा भवन्ति ।

साम्प्रत त्रयोदशसु क्रियास्थानेषु यन्नाभिहितं पापस्थानं तदभिधित्सुराह–

१० अदुत्तरं च णं पुरिसविजयं विभंगमाइक्खिस्सामि, इह खलु णाणापण्णाणं, णाणाछंदाणं, णाणासीलाणं, णाणादिट्ठीणं, णाणारुईणं, णाणारंभाणं, णाणाअज्झवसाणसंजुत्ताणं, णाणाविहपावसुयज्झयणं एवं भवइ; तंजहा–भोमं, उप्पायं, सुविणं, अंतलिक्खं, अंगं, सरं, लक्खणं, वंजणं, इत्थिलक्खणं, पुरिसलक्खणं, हयलक्खणं, गयलक्खणं, गोणलक्खणं, मिंढलक्खणं, कुक्कुडलक्खणं, तित्ति

घा १ २ हिवलिता प्र । २ सिप्पा न मामामि विप्रात्मैवे । इति वरपरस्मै ।

रलक्खणं, वट्टगलक्खणं, लावयलक्खणं, चक्कलक्खणं, छत्तलक्खणं, चम्मलक्खणं, दंडलक्खणं, असिलक्खणं, मणिलक्खणं, कागिणिलक्खणं, सुभगाकरं, दुब्भगाकरं, गब्भाकरं, मोहणकरं, आहव्वणिं, पागसासणिं, दव्वहोमं, खत्तियविज्जं, चंदचरियं, सूरचरियं, सुक्कचरियं, बहस्सइचरियं, उक्कापायं, दिसादाहं, मियचक्कं, वायसपरिमंडलं, पंसुवुट्ठिं, केसुवुट्ठिं, मंसवुट्ठिं, रुहिरवुट्ठिं, वेतालिं, अद्धवेतालिं, ओसोवणिं, तालुग्घाडणिं, सोवागिं, सोवरिं, दामिलिं, कालिंगिं, गोरिं, गंधारिं, ओवतणिं, उप्पयणिं, जंभाणिं, थंभणिं, लेसणिं, आमयकरणिं, विसल्लकरणिं, पक्कमणिं, अंतद्धाणिं, आयमिणिं; एवमाइआओ, विज्जाओ; अन्नस्स हेउं पउंजंति, पाणस्स हेउं पउंजंति वत्थस्स हेउं पउंजंति, लेणस्स हेउं पउंजंति, सयणस्स हेउं पउंजंति; अन्नेसिं वा विरूवरूवाणं कामभोगाण हेउं पउंजंति, तिरिच्छं ते विज्जं सेवेंति; ते अणारिया विप्पडिवन्ना कालमासे कालं किच्चा अन्नयराइं आसुरियाइं किब्बिसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति, ततोऽवि विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयताए तमअंधयाए पच्चायंति ॥ सूत्रम्-३० ॥

असात्रयोदशक्रियास्थानप्रतिपादनादुत्तरं यदत्र न प्रतिपादितं, तदधुनोत्तरभूतेनानेन सूत्रसंदर्भेण प्रतिपाद्यते, यथाऽऽचारे प्रथमश्रुतस्कन्धे यन्नाभिहितं तदुत्तरभूताभिश्चूलिकाभिः प्रतिपाद्यते; तथा चिकित्साशास्त्रे मूलसंहितायां श्लोकस्थाननिदानशारीरचिकित्सितकल्पसंज्ञकायां यन्नाभिहितं तदुत्तरेऽभिधीयते, एवमन्यत्रापि छंद-

भिस्थावराधुरसक्रामोऽवगन्तव्यः, तदिहापि पूर्वेण यथाभिहित तदनेनोपरम येन प्रतिपाद्यत इति । यः–मनुष्यये, णमिति वाक्यालङ्कारे, पुरुषा विचीयन्त—मृग्यन्ते विज्ञानद्वारेण वध्यन्ते येन स पुरुषविचय पुरुषविचयो वा–ऽवेपाभिहरूपसम्पाना तेन ज्ञानरूपेणाविधिमयुक्तेनार्थानुपन्धिना विचयादिति, स च विभङ्गस्य–अवधिविपर्ययवाद्भिः मङ्गो–ज्ञानविशेषः, पुरुषविचयश्चासौ विभङ्गश्च पुरुषविचयविभङ्गस्तमेवभूतं ज्ञानविशेषमाख्यास्यामि–प्रतिपादयिष्यामि । यादृशानां चासौ संक्षिप्ततः प्रतिपादयितुमाह–'इह खलु'इत्यादि, 'इह'–जगति मनुष्यक्षेत्रे प्रवचने वा नानाप्रकारा–विचित्रक्षयोपशमात् प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा, सा भिन्ना येषां नानाप्रज्ञाः, तथा चाल्पाल्पतराल्पतमया भिन्नमानाः पुरुषाः षट्स्थानपतिता भवन्ति; तथा छन्दः–अभिप्रायः स नाना येषां ते तथा तेषां नाना शीलानां, तथा नानारूपा दृष्टि–अन्तःकरणप्रवृत्तिर्येषां ते तथा तेषामिति, तेषां च त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि प्रमाणमवगन्तव्य, तथा नाना रुचिर्येषां ते नानारुचयः, तथाहि—आहारविहारशयनासनाच्छादनाभरणयानवाहनगीतवादित्रादिषु मध्येऽन्यस्यान्याऽन्यस्यान्या रुचिर्भवति तेषां नानारुचीनामिति, तथा नानारम्भाणां–कृषिपाशुपाल्यविपणिशिल्पकर्मसेवादिष्वन्यतमारम्भेणेति, तथा नानाध्यवसायसंयुतानां शुभाऽशुभाध्यवसाय मात्राभिहलोकमात्रप्रतिबद्धानां परलोकनिष्पिपासानां विषयतृषितानामिदं नानाविध पापश्रुताध्ययन भवति । तद्यथा–भूमौ भव भौम–निर्घातभूकम्पादिकं, तथोत्पातं–कपिहसितादिकं, तथा स्वप्न–गजवृषभसिंहादिकं, तथा ऽन्तरिक्षम्–अमोघादिकं, तथा अङ्गे भवमाङ्गम्–अक्षिबाहुस्फुरणादिकं, तथा स्वरलक्षणं–काकस्वरगम्भीरस्वरादिकं,

तथा लक्षणं-यवमत्स्यपद्मशङ्खचक्रश्रीवत्सादिकं, व्यञ्जनं-तिलकमषादिकं, तथा स्त्रीलक्षणं,-रक्तकरचरणादिकं, एवं पुरुषादीनां काकिणीरत्नपर्यन्तानां लक्षणप्रतिपादकशास्त्रपरिज्ञानमवगन्तव्यम् । तथा मन्त्रविशेषरूपा विद्याः, तद्यथा-दुर्भगमपि सुभगमाकरोति सुभगाकरां, तथा सुभगमपि दुर्भगमाकरोति दुर्भगाकरां, तथा गर्भकरां-गर्भाधानविधायिनीं, तथा मोहो-व्यामोहो वेदोदयो वा तत्करणशीलामाथर्वणीमाथर्वणाभिधानां सद्योऽनर्थकारिणीं विद्यामधीयते, तथा पाकशासनीम्-[आथर्वणीम्] इन्द्रजालसंज्ञिकां, तथा नानाविधैर्द्रव्यैः-कणवीरपुष्पादिभिर्मधुघृतादिभिर्वोच्चाटनादिकैः कार्यैर्होमो-हवनं यस्यां सा द्रव्यहवना तां, तथा क्षत्रियाणां विद्या धनुर्वेदादिकाऽपरा वा या स्वगोत्रक्रमेणायाता तामधीत्य प्रयुञ्जते। तथा नानाप्रकारं ज्योतिषमधीत्य व्यापारयतीति दर्शयति-'चंदचरियं'इत्यादि, चन्द्रस्य-ग्रहपतेश्चरितं चन्द्रचरितमिति, तच्च वर्णसंस्थानप्रमाणप्रभानक्षत्रयोगराहुग्रहादिकं, सूर्यचरितं त्विदं—सूर्यस्य मण्डलपरिमाणराशिपरिभोगोद्योतावकाशराहूपरागादिकं, तथा शुक्रचारो-वीथीत्रयचारादिकः, तथा बृहस्पतिचारः शुभाशुभफलप्रदः, संवत्सरराशिपरिभोगादिकश्च; तथोल्कापाता दिग्दाहाश्च वायव्यादिषु मण्डलेषु भवन्तः शस्त्राग्निक्षुत्पीडाविधायिनो भवन्ति, तथा मृगा—हरिणशृगालादय आरण्यास्तेषां दर्शनरुतं ग्रामनगरप्रवेशादौ सति शुभाशुभं यत्र चिन्त्यते तन्मृगचक्रं, तथा वायसादीनां पक्षिणां यत्र स्थानदिक्स्वराश्रयणात् शुभाशुभफलं चिन्त्यते, तद्वायसपरिमण्डलं; तथा पांसुकेशमांसरुधिरादिवृष्टयोऽनिष्टफलदा यत्र शास्त्रे चिन्त्यन्ते तत्तदभिधानमेव भवति, तथा विद्या नानाप्रकाराः क्षुद्रकर्मकारिण्यः, ताश्चेमाः-वैताली नाम विद्या

निपताक्षरप्रतिपत्ता, सा च किल कतिभिर्वर्णैरर्धमुत्पातयति। तथाऽर्धवैताली समेत्योपशमयति, तथाऽप(व)स्वापिनी, तालोद्घाटनी, श्वपाकी, शाम्बरी, तथाऽपरा द्राविडी, कालिङ्गी, गौरी, गान्धार्यवपतन्युत्पतनी, जृम्भणी, स्तम्भनी, श्लेषणी, आमयकरणी, विशल्यकरणी, प्रक्रामण्यन्तर्धानकरणीत्येवमादिका विद्या अधीयते, आसां चार्थः संज्ञात एवावसेय इति, नवरं शाम्बरीद्राविडीकालिङ्ग्यस्तद्देशोद्भवास्तद्भाषानिबद्धा वा विचित्रफलाः, अवपतनी तु जपन् स्वत एव पतत्यन्यं वा पातयत्येवमुत्पतन्यपि द्रष्टव्या। तदेवमेवमादिका विद्या आदिग्रहणात् प्रज्ञप्त्यादयो गृह्यन्ते। एताश्च विद्याः पापश्रुताः अविदितपरमार्था गृहस्था वा स्वयूथ्या वा द्रव्यलिङ्गधारिणोऽन्नपानाद्यर्थं प्रयुञ्जन्ति, अन्येषां वा विरूपरूपाणाम्–उच्चावचानां शब्दादीनां कामभोगानां कृते प्रयुञ्जन्ति। सामान्येन विद्याऽऽसेवनमनिष्टकारीति दर्शयितुमाह–'तिरश्चि'इत्यादि, तिरश्चीनाम्–अननुकूलां सदनुष्ठानप्रतिघातिकां ते अनार्या विप्रतिपन्ना विद्यां सेवन्ते, ते च यद्यपि क्षेत्रार्या भाषार्यास्तथापि मिथ्यात्वोपहतबुद्धयोऽनार्यकर्मकारित्वादनार्या एव द्रष्टव्याः, ते च स्वायुषः क्षये कालमासे कालं कृत्वा यदि कथञ्चिद्देवलोकगामिनो भवन्ति; ततोऽन्यतरेषु आसुरीयकेषु किल्बिषिकादिषु स्थानेषूत्पत्स्यन्ते, ततोऽपि विप्रमुक्ताः–च्युता यदि मनुष्येषूत्पद्यन्ते, तत्र च तत्कर्मशेषतयैडमूकत्वेनान्धकत्वेन तमस्त्वेन तथा मूकतया वा प्रत्यागच्छन्ति; ततोऽपि नानाप्रकारेषु यातनास्थानेषु नरकतिर्यगादिषूत्पद्यन्ते। साम्प्रतं गृहस्थानुद्दिश्याधर्मपक्षसेवनमुच्यते—

से एगइओ आयहेउं वा, णायहेउं वा, सयणहेउं वा, अगारहेउं वा, परिवारहेउं वा, नायगं वा,

वा, सहवासियं वा, णिस्साए अदुवा अणुगामिए १; अदुवा-उवचरए २, अदुवा-पडिपहिए ३, अदुवा-संधिछेदए ४, अदुवा-गंठिछेदए ५, अदुवा-उरब्भिए ६, अदुवा-सोवरिए ७, अदुवा-वागुरिए ८, अदुवा-साउणिए ९, अदुवा-मच्छिए १०, अदुवा-गोघायए ११, अदुवा-गोवालए १२, अदुवा-सोवणिए १३; अदुवा-सोवणियंतिए १४। एगइओ आणुगामियभावं पडिसंधाय तमेव अणुगामियाणुगामियं हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुंपइत्ता, विलुंपइत्ता; उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ। से एगइओ उवचरयभावं पडिसंधाय तमेव उवचरियं हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुंपइत्ता, विलुंपइत्ता; उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ। से एगइओ पाडिपहियभावं पडिसंधाय तमेव पाडिपहे ठिच्चा हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुंपइत्ता, विलुंपइत्ता; उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ। से एगइओ संधिछेदगभावं पडिसंधाय तमेव संधिं छेत्ता, भेत्ता जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ। से एगइओ गंठिछेदगभावं पडिसंधाय तमेव गंठिं छेत्ता, भेत्ता जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ। से एगइओ उरब्भियभावं पडिसंधाय उरब्भं वा, अण्णतरं वा, तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ; एसो अभिलावो सव्वत्थ। से एगइओ सोयरियभावं

पडिसंघाय महिस वा, अण्णतर वा, तसं पाण जाव उवक्खाइत्ता भवइ। से एगइओ वागुरिय भाव पडिसघाय मियं वा, अण्णतर वा, तस पाण हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ। से एगइओ सउणियभाव पडिसंघाय सउणिं वा अण्णतर वा तस पाण हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ। से एगइओ मच्छियभाव पडिसंघाय मच्छं वा, अण्णतर वा, तसं पाण हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ। से एगइओ गोघायभाव पडिसंघाय तमेव गोण वा अण्णयर वा तस पाण हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ। से एगइओ गोवालभावं पडिसंघाय तमेव गोवाल वा परिजविय परिजविय हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ। से एगइओ सोवणियभाव पडिसंघाय तमेव सुणग वा अन्नयर वा, तस पाण हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ। से एगइओ सोवणियंतियभाव पडिसंघाय तमेव मणुस्सं वा, अन्नयर वा, तस पाण हंता जाव आहार आहारेति; इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताण उवक्खाइत्ता भवइ ॥ सूत्रम्-३१ ॥

स एकः कश्चिन्मिथ्यादृष्टिः साम्प्रतापेक्षी अपगतपरलोकाध्यवसाय कर्मपरतया भोगलिप्सुः संसारस्वभावानुवर्ती आत्मनिमित्त वेस्येतान्यनुगामुकादीन्य-पकर्तव्यहेतुभूतानि चतुर्दशासदनुष्ठानानि विधत्ते, तथा ज्ञातयः—स्वजनास्तन्निमित्त, तथागारनिमित्त—गृहसंस्कारमार्थं सामान्येन वा कुटुम्बार्थं परिवारनिमित्त वा—दासीदासकर्मकरादिपरिकरकृत, तथा—ज्ञात एव ज्ञातकः—परिचितस्तन्निमित्त तथा सहवासिक वा—प्रातिवेश्मिक निमीकस्येतानि पञ्च

माणानि कुर्यादिति संबन्धः। तानि च दर्शयितुमाह–'अदुवे'त्यादि, अथवेत्येवं वक्ष्यमाणापेक्षया पक्षान्तरोपल-
क्षणार्थः, गच्छन्तमनुगच्छतीत्यनुगामुकः, स चाकार्याध्यवसायेन विवक्षितस्थानकालाद्यपेक्षया विरूपकर्तव्यचिकीर्षु-
स्तं गच्छन्तमनुगच्छति, अथवा–तस्यापकर्तव्यस्यापकारावसरापेक्ष्युपचरको भवति, अथवा–तस्य प्रातिपथिको
भवति–प्रतिपथं–संमुखीनमागच्छति, अथवाऽऽत्मस्वजनार्थं संधिच्छेदको भवति–चौर्यं प्रतिपद्यते, अथवोरभ्रैः–
मेषैश्चरत्यौरभ्रिकः, अथवा–सौकरिको भवति, अथवा–शकुनिभिः–पक्षिभिश्चरतीति शाकुनिकः, अथवा–वागुरया–
मृगादिबन्धनरज्ज्वा चरति वागुरिकः, अथवा–मत्स्यैश्चरति मात्स्यिकः, अथवा–गोपालभावं प्रतिपद्यते, अथवा–
गोघातकः स्याद्, अथवा–श्वभिश्चरति शौवनिकः शुनां परिपालको भवतीत्यर्थः, अथवा–'सोवणियं'ति– ९
श्वभिः पापर्द्धिं कुर्वन्मृगादीनामन्तं करोतीत्यर्थः। तदेवमेतानि चतुर्दशाप्युद्दिश्य प्रत्येकमादितः प्रभृति विवृणोति—
तत्रैकः कश्चिदात्माद्यर्थं अपरस्य गन्तुर्ग्रामान्तरं किञ्चिद्द्रव्यजातमवगम्य तदादित्सुस्तस्यैवानुगामुकभावं 'प्रति-
संधाय'–सहगन्तृभावेनानुकूल्यं प्रतिपद्य विवक्षितवञ्चनावसरकालाद्यपेक्षी तमेव गच्छन्तमनुव्रजति, तमेव चास्यु-
त्थानविनयादिभिरत्यन्तोपचारैरुपचर्यानुव्रज्य च विवक्षितमवसरं लब्ध्वा तस्यासौ हन्ता दण्डादिभिः, तथा–छेत्ता
खड्गादिना हस्तपादादेः, तथा–भेत्ता वज्रमुष्ट्यादिना, तथा–लुम्पयिता केशाकर्षणादिकदर्थनतः, तथा–विलुम्पयिता १०
कशाप्रहारादिभिरत्यन्तदुःखोत्पादनेन, तथा–अपद्रावयिता जीविताद्व्यपरोपणतो भवतीत्येवमादिकं कृत्वाऽऽहार-
माहारयत्यसौ; एतदुक्तं भवति–गलकर्तकः कश्चिदन्यस्य धनवतोऽनुगामुकभावं प्रतिपद्य तं बहुविधैरुपायैर्विश्रम्भे

पातयित्वा भोगार्थी मोहाच्च मात्रवेधितया तस्य रिक्थवतोऽरुत्याहारादिको भोगक्रियां विषये, इत्येवमसौ महद्भिः क्रूरैः कर्मभिः'–अनुष्ठानैर्महाशातकभूतैश्च तीव्रानुभावैर्दीर्घस्थितिविकैरात्मानमुपख्यापयिता भवति, तथाहि–प्रथममौ महापापकारीत्येवमात्मानं लोके ख्यापयति, अष्टप्रकारैश्च कर्मभिरात्मानं; तथा–च भवति यथा लोके गद्दिपाकापादितेनावस्थायिशेषेण मया नारकतिर्यङ्नरामररूपतयाऽऽख्यात इति । तदेवमेकः कश्चिदकर्तव्यामि संधिना परस्य स्वापतेयवतस्तद्ग्रहणार्थमुपचरकभाव 'प्रतिसंधाय'–प्रतिज्ञाय पश्चाच्च नानाविधैर्विनयोपायैरुप चरति, उपचय च विश्रम्भ पातयित्वा तद्र्व्यार्थी तस्य हन्ता, छेत्ता, भेत्ता; यावदपद्रावयिता भवतीत्येवमसावा स्मानं 'महद्भिः'–प्रकृष्टैः पापैः कर्मभिः उपाख्यापयिता भवतीति । अथैकः कश्चित्प्रतिपथेन–अभिमुखेन चरतीति प्रातिपथिकस्तद्भाव प्रतिपायापरस्यार्थवतस्तदेव प्रातिपथिकत्वं कुर्वन्, प्रतिपथे स्थित्वा तस्यार्थवतो विश्रम्भतो हन्ता, छेत्ता; यावदपद्रावयिता भवतीत्येवमसावात्मानं पापैः कर्मभिः ख्यापयतीति । अथैकः कश्चिद्विरूपकर्मणा जीवितार्थी 'संधिच्छेदकभावं'–खात्रखननस्य प्रतिपद्यानेनोपायेनात्मानमहं कर्तयिष्यामीत्येव प्रतिज्ञां कृत्वा, गमेव प्रतिपद्य, ततोऽसौ संधिं छिन्दन्–खात्रं खनन् प्राणिनां (हन्ता), छेत्ता, भेत्ता, विलुम्पयिता भवतीति; एतच्च कृत्वाऽऽहारमाहारयतीति, एतच्चोपलक्षणमन्यांश्च कामभोगान् स्वतो सुहृदोऽन्यदपि ज्ञातिगृहादिकं पालयतीत्येव-ममौ महद्भिः पापैः कर्मभिरात्मानमुपख्यापयति । अथैकः कश्चिदसदनुष्ठायी ग्रन्थादिना ग्रन्थिच्छेदकभावं प्रतिपद्य गमेवानुपाति, शेषं पूर्ववत् । अथैकः कश्चिदधर्मकर्मप्रवृत्तिः उरभ्रा–उरणकास्तैश्चरति यः स औरभ्रिकः, स च तद्

र्णया तन्मांमादिना वाऽऽत्मानं वर्तयति, तदेवमसौ तद्भावं प्रतिपद्योरभ्रं वाऽन्यं वा त्रसं प्राणिनं स्वमांसपुष्ट्यर्थं
व्यापादयति, तस्य वा हन्ता, छेत्ता, भेत्ता भवतीति; शेषं पूर्ववत्। अत्रान्तरे सौकरिकपदं, तच्च स्वबुद्ध्या व्याख्येयं,
सौकरिकाः-श्वपचाश्चाण्डालाः-खट्टिका इत्यर्थः। अथैकः कश्चित् क्षुद्रसत्त्वो 'वागुरिकभावं'-लुब्धकत्वं 'प्रति-
संधाय'-प्रतिपद्य वागुरया 'मृगं'-हरिणमन्यं वा त्रसं प्राणिनं शशादिकमात्मवृत्त्यर्थं स्वजनाद्यर्थं वा व्यापा
दतियति, तस्य च हन्ता, छेत्ता, भेत्ता भवति; शेषं पूर्ववत्। अथैकः कश्चिदधमोपायजीवी शकुना-लावकादयस्तैश्च-
रति शाकुनिकस्तद्भावं प्रतिसंधाय तन्मांसाद्यर्थी शकुनमन्यं वा त्रसं व्यापादयति, तस्य च हननादिकां क्रियां
करोतीति, शेष पूर्ववत्। अथैकः कश्चिदधमाधमो मात्स्यिकभावं प्रतिपद्य मत्स्यं वाऽन्यं(वा)जलचरं प्राणिनं व्या-
पादयेत्, हननादिकाः वा क्रियाः कुर्यात्; शेषं सुगमम्। अथैकः कश्चिद्गोपालकभावं प्रतिपद्य कस्यचिद्गोः कुपितः
सन् तां गां 'परिविच्य'-पृथक् कृत्वा तस्या हन्ता, छेत्ता, भेत्ता भूयो भूयो भवति; शेषं पूर्ववत्। अथैकः कश्चि
त्क्रूरकर्मकारी गोघातकभावं प्रपिपद्य गामन्यतरं वा त्रसं प्राणिनं व्यापादयेत्, तस्य च हननादिकाः क्रियाः
कुर्यादिति। अथैकः कश्चिज्जघन्यकर्मकारी 'शौवनिकभावं' प्रतिपद्य' सारमेयपापर्द्धिभावं प्रतिज्ञाय, तमेव
श्वानं तेन वा 'परं'-मृगसूकरादिकं त्रसं प्राणिनं व्यापादयेत्; तस्य च हननादिकाः क्रियाः कुर्यादिति। अथैकः
कश्चिदनार्यो निर्विवेकः 'सोवणियंतिभावं'ति-श्वभिश्चरति शौवनिकः अन्तोऽस्यास्तीत्यान्तिकोऽन्ते वा चरत्या-
न्तिकः पर्यन्तवासीत्यर्थः, शौवनिकश्चासावान्तिकश्च शौवानिकान्तिकः—क्रूरसारमेयपरिग्रहः प्रत्यन्तनिवासी च

प्रत्यन्तनिवासीमित्रो भविष्यतीति, तदसौ तद्भाव प्रतिसभाग-दुष्टसारमेयपरिग्रह प्रतिपथ, मनुष्य वा कञ्चन पथिकमभ्यागतमन्य वा मृगमूषकादिक त्रसं प्राणिन हन्ता भवति; भय च ताच्छीलिकस्तृन् उद्ग्रस्यपो वा द्रष्टव्यः, वृत्ति तु माष्याहारं शास्त्रयाख्येय; तद्यथा—पुरुष व्यापादयेत्, तस्य च हन्ता, छेत्ता इत्यादिः धनुकृद् प्रत्ययो रागवि योजनीयाविति । तदेवमसौ महाक्रूरकर्मकारी महद्भिः कर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवतीति, उक्ताऽसदाजीवनोपायभूता वृत्तिः, इदानीं कपिसकृतविभिमित्तादभ्युपगम दर्शयति—

से एगइओ परिसामज्झाओ उट्ठित्ता अहमेयं हणामित्तिकट्टु तित्तिरं वा, वट्टगं वा, लावगं वा, कवोयगं वा, कविंजलं वा, अन्नयरं वा; तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ । से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुरायालएणं गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा सयमेव अगणिकाएणं सस्साइं झामेइ अन्नेणवि अगणिकाएणं सस्साइं झामावेइ अगणिकाएणं सस्साइं झामंतंपि अन्नं समणुजाणइ इति से महया पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ । से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे, अदुवा-खलदाणेणं अदुवा-सुरायालएणं गाहावतीण वा, गाहावइपुत्ताण वा, उट्टाण वा, गोणाण वा, घोडगाण वा, गद्दभाण वा; सयमेव घूराओ कप्पेति, अन्नेणवि कप्पावेति, कप्पंतंपि अन्नं समणुजाणइ इति से महया जाव भवइ । से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं

अदुवा-सुराथालएणं गाहावतीण वा, गाहावइपुत्ताण वा, उट्टसालाओ वा, गोणसालाओ वा,
घोडगसालाओ वा, गद्दभसालाओ वा; कंटकबोंदियाए पडिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेइ,
अन्नेणवि झामावेइ; झामंतंपि अन्नं समणुजाणइ इति से महया जाव भवइ। से एगइओ
केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा-खलदाणेणं, अदुवा-सुराथालएण गाहवतीण वा,
गाहावइपुत्ताण वा, कुंडलं वा, मणिं वा, मोत्तियं वा; सयमेव अवहरइ, अन्नेणवि अवहरावइ;
अवहरंतंपि अन्नं समणुजाणइ इति से महया जाव भवइ। से एगइओ केणइवि आदाणेणं
विरुद्धे समाणे, अदुवा-खलदाणेणं, अदुवा-सुराथालएणं समणाण वा, माहणाण वा, छत्तगं ९
वा, दंडगं वा, भंडगं वा, मत्तगं वा, लट्ठिं वा, भिसिगं वा, चेलगं वा, चिलिमिलिगं वा, चम्मयं
वा, छेयणगं वा, चम्मकोसियं वा; सयमेव अवहरति जाव समणुजाणइ इति से महया जाव
उवक्खाइत्ता भवइ। से एगइओ णो वितिगिंछइ तं०-गाहावतीण वा, गाहावइपुत्ताण वा, सय-
मेव अगणिकाएण ओसहीओ झामेइ जाव अन्नंपि झामंतं समणुजाणइ इति से महया जाव १०
उवक्खाइत्ता भवइ। से एगइओ णो वितिगिंछइ, तं०-गाहावतीण वा, गाहावइपुत्ताण वा,
उट्टाण वा, गोणाण वा, घोडगाण वा, गद्दभाण वा, सयमेव घूराओ कप्पेइ अन्नेणवि कप्पावेति,
अन्नंपि कप्पंतं समणुजाणइ। से एगइओ णो वितिगिंछइ तं०-गहावतीण वा, गाहावइ-

पुत्ताण वा, उट्टसालाओ वा जाव गद्दभसालाओ वा, कटकपोदियाहिं पडिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएण झामइ जाव समणुजाणइ। से एगइओ णो वितिगिंछइ, त०-गाहावतीण वा, गाहावइपुत्ताण वा, जाव मोत्तिय वा, सयमेव अवहरइ; जाव समणुजाणइ। से एगइओ णो वितिगिंछइ त०-समणाण वा, माहणाण वा, छत्तग वा, दण्डग वा जाव चम्मछेदणग वा; सयमेव अवहरइ जाव समणुजाणइ इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ। से एगइओ समण वा, माहण वा, दिस्सा णाणाविहेहिं पावकम्मेहिं अत्ताण उवक्खाइत्ता भवइ, अदुवा-ण अच्छराए वा आफालित्ता भवइ, अदुवा णं फरुस वदित्ता भवइ, कालेणवि से अणुपविट्ठस्स असण वा पाण वा जाव णो दवावेत्ता भवइ, जे इमे भवन्ति वोनमता, भारक्कता अलसगा, वसलगा, किवणगा, समणगा पव्वयति त इणमेव जीवित धिज्जीवित सपडिवूहेंति, नाइ ते परलोगस्स अट्ठाए किंचिवि सिलीसति, ते दुक्खति, ते सोयति, ते जूरति, ते तिप्पति, ते पिट्टति, ते परितप्पति; ते दुक्खण जूरणसोयणतिप्पणपिट्टणपरितिप्पणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवति, ते महया आरंभेण, ते महया समारंभेण, ते महया आरंभसमारंभेण; विरूवरूवेहिं, पावकम्मकिच्चेहिं; १०
उरालाइ, माणुस्सगाइ भोगभोगाइ भुंजित्तारो भवति, तजहा-अन्न अन्नकाले, पाण पाणकाले, वत्थ वत्थकाले, लेण लेणकाले, सयण सयणकाले; सपुव्वावर च ण ण्हाए, कयबलिकम्मे, कयको-

उयमंगलपायच्छित्ते, सिरसा ण्हाए, कंठेमालाकडे, आविद्धमणिसुवन्ने, कप्पियमालामउली पडि-
बद्धसरीरे,वग्घारियसोणिसुत्तगमल्लदामकलावे, अहतवत्थपरिहिए, चंदणोक्खित्तगायसरीरे,मह-
तिमहालियाए,कूडागारसालाए;महतिमहालयंसि,सीहासणंसि, इत्थीगुम्मसंपरिवुडे सव्वराइएणं
जोइणा झियायमाणेणं,महयाहयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुपवाइयरवेणं,उरा-
लाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ, तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि
पंच जणा अवुत्ता चेव अब्भुट्ठंति, भणह देवाणुप्पिया ! किं करेमो ?, किं आहरेमो ?, किं उव-
णेमो ?, किं आचिट्ठामो ?, किं भे हियं इच्छियं ?, किं भे आसगस्स सयइ ?; तमेव पासित्ता
अणारिया एवं वयंति-देवे खलु अयं पुरिसे, देवसिणाए खलु अयं पुरिसे, देवजीवणिज्जे खलु
अयं पुरिसे, अन्नेवि य णं उवजीवंति; तमेव पासित्ता आरिया वयंति-अभिक्कंतकूरकम्मे खलु
अयं पुरिसे अतिधुन्ने अइयायरक्खे दाहिणगामिए नेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लह-
बोहियाए यावि भविस्सइ। इच्चेयस्स ठाणस्स उट्ठिया वेगे अभिगिज्झंति, अणुट्ठिया वेगे अभि-
गिज्झंति, अभिझंझाउरा अभिगिज्झंति; एस ठाणे अणारिए, अकेवले, अप्पडिपुन्ने, अणेयाउए,
असंसुद्धे,असल्लगत्तणे,असिद्धिमग्गे,अमुत्तिमग्गे,अनिव्वाणमग्गे, अणिज्जाणमग्गे, असव्वदुक्ख-
पहीणमग्गे; एगंतमिच्छे असाहु एस खलु पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एव-

॥ सूत्रम्-३२ ॥

अथ चात्र पूर्वसादिश्य –पूर्वत्र हिंसा प्रतिपादिता प्रच्छन्न वा प्राणव्यपरोपणं कुर्यात्, इह तु कृतप्रतिज्ञो ज्ञपयन् क्रीडया कुपितो वा पर्षदो मध्यादभ्युत्थायैवभूतां प्रतिज्ञां विदध्यात्–यथाऽहम् 'एन'–मध्यमाणं प्राणिनं हनिष्यामीति प्रतिज्ञां कृत्वा पश्चाच्छिरादिकं हन्ता, भेत्ता, छेत्तेति ताच्छीलिकस्तृन् छद्मस्थो वा, तस्य वा हन्तेत्यादि, पापदात्मानं पापेन कर्मणा स्थापयिता भवतीति । इह चाधर्मपाक्षिकेष्वभिधीयमानेषु सर्वेऽपि प्राणिद्रोहकारिणः कथञ्चिदभिलप्याः, तत्र पूर्वमनपराधकृता अभिहिता', साम्प्रतमपराधकृतान् दर्शयितुमाह— 'से एगइओ' इत्यादि, अथैकः कश्चिदेकत्या क्रोधनोऽसहिष्णुतया केनचिदादीयत इत्यादान–शब्दादिकं कारणं तेन विरुद्धः समानः परस्यापकुर्यात्, शब्दादानेन वाचत्केनचिदाक्रुष्टो निन्दितो वा भाषां विरुध्येत, रूपादानेन तु बीभत्सं कश्चन दृष्टाऽपशकुनाध्यवसायन कुप्येत, गन्धरसादिकं स्वादानं स्वत्रेणैव दर्शयितुमाह— अथवा–खलस्य—कुथितादिविशिष्टस्य दानं खलस्य वाऽल्पधान्यादेर्दानं खलदानं तेन कुपितः, अथवा–सुराया स्थालकं—कोशकादि तेन विवक्षितलाभाभावात् कुपितः गृहपत्यादरेवत् कुर्यादित्याह—स्वयमेवाग्निकायेन– अग्निना सस्यानि–खलकवर्तीनि शालिव्रीह्यादीनि 'ध्मापयेत्'–दहेदन्येन वा दाहयेद्दहतो वाऽन्यान्समनु जानीयादित्येवमसौ महापापकर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवतीति । साम्प्रतमन्येन प्रकारेण पापोपादानमाह–

अथैकः कश्चित्केनचित्तु खलदानादिनाऽऽदानेन गृहपत्यादेः कुपितस्तत्संबन्धिन उष्ट्रादेः स्वयमेव–आत्मना परश्वादिना 'घूरीया(रा)ओ'त्ति–जङ्घाः, खलका वा, 'कल्पयति'–छिनत्ति, अन्येन वा छेदयति, अन्यं वा छिन्दन्तं समनुजानीते; इत्येवमसावात्मानं पापेन कर्मणोपाख्यापयिता भवति। किञ्च–अथैकः कश्चित्केनचिन्निमित्तेन गृहपत्यादेः कुपितस्तत्संबन्धिनामुष्ट्रादीनां शाला—गृहाणि 'कंटकबोंदियाए'त्ति–कण्टकशाखाभिः, 'प्रतिविधाय'–पिहित्वा स्थगित्वा स्वयमेवाग्निना दहेत्; शेषं पूर्ववत्। अपि च–अथैकः कश्चित्केनाचिदादानेन कुपितो गृहपत्यादेः संबन्धि कुण्डलादिकं द्रव्यजातं स्वयमेवापहरेदवशिष्टं पूर्ववत्। साम्प्रतं पाखण्डिकोपरि कोपेन यत्कुर्यात्तद्दर्शयितुमाह–अथैकः कश्चित्स्वदर्शनानुरागेण वा, वादपराजितो वाऽन्येन वा, केनचिन्निमित्तेन कुपितः सन्नेतत्कुर्यादित्याह–तद्यथा–श्राम्यन्तीति श्रामणास्तेषामन्येषामपि तथाभूतानां केनचिदादानेन कुपितः सन् दण्डकादिकमुपकरणजातमपहरेत्, अन्येन वा हारयेदन्यं वा हरन्तं समनुजानीयात् इत्यादि पूर्ववत्। एवं तावद्विरोधिनोऽभिहिताः, साम्प्रतमितरेऽभिधीयन्ते—अथैकः कश्चित् दृढमूढतया 'नो वितिगिंछइ'त्ति–'न विमर्षति'–न मीमांसते, यथाऽनेन कृतेन ममामुत्रानिष्टफलं स्यात्, तथा मदीयमिदमनुष्ठानं पापानुबन्धीत्येवं
न पर्यालोचयति, तद्भावापन्नश्च यत्किञ्चनकारितया इहपरलोकविरोधिनीः क्रियाः कुर्यात्, एतदेवोद्देशतो दर्श- १०
यति–तद्यथा–गृहपत्यादेर्निर्निमित्तमेव–तत्कोपमन्तरेणैव स्वयमेवात्मनाऽग्निकायेन—अग्निनौषधीः–शालिव्रीह्यादिकाः ध्मापयेत्—दहेत्, तथाऽन्येन दाहयेद्दहन्तं च समनुजानीयादित्यादि। तथेहामुत्र च दोषापर्यालोचको

निस्त्रिंशतया गृहस्थादिसम्बन्धिनां क्रमेलकादीनां अश्वादीनपवर्गाच्छिन्द्यात्। तथा–शालां दहेत्। तथा–गृहस्थादेः संबन्धि कुण्डलमणिमौक्तिकादिकमपहरेत्। तथा–श्रमणमाहनादीनां दण्डादिकमुपकरणजातमपहरेदित्येव भावना। एवमालापका आदानकुपितस्य येऽभिहितास्त एव तदभावेनाभिधातव्या इति। साम्प्रतं विपर्यस्तदृष्टयः आगाढमिथ्यादृष्टयोऽभिधीयन्ते–अथैकः कश्चिदभिगृहीतमिथ्यादृष्टिरभद्रकः साधुप्रत्यनीकतया श्रमणादीनां निर्गच्छतां प्रविशतां वा स्वतश्च निर्गच्छन् प्रविशन् वा नानाविधैः पापोपादानभूतैः कर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवतीति, एतदेव दर्शयति–'अथवे'त्ययमुत्तरापेक्षया पक्षान्तरोपग्रहार्थः, कश्चिदसाधुदर्शने सति मिथ्यात्वोपहतदृष्टितयाऽपशकुनोऽयमित्येवं मन्यमानः सन् दृष्टिपथादपसारयन् साधुमुद्दिश्यावज्ञया 'अप्सरायाः'–चप्पुटिकायाः आस्फालयिता भवत्यपरः असभ्यशब्दमापादयन् परुषं वचो ब्रूयात्, तद्यथा–ओदनमुण्ड! निरर्थककायक्लेशपरायण दुर्बुद्धेऽपसराग्रत, गर्दभो भृकुटिं विदध्याद् मत्स्य वा ब्रूयात्, तथा भिक्षाकालेनापि 'से'–तस्य भिक्षोर्येभ्यो भिक्षा परेभ्योऽनु–पश्चाद्यथिष्टस्य मतोऽत्यन्तदुष्टतयाऽभावनो दापयिता भवति, अपरं च दानोद्यतं निषेधयति तत्प्रत्यनीकतया, एवम् ब्रूते–ये इमे पाखण्डिका भवन्ति, त एवंभूता भवन्तीत्याह—'पोण्ण'न्ति—तृणकाष्ठाहारादिकमधमकर्म तद् विद्यते येषां त, सद्वन्तः, तथा–भारेण–कुटुम्बभारेण पोट्टलिकादिभारेण वाऽऽक्रान्ताः—पराभग्नाः मुसलिम्पवोऽलसाः–क्रमागतं कुटुम्बं पालयितुमसमर्थाः ते पाषण्डव्रतमाश्रयन्ति, तथा चोक्तम्–

"गृहाश्रमपरो धर्मो, न भूतो न भविष्यति। पालयन्ति नरा धन्याः, क्लीबाः पाषण्डमाश्रिता ॥१॥" इत्यादि,

अधमाः–शूद्रजातयस्त्रिवर्गप्रतिचारकाः, तथा–'कृपणाः'–क्लीबा अकिञ्चित्कराः श्रमणा भवन्ति—प्रव्रज्यां गृह्णन्तीति। साम्प्रतमेषामगारिकाणामत्यन्तविपर्यस्तमतीनामसद्वृत्तमाविर्भावयन्नाह–ते हि साधुवर्गापवादिनः सद्धर्मप्रत्यनीका इदमेव 'जीवितं'–परापवादोद्घट्टनजीवितं 'धीग्जीवितं'–कुत्सितं जीवितं साधुजुगुप्सापरायणं संप्रति बृंहन्ति, एतदेवासद्वृत्तजीवितं प्रशंसन्तीति भावः। ते चेहलोकप्रतिबद्धाः साधुजुगुप्साजीविनो मोहान्धाः साधूनपवदन्ति, नापि च ते पारलौकिकस्यार्थस्य साधनम्–अनुष्ठानं 'किञ्चिदपि'–स्वल्पमपि 'श्लिष्यन्ति'–समाश्रयन्ति, केवलं ते परान् साधून् वागादिभिरनुष्ठानैर्दुःखयन्ति–पीडामुत्पादयन्ति आत्मनः परेषां च, तथा तेऽज्ञानान्धास्तथा तत्कुर्वन्ति येनाधिकं शोचन्ते, परानपि शोचयन्ति–दुर्भाषितादिभिः शोकं चोत्पादयन्ति, तथा ते परान् 'जूरयन्ति'–गर्हन्ति, तथा तिप्यन्ति–सुखाच्च्यावयन्त्यात्मानं परांश्च, तथा ते वराका अपुष्टधर्माणोऽसदनुष्ठानाः स्वतः पीड्यन्ते परांश्च पीडयन्ति, तथा ते पापेन–कर्मणा परितप्यन्ते–अन्तर्दह्यन्तेपरांश्च परितापयन्ति। तदेवं तेऽसद्वृत्तयः सन्तो दुःखनशोचनादिक्लेशादप्रतिविरताः सदा भवन्ति। एवंभूताश्च सन्तस्ते महताऽऽरम्भेण–प्राणिव्यापादनरूपेण तथा महता समारम्भेण–प्राणिपरितापनरूपेण तथोभाभ्यामप्यारम्भसमारम्भाभ्यां 'विरूपरूपैश्च'–नानाप्रकारैः सावद्यानुष्ठानैः पापकर्मकृत्यैः 'उदारान्'–अत्यन्तोद्भटान् समग्रसामग्रीकान् मधुमद्यमांसाद्युपेतान् 'मानुष्यकान्'–मनुष्यभवयोग्यान् भोगेभ्योऽप्युत्कटान् भोगभोगान् ते सावद्यानुष्ठायिनो भोक्तारो भवन्ति। एतदेव दर्शयितुमाह—'तंजहे'त्यादि, तद्यथेत्युपप्रदर्शने, अन्नमन्नकाले पथेप्सितं

तस्य पापानुष्ठानात्संपद्यते, एवं पानसज्जशयनासनादिकमपि । सर्वमेतद्यथाकालं सपूर्वापरं संपद्यते, सह पूर्वेण–
पूर्वाह्णकर्तव्येनापरेण च—अपराह्णकर्तव्येन यदिवा पूर्वं यत् क्रियते स्नानादिकं तथा परं च यत् क्रियते
विलेपनभोजनादिकं तेन सह वर्तत इति सपूर्वापरम्, इत्युक्तं भवति—यदा प्रार्थ्यते, तदा संपद्यत इति;
अभिलषितार्थप्राप्तिमेव लेशतो दर्शयितुमाह–तद्यथा–विभूत्या स्नातस्तथा कृतं देवतादिनिमित्तं बलिकर्म येन स
तथा। तथा कृतानि कौतुकानि–अवतारणकादीनि मङ्गलानि–च सुवर्णचन्दनदध्यक्षतदूर्वासिद्धार्थकादर्शक ९
स्पर्शनादीनि, तथा दुःस्वप्नादिप्रतिघातकानि प्रायश्चित्तानि येन स कृतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्तः, तथा कल्पितमालो
मालाप्रधानो मुकुटश्च २ स तथा विद्यते यस्य स भवति कल्पितमालामुकुटी, तथा प्रतिबद्धशरीरो–दृढशरीरो
कायो पुष्टेत्यर्थः; तथा–'वग्घारिय'त्ति प्रलम्बित श्रोणीसूत्र–कटिसूत्र मल्लदामकलापश्च यस्य स तथा, ततश्च
भवो शिरस्नातः नानाविधविलेपनावलिप्तश्च कण्ठेकृतमालस्तथाऽपरपयोक्तभूषणभूषितः सन्महत्याम्–उच्चायां
'महालियाग'त्ति–विस्तीर्णायां कूटागारशालायां, तथा–'महतिमहालये'–विस्तीर्णे 'सिंहासने'–भद्रासने १०
समुपविष्टः 'स्त्रीगुल्मेन'–युवतिजनेन सार्द्धमपरपरिवारेण 'संपरिवृतो'–वेष्टितः, तथा'महता'–बृहत्तरेण प्रहत
नाट्यगीतवादित्रतन्त्र्यादिरवेणोदारान् भोगभोगान् भुञ्जानो 'विहरति'–प्रविचरति–विजृम्भतीत्यर्थः ।
तस्य च क्वचित्प्रयोजने समुत्पन्ने सति एकमपि पुरुषमाज्ञापयतो यावच्चत्वारः पञ्च वा पुरुषा अनुक्ता एव समुप
तिष्ठन्ते, ते च किं कुर्वाणाः ?, एवद्वक्ष्यमाणमूचुः, तद्यथा–भण—आज्ञापय स्वामिन् ! धन्या वय येन भवता

ऽप्येवमादिश्यन्ते, किं कुर्म इत्यादि सुगमं, यावद्धृदयेप्सितमिति, तथा-किं च 'ते'-युष्माकम् 'आस्यकस्य'-
मुखस्य 'स्वदते'-स्वादु प्रतिभाति ?, यदिवा यदेवास्य-भवदीयास्यस्य स्रवति—निर्गच्छति तदेव वयं कुर्म-
इति । तथा-'तमेवे'त्यादि, तमेव राजानं तथा क्रीडमानं दृष्ट्वा अन्येऽनार्या एवं वदन्ति, तद्यथा—देवः खल्वयं
पुरुषः, तथा-'देवस्नातको'-देवश्रेष्ठो बहूनामुपजीव्यः, तथा तमेवं साम्प्रतेक्षितयाऽसदनुष्ठायिनं दृष्ट्वा 'आर्याः'-
विवेकिनः सदाचारवन्त एवं ब्रुवते, तद्यथा—अभिक्रान्तक्रूरकर्मा खल्वयं पुरुषो, हिंसादिक्रियाप्रवृत्त इत्यर्थः;
तथा-धूयते—रेणुवद्वायुना संसारचक्रवाले भ्राम्यते येन तद्धूतं-कर्म, औणादिको नक्प्रत्ययः, अतीव—प्रभूतं ९
धूतम्-अष्टप्रकारं कर्म यस्य सोऽतिधूतः, तथाऽतीवात्मनः पापैः कर्मभिः रक्षा यस्य सोऽत्यात्मरक्षः, तथा-
दक्षिणस्यां दिशि गमनशीलो दक्षिणगामुकः, इदमुक्तं भवति-यो हि क्रूरकर्मकारी साधुनिन्दापरायणस्तद्दाननिषे-
धकः स दक्षिणगामुको भवति-दाक्षिणात्येषु नरकतिर्यग्मनुष्यामरेषु उत्पद्यते, तादृग्भूतश्चायमतो दक्षिणगामुक
इत्युक्तं, इदमेवाह-'नेरइए'-इत्यादि, नरकेषु भवो नारकः, कृष्णः पक्षोऽस्यास्तीति कृष्णपाक्षिकः, तथा-आगा-
मिनि काले नरकादुद्वृत्तो दुर्लभबोधिकश्चायं बाहुल्येन भविष्यति, इदमुक्तं भवति—दिक्षु मध्ये दक्षिणा दिग्
अशस्ता, गतिषु नरकगतिः, पक्षयोः कृष्णपक्षः, तदस्य विषयान्धस्येन्द्रियानुकूलवर्तिनः परलोकनिस्पृहमतेः
साधुप्रद्वेषिणो दानान्तरायविधायिनो दिगादिकमशस्तं दर्शितम्, अन्यदपि यदशस्तं तिर्यग्गत्यादिकमबोधिलाभा- १०
दिकं च तद्योजनीयमस्येति । एतद्विपरीतस्य तु तथा-विषयनिःस्पृहस्य, इन्द्रियाननुकूलस्य, परलोकभीरोः, साधु-

प्रज्ञापत । सदनुष्ठानरतस्यादधिणगाधुकत्य, सुदत्त्स, शुक्लपाक्षिकत्व; तथा सुमानुपत्वायातस्य सुलभबोधित्वमि त्ययमादिकं सद्धर्मानुष्ठायिन सर्वं भवतीति । साम्प्रतमुपसञ्जिघृक्षुराह–इत्यतस्य पूर्वोक्तस्य स्थानस्य ऐश्वर्यलक्षण स्य शृङ्गारभूतस्य सांसारिकस्य परित्यागबुद्ध्या एके केचन विपर्यस्तमतयः पापण्डिकोत्थानेनोत्थिताः परमार्थम जानाना 'अभिगिज्झन्ति'त्ति–आभिमुख्येन 'लुभ्यन्ते'–लोभवशगा भवन्तीत्यर्थः । तथा–एके केचन साम्प्रते धिगस्तत्सात्स्थानादनुपस्थिता गृहस्था एव सन्तः 'अभिझञ्झ'त्ति–झञ्झा—तृष्णा तदातुराः सन्तोऽत्यन्तस्यर्थं लुभ्यन्ते, यत एवमतोऽद्ः स्थानमनार्यानुष्ठानपरत्वादनार्यं महापुरुषानुचीर्णं न भवति, तथा न विद्यते केवलम स्मिन्नित्यकवलम्–अशुद्धमित्यर्थ , तथेतरपुरुषाचीर्णत्वादपरिपूर्णं सद्गुणविरहात्तुच्छमित्यर्थः, तथा न्यायेन चरति नैयायिक न नैयायिकमनैयायिकम्–अन्यायवृत्तिकमित्यर्थः, तथा–'रगे लगे संवरणे' शोभन लगनं–संवरण इन्द्रियसंवररूप संलगस्तदभावः संलगस्त न विद्यते, संलगत्वमस्मिन्नित्यसंलगत्वम् इन्द्रियासंवरमरूपमित्यर्थः; यदि वा प्रत्यवच्छस्य–मायानुष्ठानमकार्यं तद्गायति–कथयतीति, तच्छलमग यत्परिज्ञानं तद्भावेत्यसस्यगत्वमिति, तथा न विद्यते सिद्धः–मोक्षस्य विशिष्टस्थानोपलक्षितस्य मार्गो यस्मिंस्तदसिद्धिमार्गं, तथा न विद्यते मुक्तेः– मदेशकर्मप्रच्युतिलक्षणाया मार्गं –सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको यस्मिंस्तदमुक्तिमार्गं, तथा न विद्यते परिनिर्वृतेः– परिनिर्वाणस्यात्मस्वास्थ्यापत्तिरूपस्य मार्गः–पन्था यस्मिन् स्थाने तदपरिनिर्वाणमार्गं, तथा न विद्यते सर्व दु:खानां–शारीरमानसानां प्रक्षयमार्गः सदुपदेशात्मको यस्मिंस्तदसर्वदुःखप्रक्षीणमार्गं, एत एवंभूत तत्स्थान

मित्यशङ्कयाह—'एगंते'त्यादि, एकान्तेनैव तत्स्थानं यतो मिथ्याभूतं—मिथ्यात्वोपहतबुद्धीनां यतस्तद्भवत्यत एवासाधु असद्वृत्तत्वात्, न ह्ययं सत्पुरुषसेवितः पन्था येन विषयान्धाः प्रवर्तन्त इति। तदयं प्रथमस्य स्थानस्याधर्मपाक्षिकस्य पापोपादानभूतस्य विभङ्गो—विभागो विशेषः स्वरूपमितियावत् ॥ ५७ ॥

साम्प्रतं द्वितीयं धर्मोपादानभूतं पक्षमाश्रित्याह—

अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ, इह खलु पाईणं वा, पडीणं वा, उदीणं वा; दाहिणं वा, संतेगइया मणुस्सा भवंति; तंजहा–आयरिया वेगे, अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे, णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे, हस्समंता वेगे, सुवन्ना वेगे, दुवन्ना वेगे, सुरूवा वेगे, दुरूवा वेगे; तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिग्गहियाइं भवंति, एसो आलावगो जहा पोंडरीए तहा णेतव्वो, तेणेव अभिलावेण जाव सव्वोवसंता सव्वत्ताए परिनिव्वुडेत्तिवेमि। एस ठाणे आरिए केवले जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे साहु, दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥ सूत्रम्–३३ ॥

'अथे'त्यधर्मपाक्षिकस्थानादनन्तरमयमपरो द्वितीयस्य स्थानस्य 'धर्मपाक्षिकस्य'—पुण्योपादानभूतस्य 'विभङ्गो'–विभागः स्वरूपं समाधीयते—सम्यगाख्यायते, तद्यथा–प्राचीनं प्रतीचीनमुदीचीनं दक्षिणं वा दिग्विभागमाश्रित्य 'सन्ति'–विद्यन्ते, एके–केचन–कल्याणपरम्पराभाजः, 'पुरुषा'–मनुष्याः, ते च वक्ष्यमाणस्व-

भाषा भवन्ति, 'सव्वे'स्ययमुपप्रदर्शनार्थ , आर्या एके केचनार्यदेशोत्पन्नाः, तथाऽनार्याः-शकयवनशबरबर्बरादय इत्यादय, यथा पौण्डरीकाध्ययने तथेहापि सर्वं निरवयव भणितव्यम्; यावत्ते 'एव'-पूर्वोक्तेन प्रकारेण सर्वेभ्य पापस्थानेभ्य उपशान्ताः, तथा अत एव सर्वासमतया परिनिर्वृता इत्यहमेवं ब्रवीमि। तदेवमेतत्स्थान 'कैवल्यिक'-प्रतिपूर्णं नैयायिकमित्यादि प्राग्वद्विपर्ययेण नेय यावद्द्वितीयस्य स्थानस्य धार्मिकस्येव 'विभङ्गो'-विभागः स्वरूपमाख्यातमिति। साम्प्रत धर्माधर्मयुक्तं तृतीय स्थानमाभित्याह—

अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभगे एवमाहिज्जइ, जे इमे भवति आरण्णिया आवसहिया, गामणियंतिया, कण्हुईरहस्सिता जाव ते तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमूत्ताए पच्चायति, एसठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू, एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभगे एवमाहिए ॥ सूत्रम्-३४ ॥

अथापरस्तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकाख्यस्य 'विभङ्गो'-विभागः स्वरूपमाख्यायते। अत्र चाधर्मपक्षेण युक्तो धर्मपक्षो मिश्र इत्युच्यते, तत्राधर्मस्येह भूयिष्ठत्वादधर्मपक्ष एवाय द्रष्टव्यः, एतदुक्त भवति-यद्यपि मिथ्यादृष्टयः काञ्चित्तथाप्रकारां प्राणातिपातादिनिवृत्तिं विदधति, तथाप्याशयाशुद्धत्वादभिनवे पित्तोदये सति शर्करामिश्रक्षीरपानवदूषरप्रदेशवृष्टिवद्विषमिश्रितान्नवत्स्वाभिरर्थकत्वामापद्यते; ततो मिथ्यात्वानुभावात् मिश्र पक्षोऽप्यधर्म एवावगन्तव्य इति। एतदेव दर्शयितुमाह-'जे इमे भवती'त्यादि, ये इमेऽनन्तरमुच्यमाना अरण्ये

चरन्तीत्यारण्यिकाः-कन्दमूलफलाशिनस्तापसादयो ये चावसथिकाः--आवसथो-गृहं तेन चरन्तीत्यावसथिकाः-गृहिणः, ते च कुतश्चित् पापस्थानान्निवृत्ता अपि प्रबलमिथ्यात्वोपहतबुद्धयः, ते यद्यप्युपवासादिना महता कायक्लेशेन देवगतयः केचन भवन्ति, तथापि ते आसुरीयेषु स्थानेषु किल्बिषिकेषूत्पद्यन्त इत्यादि सर्वं पूर्वोक्तं भणनीयं; यावत्ततश्च्युता मनुष्यभवं प्रत्यायता एलमूकत्वेन तमोऽन्धतया जायन्ते । तदेवमेतत्स्थानमनार्यमकेवलम्-असंपूर्णमनैयायिकमित्यादि यावदेकान्तमिथ्याभूतं सर्वथैतदसाध्विति, तृतीयस्थानस्य मिश्रकस्यायं 'विभङ्गो'-विभागः स्वरूपमाख्यातमिति । उक्तान्यधर्मधर्ममिश्रस्थानानि, साम्प्रतं तदाश्रिताः स्थानिनोऽभिधीयन्ते, यदिवा प्राक्तनमेवान्येन प्रकारेण विशेषिततरमुच्यते-तत्राद्यमधार्मिकस्थानकमाश्रित्याह--- ५

अहावरे पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ-इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति-गिहत्था, महिच्छा, महारंभा, महापरिग्गहा, अधम्मिया, अधम्माणुया(ण्णा), अधम्मिट्ठा, अधम्मक्खाई, अधम्मपायजीविणो, अधम्मप(वि)लोई, अधम्मपलज्जणा, अधम्मसीलसमुदायारा; अधम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । हण, छिंद, भिंद, विगत्तगा, लोहियपाणी; चंडा, रुद्दा, खुद्दा, साहस्सिया, उक्कुंचणवंचणमायाणियडिकूडक- १०
वडसाइसंपओगबहुला, दुस्सीला, दुव्वया, दुप्पडियाणंदा; असाहू सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए जाव सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ

कोहाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ अप्पडिविरया, सव्वाओ ण्हाणुम्मद्दणवण्णगगंधविलेवणसद्दफरिसरसरूवगंधमल्लालंकाराओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ सगडरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसीयासंदमाणियासयणासणजाणवाहणभोगभोयणपवित्थरविहीओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ कयविक्कयमासद्धमासरूवगसंववहाराओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ हिरण्णसुवण्णधणधण्णमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कूडतुलकूडमाणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ आरंभसमारंभाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ करणकारावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ पयणपयावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कुट्टणपिट्टणतज्जणताडणवहबंधपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, जे यावण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा जे अणारिएहिं कज्जंति, तओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, से जहाणामए केइ पुरिसे कलममसूरतिलमुग्गमासनिप्फावकुलत्थआलिसंदगपलिमंथगमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजति, एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए तित्तिरवट्टगलावगकवोतकविंजलमियमहिसवराहगाहगोहकुम्मसिरिसिवमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजति, जावि य से बाहिरिया परिसा भवइ, तंजहा–दासे इ वा, पेसे इ वा, भयए इ वा, भाइल्ले इ वा, कम्म

करए इ वा, भोणपुरिसे इ वा, तेसिंपि य णं अन्नयरंसि वा; अहालहुगंसि अवराहंसि सय-
मेव गरुयं दंडं निवत्तेइ, तंजहा-इमं दंडेह, इमं मुंडेह, इमं तज्जेह, इमं तालेह, इमं अदुयबंधणं
करेह, इमं नियलबंधणं करेह, इमं हड्डिबंधणं करेह, इमं चारगबंधणं करेह, इमं नियलजुयल-
संकोधियमोडियं करेह, इमं हत्थछिन्नयं करेह, इमं पायछिन्नयं करेह, इमं कन्नछिण्णयं करेह,
इमं नक्कओट्ठसीसमुहछिन्नयं करेह, वेयगच्छहियं अंगछहियं पक्खाफोडियं करेह, इमं णय-
णुप्पाडियं करेह, इमं दंसणुप्पाडियं वसणुप्पाडियं जिब्भुप्पाडियं ओलंबियं करेह, घसियं करेह,
घोलियं करेह, सूलाइयं करेह, सूलाभिन्नयं करेह, खारवत्तियं करेह, वज्झवत्तियं करेह, सीहपुच्छि-
यगं करेह, वसभपुच्छियगं करेह, दवग्गिदड्ढयंगं कागणिमंसखावियंगं भत्तपाणनिरुद्धगं इमं
जावज्जीवं वहबंधणं करेह; इमं अन्नयरेणं असुभेणं कुमारेणं मारेह। जावि य से अब्भिंतरिया
परिसा भवइ, तंजहा-माया इ वा, पिया इ वा, भाया इ वा, भाया इ वा, भगिणी इ वा, भज्जा इ
वा, पुत्ता इ वा, धूता इ वा, सुण्हा इ वा; तेसिंपि य णं अन्नयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि
सयमेव गरुयं दंडं णिवत्तेइ, सीओदगवियडंसि उच्छोलित्ता भवइ जहा मित्तदोसवत्तिए जाव
अहिए परंसि लोगंसि, ते दुक्खंति, सोयंति, जूरंति, तिप्पंति, पिट्टंति; परितप्पंति ते दुक्खणसो-
यणजूरणतिप्पणपिट्टणपरितप्पणवहबंधणपरिकिलेसाओ अपडिविरया भवंति। एवमेव ते

इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्तु भोगभोगाइं पसवित्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता बहूइं पावाइं कम्माइं उस्सन्नाइं संभारकडेण कम्मुणा से जहाणामए अयगोलेइ वा, सेलगोलेइ वा, उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवइ; एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाते वज्जबहुले, धूतबहुले, पंकबहुले, वेरबहुले, अप्पत्तियबहुले, दंभबहुले, णियडिबहुले, साइबहुले, अयसबहुले; उस्सन्नतसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा, धरणितलमइवइत्ता अहे णरगतलपइट्ठाणे भवइ ॥ सूत्रम्-३५ ॥

अथापरोऽन्यः प्रथमस्य स्थानस्याधर्मपाक्षिकस्य 'विभङ्गो'-स्वरूपं व्याख्यायते-'इह खलु'-इत्यादि, सुगमं यावत् मनुष्या एव समाना भवन्तीति । एते च प्रायो गृहस्था एव भवन्तीत्याह-'महेच्छा'-इत्यादि, महती-राज्यविभवपरिवारादिका सर्वातिशायिनी इच्छा-अन्तःकरणप्रवृत्तिर्येषां ते महेच्छाः; तथा-महानारम्भो-धावनोत्प्लवनहलकुशलयन्त्रीप्रवाहकृषिवाणिज्यपोपमादिको येषां ते महारम्भाः, ये चैवंभूतास्ते महापरिग्रहाः-धनधान्यद्विपदचतुष्पदवास्तुक्षेत्रादिपरिग्रहवन्तः कश्चिदप्यनिश्रयाः; अत एवाधर्मेण चरन्तीत्याधर्मिकाः, तथा-अधर्मिष्ठा निर्विशेषकर्मकारित्वादधर्मबहुलाः, तथाधर्मे कर्तव्ये अनुज्ञा-अनुमोदनं येषां ते अधर्मानुज्ञाः, एवमधर्मम् माख्यातुं शीलं येषां ते तथा, एवमधर्मप्रायजीविनः, तथा अधर्ममेव प्रविलोकयितुं शीलं येषां ते अधर्मप्रविलोकिनः, तथा-

अधर्मप्रायेषु कर्मसु प्रकर्षेण रज्यन्त, इति अधर्मप्ररक्ताः, रलयोरैक्यमिति रस्य स्थाने लकारोऽत्र कृत इति, तथाऽधर्मशीला
अधर्मस्वभावाः तथाऽधर्मात्मकः समुदाचारो—यत्किञ्चनानुष्ठानं येषां ते भवन्त्यधर्मशीलसमुदाचाराः, तथाऽधर्मेण—
पापेन सावद्यानुष्ठानेनैव दहनाङ्कननिर्लाञ्छनादिकेन कर्मणा वृत्तिः—वर्तनं 'कल्पयन्तः'—कुर्वाणा 'विहरन्ती'ति—
कालमतिवाहयन्ति । पापानुष्ठानमेव लेशतो दर्शयितुमाह—'हण—छिन्द—भिन्दे'त्यादि, स्वत एव हननादिकाः
क्रियाः कुर्वाणा अपरेषामप्येवमात्मकमुपदेशं ददति, तत्र हननं दण्डादिभिस्तत्कारयन्ति, तथा—छिन्द्धि कर्णादिकं,
भिन्द्धि शूलादिना, विकर्तकाः—प्राणिनामजिनापनेतारः, अत एव लोहितपाणयः; तथा चण्डा—रौद्र—निस्त्रिंशाः,
क्षुद्राः—क्षुद्रकर्मकारित्वात्, तथा 'साहसिका'—असमीक्षितकारिणः, तथा उत्कुञ्चनवञ्चनमायानिकृतिकूटकपटा-
दिभिः सहातिसंप्रयोगो—गार्ध्यं तेन बहुलाः—तत्प्रचुरास्ते तथा, तत्रोर्ध्वं कुञ्चनं—शूलाद्यारोपणार्थमुत्कुञ्चनं
वञ्चनं—प्रतारणं तद्, यथा अभयकुमारः प्रद्योतगणिकाभिर्धार्मिकवञ्चनया वञ्चितः माया—वञ्चनबुद्धिः प्रायो
वणिजामिव निकृतिस्तु बकवृत्त्या कुकुटादिकरणेन दम्भप्रधानवणिक्श्रोत्रियसाध्वाकारेण परवञ्चनार्थं गलकर्तका-
नामिवावस्थानं, देशभाषानेपथ्यादिविपर्ययकरणं कपटं, यथा—आषाढभूतिना—नटेनापरापरवेषपरावृत्त्याऽऽचा-
र्योपाध्यायसंघाटकात्मार्थं चत्वारो मोदका अवाप्ताः, कूटं तु—कार्षापणतुलाप्रस्थादेः परवञ्चनार्थं न्यूनाधिककरणम्,
एतैरुत्कुञ्चनादिभिः सहातिशयेन संप्रयोगो यदिवा—सातिशयेन द्रव्येण—कस्तूरिकादिनाऽपरस्य द्रव्यस्य संप्रयोगः
सातिसंप्रयोगस्तद्बहुलाः—तत्प्रधाना इत्यर्थः, उक्तं च—"सो होइ सातिजोगो दव्वं जं छादियण्णदव्वेसु । दोसगुणा

१ स भवति सातियोगो द्रव्य यच्छादयित्वाऽन्यद्रव्यै दोषगुणांश्च वचनैरर्थसवादन करोति ॥ १ ॥

कार्येषु च अत्यर्थसंतापनं कुरु ॥ १ ॥" एते चोत्कञ्चनादयो मायापर्याया इन्द्रजालादिवत् कथञ्चित्क्रियामेदेऽपि द्रष्टव्याः । तथा दुष्टं शीलं येषां ते दुःशीलाः-चिरसुपचरिता अपि क्षिप्रं विसंवदन्ति, दुःखानुमेया दारुणस्वभावा इत्यर्थः, तथा दुष्टानि व्रतानि येषां ते तथा यथा मांसभक्षणव्रतकालसमाप्तौ प्रभूततरसत्त्वोपघातेन मांसप्रदानम्, अन्यदपि नक्तभोजनादिकं तेषां दुष्टव्रतमिति, तथाऽन्यस्मिन् जन्मान्तरे मधुमद्यमांसादिकमप्यहं करिष्यामीत्येवमज्ञाना वा जन्मान्तरविचिकित्सया सनिदानमेव व्रतं गृह्णन्ति, तथा दुःखेन प्रत्यानन्द्यन्ते दुष्प्रत्यानन्द्याः, इदमुक्तं भवति-चौरादिर्येनापरेण केनचित्प्रत्युपकारेणामुना गर्वाध्माता दुःखेन प्रत्यानन्द्यन्ते, यदिवा स्वल्पेऽप्युपकारे प्रत्युपकारभीरवो नैवानन्द्यन्ते प्रत्युत शठतयोपकारे दोषमेवोत्पादयन्ति, तथा चोक्तम्—

"प्रविश्यर्द्धमशक्तिष्ठा, नराः पूर्वोपकारिणाम् । दोषमुत्पाद्य गच्छन्ति, मद्गूनामिव वायसाः ॥ १ ॥"

यत एवमतोऽसाधवस्ते पापकर्मकारित्वात्, तथा-'यावज्जीवं'-यावत्प्राणधारणेन सर्वस्मात्प्राणातिपाताद् प्रतिविरता लोकनिन्दनीयादपि ब्राह्मणघातादेरविरता इति सर्वग्रहण, एवं सर्वस्मादपि कूटसाक्ष्यादेरप्रतिविरता इति, तथा सर्वस्मात् स्तैन्याद्वेः परद्रव्यापहरणादविरताः, तथा सर्वस्मात्परस्त्रीगमनादेर्मैथुनादविरता, एवं सर्वस्मात्परिग्रहाद्योनिपोषकादप्यविरताः, एवं सर्वेभ्यः क्रोधमानमायालोभेभ्योऽविरताः, तथा-प्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यानपैशुन्यपरपरिवादारतिरतिमायामृषावादमिथ्यादर्शनशल्यादिभ्योऽसदनुष्ठानेभ्यो यावज्जीवं येऽप्रतिविरता भवन्तीति । तथा-सर्वस्मात्स्नानोन्मर्दनवर्णकविलेपनशब्दस्पर्शरूपरसगन्धमाल्यालङ्कारात्कामाङ्गान्मोदनिवाद

प्रतिविरता यावज्जीवयेति, इह च वर्णकग्रहणेन वर्णविशेषापादकं लोध्रादिकं गृह्यते, तथा सर्वतः शकटरथादेर्यानवि-
शेपादिकात् प्रतिविस्तरविधेः परिकररूपात परिग्रहादप्रतिविरताः, इह च शकटरथादिकमेव यानं शकटरथयानं,
युग्यं–पुरुषोत्क्षिप्तमाकाशयानं, 'गिल्लि'त्ति–पुरुषद्वयोत्क्षिप्ता झोल्लिका, 'थिल्लि'त्ति–वेगसराद्वयविनिर्मितो यानवि-
शेषः, तथा–'संदमाणिय'त्ति–शिबिकाविशेष एव, तदेवमन्यस्मादपि वस्त्रादेः परिग्रहादुपकरणभूतादविरताः,
तथा सर्वतः—सर्वस्मात् क्रयविक्रयाभ्यां करणभूताभ्यां यो माषकार्धमाषकरूपकार्षापणादिभिः पण्यविनिमयात्मकः
संव्यवहारस्तस्मादविरता यावज्जीवयेति, तथा सर्वस्माद्धिरण्यसुवर्णादेः प्रधानपरिग्रहादविरताः, तथा कूटतुलकूटमा-
नादेरविरताः, तथा सर्वतः कृषिपाशुपाल्यादेर्यत्स्वतः करणमन्येन च यत्किञ्चित्कारयति तस्मादविरताः, तथा ९
पचनापाचनतः तथा कण्डनकुट्टनपिट्टनतर्जनताडनवधबन्धादिना यः परिक्लेशः, प्राणिनां तस्मादविरताः, साम्प्र-
तमुपसंहरति–ये चान्ये तथाप्रकाराः परपीडाकारिणः सावद्याः कर्मसमारम्भा अबोधिकाः–बोध्यभावकारिणः, तथा
परप्राणपरितापनकरा–गोग्राहबन्दिग्रहग्रामघातात्मका येऽनार्यैः क्रूरकर्मभिः क्रियन्ते ततोऽप्रतिविरता यावज्जीवयेति।
पुनरन्यथा बहुप्रकारमधार्मिकपदं प्रतिपिपादयिषुराह–'तद्यथे'त्युपप्रदर्शनार्थो नामशब्दः संभावनायां, संभाव्यते
अस्मिन्विचित्रे संसारे केचनैवंभूताः पुरुषाः ये कलममसूरतिलमुद्गादिषु पचनपाचनादिकया क्रियया स्वपरार्थमयता– १०
अप्रयत्नवन्तो निष्कृपाः क्रूरा मिथ्यादण्डं प्रयुञ्जन्ति, मिथ्यैव–अनपराधिष्वेव दोषमारोप्य दण्डो मिथ्यादण्डस्तं विद-
धति, तथैवमेव–प्रयोजनं विनैव तथाप्रकाराः पुरुषा निष्करुणा जीवोपघातनिरतास्तित्तिरवर्तकलावकादिषु जीवन-

प्रियेषु प्राणिष्वपवाः क्रूरकर्माणो मिथ्यादण्डं प्रयुञ्जन्ति। तेषां च क्रूरधियां "यथा राजा तथा प्रजा" इति प्रवादात् परिवारोऽपि तथाभूत एव भवतीति तं दर्शयितुमाह–'दासे य से' इत्यादि, याऽपि च तेषां बाह्या पर्षद्भवति, तद्यथा–'दास'–स्वदासीसुतः, 'प्रेष्यः'–प्रेषणयोग्यो मृत्यवेष्यो, 'भृतको'–वेतनेनोदकाद्यानयनविधायी, तथा–'भागिको'यः षष्ठांशादिलाभेन कृष्यादौ व्याप्रियते, 'कर्मकरः'–प्रतीतः, तथा नायकाश्रितः कश्चिद्भोगपरः, तदेव ते दासादयोऽन्यतमे लघावप्यपराधे गुरुतरं दण्डं प्रयुञ्जन्ति प्रयोजयन्ति च। स च नायकस्तेषां दासादीनां बाह्यपर्षद्भूतानामन्यतरस्मिंस्तथा लघावप्यपराधे–अवज्ञाभयणादिके गुरुतरं दण्डं वर्त्तमान प्रयुङ्क्ते, तद्यथा–इमं दासं प्रेष्यादिकं वा सर्वस्वापहारेण दण्डयत यूयमित्यादि सुप्रसिद्धं पामद्दिममन्यतरेणाशुभेन हस्तिस्वमारेण व्यापादयत यूयम्। याऽपि च क्रूरकर्मणामभ्यन्तरा पर्षद्भवति, तद्यथा–मातापित्रादिका, मित्रदोषप्रत्ययिकक्रियास्थानवद् नय पापदग्धोऽयमस्मिन् लोके इति, तथाहि आत्मनोऽपथ्यकारी परस्मिन्नपि लोके, तदेवं ते मातापित्रादीनां स्वल्पापराधिनामपि गुरुतरदण्डापादनतो दुःखमुत्पादयन्ति, तथा नानाविधैरुपायैस्तेषां शोकमुत्पादयन्ति–शोकपन्तीत्येव ते प्राणिनां बहुप्रकारपीडोत्पादकाः यावद्वधबन्धपरिक्लेशादप्रतिविरता भवन्ति। ते च विषयासक्ततया यत्कुर्वन्तीत्येतद्दर्शयितुमाह–एवमेव पूर्वोक्तस्वभावा एव ते निष्कृपा निरनुक्रोशा बाह्याभ्यन्तरपर्षदोऽपि कर्णनासाविकर्तनादिना दण्डपातनस्वभावाः स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामा यदि वा स्त्रीषु–मदनकामविषयभूतासु कामेषु च–शब्दादिषु इच्छाकामेषु मूर्च्छिता गृद्धा ग्रथिता अभ्युपपन्नाः, एते च शक्रपुरन्दरादि

वत्पर्यायाः कथञ्चिद्भेदं वाऽऽश्रित्य व्याख्येयाः, ते च भोगासक्ता व्यपगतपरलोकाध्यवसाया यावद्वर्षाणि चतुः-पञ्च षट् सप्त वा दश वाऽल्पतरं वा कालं प्रभूततरं वा कालं भुक्त्वा भोगभोगान् इन्द्रियानुकूलान् मधुमद्यमांस-परदारासेवनरूपान् भोगासक्ततया च परपीडोत्पादनतो 'वैरायतनानि'–वैरानुबन्धान् अनुप्रसूय—उत्पाद्य विधाय, तथा 'संचयित्वा'–संचिन्त्योपचित्य, 'बहूनि'–प्रभूततरकालस्थितिकानि, 'क्रूराणि'–क्रूरविपाकानि नरकादिषु यातनास्थानेषु क्रकचपाटनशाल्मल्यवरोहणतप्तत्रपुपानात्मकानि कर्माण्यष्टप्रकाराणि बद्धस्पृष्टनिधत्त-निकाचनावस्थानि विधाय तेन च संभारकृतेन कर्मणा प्रेर्यमाणास्तत्कर्मगुरवो वा नरकतलप्रतिष्ठाना भवन्ती-त्युत्तरक्रिययाऽऽपादितबहुवचनरूपयेति संबन्धः। अस्मिन्नेवार्थे सर्वलोकप्रतीतं दृष्टान्तमाह–'से जहा णामए' इत्यादि, तद्यथा नामायोगोलकः–अयस्पिण्डः 'शिलागोलको'–वृत्ताश्मशकलं वोदके प्रक्षिप्तः समानः सलिल-तलमतिवर्त्य–अतिलङ्घ्याधो धरणीतलप्रतिष्ठानो भवति। अधुना दार्ष्टान्तिकमाह–'एवमेव'इत्यादि, यथाऽसावयोगोलको वृत्तत्वाच्छीघ्रमेवाधो यात्येवमेव तथाप्रकारः पुरुषजातः, तमेव लेशतो दर्शयति—वज्रवद्वज्रं गुरुत्वात्कर्म तद्बहुलः–तत्प्रचुरो बध्यमानककर्मगुरुरित्यर्थः तथा धूयत इति धूतं–प्राग्बद्धं कर्म तत्प्रचुरः, पुनः सामान्ये-नाह—पङ्कयतीति पङ्कं–पापं तद्बहुलः, तथा तदेव कारणतो दर्शयितुमाह–'वैरबहुलो'–वैरानुबन्धप्रचुरः, तथा 'अपत्तियं'ति मनसो दुष्प्रणिधानं तत्प्रधानः, तथा दम्भो–मायया परवञ्चनं तदुत्कटः, तथा निकृतिः–माया वेषभाषापरावृत्तिच्छद्मना परद्रोहबुद्धिस्तन्मयः, तथा 'सातिबहुल' इति सातिशयेन द्रव्येणापरस्य हीनगुणस्य

द्रव्यस्य संयोगः भाविरतप्रचुरः—तत्करणप्रचुरः, तथा अयशः—अश्लाघा असद्भूततया निन्दा, यानि यानि पराप कारभूतानि कर्मानुष्ठानानि विषये तेषु तेषु कर्मसु करचरणच्छेदनादिषु अयशोभागभवतीति, स एवंभूतः पुरुषः 'कालमासे'—स्वायुषः क्षये कालं कृत्वा पृथिव्याः—रत्नप्रभादिकायास्तलम् 'अतिवर्त्य'—योजनसहस्रपरिमाण मतिलङ्घ्य नरकतलप्रतिष्ठानोऽसौ भवति । नरकस्वरूपनिरूपणायाह—

ते णं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया णिच्चंधकारतमसा ववगयगह चंदसूरनक्खत्तजोइसप्पहा मेदवसामंसरुहिरपूयपडलचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा कण्हा अगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा णरगा असुभा णरएसु वेयणाओ । णो चेव णरएसु नेरइया णिद्दायंति वा, पयलायंति वा, सुइं वा, रतिं वा, धितिं वा, मतिं वा उवलभंते; ते णं तत्थ उज्जलं विउलं पगाढं कडुयं कक्कसं चंडं दुक्खं दुग्गं तिव्वं दुरहियासं णेरइया वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति ॥ सूत्रम्–१६ ॥

णमिति वाक्यालङ्कारे, ते नरकाः सीमन्तकादिका बाहुल्यमङ्गीकृत्यान्तः—मध्ये वृत्ता बहिरपि चतुरस्रा अधश्च क्षुरप्रसंस्थानसंस्थिताः, एतच्च संस्थानं पुष्पावकीर्णानभिप्रेत्योक्तं, तेषामेव प्रचुरत्वात्, आवलिकाप्रविष्टास्तु वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रसंस्थाना एव भवन्ति, तथा नित्यमेवान्धतमसं येषु ते नित्यान्धतमसाः, क्वचित्पाठो नित्यान्धकारतमसा इति, मेघाच्छन्नामावास्यातलकृष्णपक्षरजनीवत् तमोबहुलाः, तथा व्यपगतो ग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्रज्योतिःपथो

येषां ते तथा। पुनरप्यनिष्टापादनार्थं तेषामेव विशेषणान्याह–' मेदवसा 'इत्यादि, दुष्कृतकर्मकारिणां ते नरकास्तद्दुःखोत्पादनायैवंभूता भवन्ति, तद्यथा–मेदवसामांसरुधिरपूयादीनां पटलानि–सङ्घास्तैर्लिप्तानि–पिच्छिलीकृतान्यनुलेपनतलानि–अनुलेपनप्रधानानि तलानि येषां ते तथा, अशुचयो विष्ठाऽसृक्क्लेदप्रधानत्वाद् अत एव विश्राः कुथितमांसादिकरपकर्दमावलिप्तत्वात्, एवं परमदुर्गन्धाः कुथितगोमायुकलेवरादपि असह्यगन्धाः, तथा कृष्णाग्निवर्णाभा रूपतः स्पर्शतस्तु कर्कशः–कठिनो वज्रकण्टकादप्यधिकतरः स्पर्शो येषां ते तथा, किं बहुना ?, अतीव दुःखेनाधिसह्यन्ते, किमिति ?, यतस्ते नरकाः पञ्चानामपीन्द्रियार्थानामशोभनत्वादशुभाः, तत्र च सत्त्वानामशुभकर्मकारिणामुग्रदण्डपातिनां च वज्रप्रचुराणां तीव्रा अतिदुःसहवेदनाः शारीराः प्रादुर्भवन्ति, तया च वेदनयाऽभिभूतास्तेषु नरकेषु ते नारका नैवाक्षिनिमेषमपि कालं निद्रायन्ते, नाप्युपविष्टाद्यवस्था अक्षिसंकोचनरूपामीषन्निद्रामवाप्नुवन्ति, न ह्येवंभूतवेदनाभिभूतस्य निद्रालाभो भवतीति दर्शयति, तामुज्ज्वलां तीव्रानुभावेनोत्कटामित्यादिविशेषणविशिष्टां यावद्वेदयन्ति–अनुभवन्तीति। अयं तावदयोगोलकपाषाणदृष्टान्तः शीघ्रमधोनिमज्जनार्थप्रतिपादकः प्रदर्शितः, अधुना शीघ्रपातार्थप्रतिपादकमेवापरं दृष्टान्तमधिकृत्याह—

से जहा णामए रुक्खे सिया पव्वयग्गे जाए मूले छिन्ने अग्गे गरुए जओ णिण्णं जओ विसमं जओ दुग्गं तओ पवडति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाए गब्भातो गब्भं, जम्मातो जम्मं, माराओ मारं, णरगाओ णरगं, दुक्खाओ दुक्खं; दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लभबो-

हिए यावि भवइ, एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥ सूत्रम्-३७ ॥

तद्यथा नाम कश्चिद्वृक्षः पर्वताग्रे जातो मूले छिन्नः शीघ्रं यथा निम्ने पतति, एवमसावप्यसाधुकर्मकारी तत्कर्मभारप्रेरितः शीघ्रमेव नरके पतति, ततोऽप्युद्धृत्तो गर्भाद्गर्भमवश्यं याति न तस्य किंचित्त्राणं भवति, यावदागामिन्यपि काले ऽसौ दुर्लभधर्मप्रतिपत्तिर्भवतीति । साम्प्रतमुपसंहरति—'एस ठाणे' इत्यादि, तदेतत्स्थानमनार्यं पापानुष्ठानपरत्वाद्यावदेकान्तमिथ्यारूपमसाधु । तदेवं प्रथमस्याधर्मपाक्षिकस्य स्थानस्य 'विभङ्गो'-विभागः स्वरूपमेवं व्याख्यातः ॥ ३७ ॥

अहावरे दोचस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ-इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तंजहा—अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा सुसाहू सव्वतो पाणातिवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए जाव जे यावन्ने तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जंति ततो विपडिविरता जावज्जीवाए । से जहा णामए अणगारा भगवंतो ईरियासमिया, भासासमिया, एसणासमिया, आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिया, उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिया; [मणसमिया, वयसमिया, कायसमिया; मणगुत्ता, वयगुत्ता, कायगुत्ता गुत्ता;

गुत्तिंदिया, गुत्तबंभयारी; अकोहा, अमाणा, अमाया, अलोभा; संता, पसंता, उवसंता, परिणिव्वुडा, अणासवा, अग्गंथा, छिन्नसोया, निरुवलेवा, कंसपाइ व मुक्कतोया, संखो इव णिरंजणा, जीव इव अपडिहयगती, गगणतलंपिव निरालंबणा, वाउरिव अपडिबद्धा, सारदसलिलं व सुद्धहियया, पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा, कुम्मो इव गुत्तिंदिया, विहग इव विप्पमुक्का, खग्गिविसाणं व एगजाया, भारंडपक्खीव अप्पमत्ता, कुंजरो इव सोंडीरा, वसभो इव जातत्थामा, सीहो इव दुद्धरिसा, मंदरो इव अप्पकंपा, सागरो इव गंभीरा, चंदो इव सोमलेसा, सूरो इव दित्ततेया, जच्चकंचणगं व जातरूवा, वसुंधरा इव सव्वफासविसहा; सुहुयहुयासणो विव तेयसा जलंता। णत्थि णं तेसिं भगवंताणं कत्थवि पडिबंधे भवइ, से पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते, तंजहा–अंडए इ वा, पोयए इ वा, उग्गहे इ वा, पग्गहे इ वा, जन्नं जन्नं दिसं इच्छंति तन्नं तन्नं दिसं अपडिबद्धा सुइभूया लहुभूया अप्पग्गंथा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति। तेसिं णं भगवंताणं इमा एतारूवा जायामायावित्ती होत्था, तंजहा–चउत्थे भत्ते, छट्ठे भत्ते, अट्ठमे भत्ते, दसमे भत्ते, दुबालसमे भत्ते, चउदसमे भत्ते, अद्धमासिए भत्ते, मसिए भत्ते; दोमासिए, तिमासिए, चाउम्मासिए, पंचमासिए, छम्मासिए, अदुत्तरं च णं उक्खित्तचरया, णिक्खित्तचरया, उक्खित्तणिक्खित्तचरगा, अंतचरगा, पंतचरगा, लूहचरगा, समुदाणचरगा, संसट्ठचरगा, असंसट्ठचरगा, तज्जातसंसट्ठचरगा; दिट्ठलाभिया, अदिट्ठलाभिया,

पुड्ढलाभिया, अपुड्ढलाभिया, भिक्खलाभिया, अभिक्खलाभिया; अन्नायचरगा, उवनिहिया, संखादत्तिया, परिमितपिंडवाइया, सुद्धेसणिया; अंताहारा, पंताहारा, अरसाहारा, विरसाहारा, लूहाहारा, तुच्छाहारा; अंतजीवी, पंतजीवी; आयंबिलिया, पुरिमड्ढिया निव्विगइया, अमज्जमंसासिणो, णो णियामरसभोई ठाणाइया पडिमाठाणाइया उक्कुडुआसणिया णेसज्जिया वीरासणिया दंडायतिया लगंडसाइणो अप्पाउडा अगत्तया अकंडुया अणिट्ठुहा] (एव जहोववाइए) धुतकेसमंसुरोमनहा सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्का चिट्ठति । ते णं एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणंति २, बहुबहु आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खन्ति, पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदिंति, अणसणाए छेदित्ता, जस्सट्ठाए कीरति नग्गभावे, मुंडभावे, अण्हाणभावे, अदंतवणगे, अछत्तए, अणोवाहणए; भूमिसेज्जा, फलगसेज्जा, कट्ठसेज्जा, केसलोए, बंभचेरवासे, परघरपवेसे, लद्धावलद्धे; माणावमाणणाओ, हीलणाओ, निंदणाओ, खिंसणाओ, गरहणाओ, तज्जणाओ, तालणाओ; उच्चावया गामकंटगा बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति तमट्ठं आराहंति, तमट्ठं आराहित्ता चरमेहिं उस्सासनिस्सासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघातं निरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवलवरणाणदंसणं समुप्पाडेंति, समुप्पाडित्ता ततो पच्छा सिज्झति, बुज्झति, मुच्चति, परिणिव्वायंति; सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति । एगच्चाए पुण एगे भयंतारो भवति,

अवरे पुण पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तंजहा—महड्ढिएसु, महज्जुतिएसु, महापरक्कमेसु, महाजसेसु, महाबलेसु, महाणुभावेसु, महासुक्खेसु; ते णं तत्थ देवा भवंति महड्ढिया, महज्जुतिया जाव महासुक्खा हारविराइयवच्छा कडगतुडियथंभियभुया अंगयकुंडलमट्ठगंडयलकन्नपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमाला-मउलिमउडा कल्लाणगंधपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबव-णमालधरा दिव्वेणं रूवेणं, दिव्वेणं वन्नेणं, दिव्वेणं गंधेणं, दिव्वेणं फासेणं, दिव्वेणं संघाएणं, दिव्वेणं संठाणेणं; दिव्वाए इड्ढीए, दिव्वाए जुत्तीए, दिव्वाए पभाए, दिव्वाए छायाए, दिव्वाए अच्चाए, दिव्वेणं तेएणं, दिव्वाए लेसाए; दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा गइकल्लाणा ठिइकल्लाणा आगमेसिभद्दया यावि भवंति, एस ठाणे आयरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे सुसाहू। दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए॥ सूत्रम्-३८॥

अथापरस्य द्वितीयस्य स्थानस्य 'विभङ्गो' विभागः-स्वरूपम्, 'एवं' वक्ष्यमाणनीत्या व्याख्यायते, तद्यथा-'इह खलु' इत्यादि, प्राच्यादिषु दिक्षु मध्येऽन्यतरस्यां दिशि 'सन्ति'-विद्यन्ते, ते चैवंभूता भवन्तीति, तद्यथा-न विद्यते सावद्य आरम्भो येषां ते तथा, तथा 'अपरिग्रहाः' निष्किञ्चनाः, धर्मेण चरन्तीति धार्मिका यावद्धर्मे-णैवात्मनो वृत्तिं परिकल्पयन्ति, तथा सुशीलाः सुव्रताः सुप्रत्यानन्दाः सुसाधवः सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरता

एव यावत्परिग्रहादिरता इति । तथा ये चान्ये तथाप्रकाराः सावद्या आरम्भा यावद्बोधिकारिणस्तेभ्यः सर्वेभ्यो अपि विरता इति । पुनरन्येन प्रकारेण साधुगुणान् दर्शयितुमाह—तद्यथा नाम केचनोपशसनलघुविपलोपेता अनगारा भगवन्तो भवन्तीति, ते पञ्चभिः समितिभिः समिताः 'एव'मित्युपप्रदर्शने औपपातिकमाचाराङ्ग सपंधि प्रथममुपाङ्ग तत्र साधुगुणाः महत्त्येन व्यावर्ण्यन्ते, तदिहापि तेनैव क्रमेण द्रष्टव्यमित्यतिदेशः यावत्सूत्रम्-भपनीतं केशश्मश्रुलोमनखादिक यैस्ते तथा, सर्वगात्रपरिकर्मविप्रमुक्ता निष्प्रतिकर्मशरीरास्तिष्ठन्तीति । ते चोग्र विहारिणः प्रव्रज्यापर्यायमनुपाल्य, अबाधारूपे रोगातङ्के समुत्पन्नेऽनुत्पन्ने वा भक्तप्रत्याख्यान विदधति, किं बहु नोक्तेन ? यत्कृतेऽयमयोगोलकवन्निरास्वादः करवालधारामार्गवद्दुरध्यवसायः श्रमणभावोऽनुपाल्यते तमर्थं—सम्य ग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यमाराध्य अव्याहतमेकमनन्त मोक्षकारण केवलज्ञानमाप्नुवन्ति, केवलज्ञानावाप्तेरूर्ध्वं सर्व दुःखविमोक्षलक्षण मोक्षमवाप्नुवन्तीति । एके पुनरेकयाऽर्चया—एकेन शरीरेणैकस्माद्वा भवात्सिद्धिगतिं गन्तारो भवन्ति, अपरे पुनस्तथाविधपूर्वकर्मावशेषे सति तत्कर्मवशगा काल कृत्वा मन्यतमेषु वैमानिकेषु देवेषूत्पद्यते सर्वेन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशलोकपालपार्षदात्मरक्षप्रकीर्णेषु नानाविधसमृद्धिषु भवन्तीति, न [ग्रन्था०१००००] स्वामियोग्यिककिल्बिषिकादिष्विति । एतदेवाह—'त जहा' इत्यादि, तद्यथा महर्द्धिकेषु देवलोकेषूत्पद्यन्ते । देवास्ते तमूता भवन्तीति दर्शयति—'ते ण तत्थ देवा' इत्यादि, ते देवा नानाविधवपुर्मनोज्ञशुभकर्माणो महर्द्ध्यादि गुणोपेता भवन्तीत्यादिकः सामान्यगुणवर्णकः, ततो हारविराजितवक्षस इत्यादिक आभरणवस्त्रपुष्पवर्णकः, पुनर

तिशयापादनार्थं दिव्यरूपादिप्रतिपादनं चिकीर्षुराह—'दिव्वेणं रूवेणं' इत्यादि, दिवि भवं दिव्यं तेन रूपेणोपपेता यावद्दिव्यया द्रव्यलेश्ययोपपेता दशापि दिशः समुद्योतयन्तः, तथा 'प्रभासयन्त'–अलंकुर्वन्तो 'गत्याः'–देवलोकरूपया कल्याणाः—शोभना गत्या वा–शीघ्ररूपया प्रशस्तविहायोगतिरूपया वा कल्याणाः, तथा स्थित्या उत्कृष्टमध्यमया कल्याणास्ते भवन्ति, तथाऽऽगामिनि काले भद्रकाः शोभनमनुष्यभवरूपसंपदुपपेताः, तथा सद्धर्मप्रतिपत्तारश्च भवन्तीति। तदेतत्स्थानमार्यमेकान्तेनैव सम्यग्भूतं सुसाध्वितीत्येतद्द्वितीयस्य स्थानस्य धर्मपाक्षिकस्य विभङ्ग एवमाख्यातः।

अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जए–इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति,—तंजहा अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति सुसीला सुव्वया सुपडियाणंदा साहू एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरता जावजीवाए एगच्चाओ अप्पडिविरया जाव जे यावण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरितावणकरा कज्जंति ततोवि एगच्चाओ अप्पडिविरया। से जहा णामए समणोवासगा भवंति अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरवेयणाणिज्जराकिरियाहिगरणबंधमोक्खकुसला असहेज्जदेवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिंनरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा इणमेव निग्गंथे

पावयणे णिस्संकिया, णिक्कंखिया, निव्वितिगिच्छा; लद्धट्ठा, गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, विणिच्छियट्ठा, अभिगयट्ठा; अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ता अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे; उस्सियफलिहा अवंगुयदुवारा अचियत्तंतेउरपरघरपवेसा चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पीठफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति। ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खायंति बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाएत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेन्ति बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेइत्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तंजहा— महड्ढिएसु महज्जुइएसु जाव महासुक्खेसु सेसं तहेव जाव एस ठाणे आयरिए जाव एगंतसम्मे साहू। तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवं आहिए। अविरइं पडुच्च बाले आहिज्जइ, विरइं पडुच्च पंडिए आहिज्जइ, विरयाविरइं पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ, तत्थ णं जा सा सव्वतो अविरई एस ठाणे आरंभट्ठाणे अणारिए जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू,

तत्थ णं जा सा सव्वतो विरई एस ठाणे अणारंभट्ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू, तत्थ णं जा सा सव्वओ विरयाविरई एस ठाणे आरंभणो आरंभट्ठाणे एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू ॥ सूत्रम्–३९ ॥

अथापरस्य तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकाख्यस्य विभङ्गः समाख्यायते—एतच्च यद्यपि मिश्रत्वाद्धर्माधर्माभ्या- मुपपेतं तथापि धर्मभूयिष्ठत्वाद्धार्मिकपक्ष एवावतरति, तद्यथा—बहुषु गुणेषु मध्यपतितो दोषो नात्मानं लभते, कलङ्क इव चन्द्रिकायाः, तथा बहूदकमध्यपतितो मृच्छकलावयवो नोदकं कलुषयितुमलम्, एवमधर्मोऽपि धर्ममिति स्थितं धार्मिकपक्ष एवायम् । 'इह'—अस्मिन् जगति प्राच्यादिषु दिक्षु एके केचन शुभकर्माणो मनुष्या भवन्तीति, तद्यथा—अल्पा—स्तोका परिग्रहारम्भेष्विच्छा—अन्तःकरणप्रवृत्तिर्येषां ते तथा एवंभूता धार्मिकवृत्तयः प्रायः सुशीलाः सुव्रताः सुप्रत्यानन्दाः साधवो भवन्तीति । तथैकस्मात्—स्थूलात्संकल्पकृतात् प्रतिनिवृत्ता एकस्माच्च सूक्ष्मादारम्भजादप्रतिनिवृत्ता एवं शेषाण्यपि व्रतानि संयोज्यानीति । एतस्मादपि सामान्येन निवृत्ता इत्यतिदिश- न्नाह—'जे यावण्णे' इत्यादि, ये चान्ये सावद्या नरकादिगमनहेतवः कर्मसमारम्भास्तेभ्य एकस्माद्यन्त्रपीडन- निर्लाञ्छनकृषीवलादेर्निवृत्ता एकस्माच्च क्रयविक्रयादेरनिवृत्ता इति । तांश्च विशेषतो दर्शयितुमाह—विशिष्टोपदे- शार्थं श्रमणानुपासते—सेवन्त इति श्रमणोपासकाः, ते च श्रमणोपासनतोऽभिगतजीवाजीवस्वभावाः तथोपलब्ध- पुण्यपापाः । इह च प्रायः सूत्रादर्शेषु नानाविधानि सूत्राणि दृश्यन्ते, न च टीकासंवाद्येकोऽप्यस्माभिरादर्शः

समुपलब्धोऽत्र एकमादर्शमङ्गीकृत्यास्माभिर्विवरणं क्रियत इत्येतदसमञ्जसं यत्र निर्सनाददर्शनाच्चित्तव्यामोहो न विधेय इति । ते भावकाः परिज्ञातबन्धमोक्षस्वरूपाः सन्तो न धर्मात्प्रच्याव्यन्ते येऽस्मिन् निष्प्रकम्पा इहमार्हते दर्शनेऽनुरक्ताः । अत्र चार्थे सुखप्रतिपत्त्यर्थं दृष्टान्तभूतं कथानकं, तच्चेद—यथा—राजगृहे नगरे कश्चिदेका परिमाट् विद्यामन्त्रोपचितम्पसामर्थ्यः परिवसति, स च विद्यादिबलेन पत्तने पर्यटन् यां यामभिरूपतरामङ्गनां पश्यति तां तामपहरति ततः सर्वनागरै राज्ञे निवेदित—यथा देव ! अस्माकं पत्तनं मुष्यते केनापि, नीयते सर्वसारमङ्गनाजनोऽपि, यस्तस्यानभिमतः सोऽत्र केवलमास्ते, तदेव (देव !) क्रियतां प्रसादस्तदन्वेषणेनेति । राज्ञाऽभिहितं—गच्छत यूयं विश्रब्धा भवत मनस्समाह तं दुरात्मानं लप्स्ये, किंच—यदि पञ्चभिरहोभिर्न लभे चौरं निग्रहयुक्तोऽपि च त्वस्याम्यात्मानमह ज्वालामालाकुले वह्नौ, तदेव कृतप्रतिज्ञं राजानं प्रणम्य निर्गता नागरिकाः, राज्ञा च सविशेषं नियुक्ता आरक्षकाः । आत्मनाऽप्यकार्षी सङ्केटकसमतोऽन्वेषुमारब्धः, न चोपलभ्यते चौरः, ततो राज्ञा निपुणतरमन्वेषयता पञ्चमेऽहनि मोचनताम्बूलगन्धमाल्यादिकं गृह्णन् राज्ञो स्वतो निर्गतेनोपलब्धः स परिमाट्, तत्पृष्ठगामिना नगरोद्यानवृक्षकोटरप्रवेशेन गुहाभ्यन्तरं प्रविश्य व्यापादितः, तदनन्तरं समर्पितं पौरस्य तत्कमङ्गनाजनोऽपीति । तत्र चैका सीमन्तिनी अत्यन्तमोपधिभिर्भाविता नेच्छत्यात्मीयमपि भर्तारं, ततस्तद्विद्भिरभिहितं—यथाऽस्याः परिमाट् तत्कान्यस्थीनि दुग्धेन सह संचूर्ण्य यदि दीयन्ते ततेयं तदाग्रहं मुञ्चति, ततस्तत्स्वामिनैवमेव कृतं, यथा यथा चासौ तदस्थिसम्पृक्तदुग्धपानं विधत्ते तथा तथा तस्मिन्नानुबन्धोऽपैति, सर्वास्थिपाने चापगतः प्रेमानुबन्धः, तदनु रक्ता

निजे भर्तरि । तदेवं यथाऽसावत्यन्तं भाविता तेन परिव्राजा नेच्छत्यपरम् एवं श्रावकजनोऽपि नितरां भावितात्मा मौनीन्द्रशासने न शक्यते अन्यथाकर्तुम्, अत्यन्तं सम्यक्त्वौषधेन वासितत्वादिति । पुनरपि श्रावकान् विशिनष्टि—'जाव उसियफलीहा' इत्यादि, उच्छ्रितानि स्फटिकानीव—स्फटिकानि—अन्तःकरणानि येषां ते तथा, एतदुक्तं भवति—मौनीन्द्रदर्शनावाप्तौ सत्यां परितुष्टमानसा इति, तथा अप्रावृतानि द्वाराणि यैस्ते तथा, उद्घाटितगृहद्वारास्तिष्ठन्ति अचियत्तः—अनभिमतोऽन्तःपुरप्रवेशवत्परगृहद्वारप्रवेशोऽन्यतीर्थिकप्रवेशो येषां ते तथा, अनवरतं श्रमणानुद्युक्तविहारिणो निर्ग्रन्थान् प्रासुकेनैषणीयेनाशनादिना तथा पीठफलकशय्यासंस्तारकादिना च प्रतिलाभयंतः तथा बहूनि वर्षाणि शीलव्रतगुणव्रतप्रत्याख्यानपौषधोपवासैरात्मानं भावयन्तस्तिष्ठन्ति । तदेवं ते परमश्रावकाः प्रभूतकालमणुव्रतगुणव्रतशिक्षाव्रतानुष्ठायिनः साधूनामौषधवस्त्रपात्रादिनोपकारिणः सन्तो यथोक्तं यथाशक्ति सदनुष्ठानं विधायोत्पन्ने वा कारणेऽनुत्पन्ने वा भक्तं प्रत्याख्यायालोचितप्रतिक्रान्ताः समाधिप्राप्ताः सन्तः कालमासे कालं कृत्वाऽन्यतरेषु देवेषूत्पद्यन्त इति । एतानि चाभिगतजीवाजीवादिकानि पदानि हेतुहेतुमद्भावेन नेतव्यानि, तद्यथा—यस्मादभिगतजीवाजीवास्तस्मादुपलब्धपुण्यपापाः, यस्मादुपलब्धपुण्यपापास्तस्मादुच्छ्रितमनसः, एवमुत्तरत्रापि एकैकं पदं त्यजद्भिरेकैकं चोत्तरं गृह्णद्भिर्वाच्यं, ते च परेण पृष्टा अपृष्टा वा एतदूचुः, तद्यथा—अयमेव मौनीन्द्रोक्तो मार्गः सदर्थः शेषस्त्वनर्थो, यस्मादेवं प्रतिपद्यन्ते तस्मात्ते समुच्छ्रितमनसः सन्तः साधुधर्मं श्रावकधर्मं च प्रकाशयन्तो विशेषेणैकादशोपासकप्रतिमाः स्पृशन्तो विहरन्तोऽष्टमीचतुर्दश्यादिषु पौषधोपवासादौ

मायुन् प्राशुकेन प्रविलासयन्ति, पाधास्ये च काले संलिखितकाया मस्तारकमस्तमार प्रतिश्च मम्क शल्यागत्या याशुप: सर्वे देवेपूत्पद्यन्ते । ततोऽपि च्युता सुमानुषमार्गं प्रतिश्च तेनैव मनोकृतः गतम्यत्यु वा मर्वेषु सिध्यन्तीति । सदत्तस्थानं कल्याणपरम्परया मुक्तिपारमितिकृत्या स्यमिति । अथ रिमद्भस्त्रीणस्य स्थानस्य मिश्रकाख्यस्याख्यात इति । उक्ता धार्मिकाः, अधार्मिकाश्च तृतीयस्थानमितिना , यान्यमेतदु स्थानविकल्पु संहारद्वारेण संक्षेपतो विभणिषुराह—यथमविरति —अर्संयमरूपा सम्यग्गामारातिमिथ्यादृष्टेर्षणो विनिरम्य विरविरथ तां प्रतीत्य—आश्रित्य बालबालः—अथः सदसद्विवेकविकलत्वात् इत्येवम् 'आधीयते'-व्यपदिश्यते आख्यायते वा, तथा विरतिं च 'प्रतीत्य'-आश्रित्य पापाड्डीनः पण्डित परमार्थज्ञ इत्येवमार्याणा माख्यायते वा, तथा विरताविरतिं चाश्रित्य बालपण्डित इत्येवं आगमज्ञोजपमिति । विरमित्यविरति (विरता विरति) विरत्याभवेन (बाल) बालपाण्डित्यपाण्डित्याश्रितियात्रयपाह—'तत्र च' मित्यादि, 'तत्र'-तेषु स्थानेषु येय 'सर्वात्मना'-सर्वस्मात् 'अविरतिः'-विरतिपरिणामाभावः एतत्स्थान मारम्भस्थानमाश्रय एतदाश्रित्य सर्वाण्यकार्याणि क्रियन्ते, यत एवमत एतदनार्यं स्थान मि युक्तया गतिभ्यतवातिनापादम्बत्य प्रक्षीणमार्गोऽयं सर्वेकान्तमिथ्यारूपोऽसाधुरिति । तत्र च येय 'विरतिः'-सम्यग्गतासा सारपारम्भापितिः सा स्वगितद्वारत्वात् पापानुपादानरूपेति, एतदाह—एतदस्थानम् अनारम्भस्थान—सावद्यानुष्ठानरहितमार्गमेव मरस्थान तथा चेतरस्थानमार्यस्थानम्—आरायातं सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यं तथा एतदु समप्रीतमार्गं अत्रैरकमधुपयय

इति तथैकान्तसम्यग्भूतः एतदेवाह—'साधु'रिति, साधुभूतानुष्ठानात्साधुरिति। तत्र च येयं (विरता) विरतिर-
मिधीयते सैषा मिश्रस्थानभूता, तदेतदारम्भानारम्भरूपस्थानम्, एतदपि कथञ्चिदार्यमेव, पारम्पर्येण सर्वदुःख-
प्रक्षीणमार्गः, तथैकान्तसम्यग्भूतः साधुश्चेति। तदेवमनेकविधोऽयमधर्मपक्षो धर्मपक्षस्तथा मिश्रपक्षश्चेति संक्षेपेणा-
भिहितः पक्षत्रयसमाश्रयणेन। साम्प्रतमसावपि मिश्रपक्षो धर्माधर्मसमाश्रयणेनानयोरन्तर्वर्ती भवतीति दर्शयति—

एवमेव समणुगम्ममाणा इमेहिं चेव दोहिं ठाणेहिं समोअरंति, तंजहा—धम्मे चेव अधम्मे
चेव, उवसंते चेव अणुवसंते चेव, तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एव- ९
माहिए, तत्थ णं इमाइं तिन्नि तेवट्ठाइं पावादुयसयाइं भवंतीति मक्खायाइं (यं), तंजहा—
किरियावाईणं अकिरियावाईणं अन्नाणियवाईणं वेणइयवाईणं, तेऽवि परिनिव्वाणमाहंसु, तेऽवि
मोक्खमाहंसु तेऽवि लवंति, सावगा! तेऽवि लवंति सावइत्तारो ॥ सूत्रम्–४० ॥

'एवमेव' संक्षेपेण, 'सम्यगनुगम्यमाना'–व्याख्यायमानाः सम्यगनुगृह्यमाणाः, 'अनयोरेव'–धर्मा-
धर्मस्थानयोरनुपतन्ति। किमिति?, यतो यदुपशान्तस्थानं तद्धर्मपक्षस्थानमनुपशान्तस्थानमधर्मपक्षस्थानमिति। १०
तत्र च यदधर्मपाक्षिकं प्रथमं स्थानं तत्रामूनि त्रीणि त्रिषष्ट्यधिकानि प्रावादुकशतान्यन्तर्भवन्तीत्येवमाख्यातं पूर्वा-
चार्यैरिति। एतानि च सामान्येन दर्शयितुमाह–'तंजहा'इत्यादि, तद्यथेत्युपदर्शनार्थः क्रियां—ज्ञानादिरहितामे-
कामेव स्वर्गापवर्गसाधनत्वेन वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः, ते च दीक्षात एव मोक्षं वदन्तीत्येवमादयो

प्रष्टव्य इति, तेषां च चतुरो भेदाः, तथा अक्रियां परलोकसाधनत्वेन वदितुं शीलं येषां ते तथा तेषामिति, अज्ञानमेव श्रेयः इत्येवं वदितुं शीलं येषां ते सवन्त्यज्ञानवादिनस्तेषां, तथा विनय एव परलोकसाधने प्रधानं कारणं येषां ते तथा तेषामिति । अत्र च सर्वत्र षष्ठीबहुवचननेदमाह, तद्यथा—क्रियावादिनामशीत्युत्तरं शतं, अक्रियावादिनां चतुरशीतिरज्ञानिकानां सप्तषष्टिर्वैनयिकानां द्वात्रिंशदिति । तत्र च सर्वेऽप्येते मौलास्तच्छिष्याश्च प्रवदन इव परिनिर्वाणम्—अशेषद्वन्द्वोपरमरूपमपवर्गं चरमस्पर्शस्वभावमनुपचरितपरमार्थस्थानं मध्यपदाख्यमभाषासमकं निरुपाधिकं कार्यमेव निर्वाणाख्यमुक्तम्, अनेन तु तदेव कारणोपाधिकमित्ययं विशेषः । तत्र येषामप्यात्मा नास्ति ज्ञानसन्ततिवादिनां तेषामपि कर्मसंततेः संसारनिबन्धनभूताया विच्छेदो मोक्षसद्भावाविरोधः, तेषां चोपादानक्षयात् सन्तानसन्तत्यवस्थाविच्छेद एव मोक्षः, प्रदीपस्येव तैलवर्त्यभावे निर्वाणमिति, तथा चाहुः—" न तस्य किञ्चिद् भवति, न भवत्येव केवलं'मिति । एतच्च तेषां महामोहविजृम्भितं, यतः—" कर्म चास्ति फलं चास्ति, कर्ता नेत्यस्ति कर्मणाम् । संसारमोक्षवादित्वमहो व्यामोहविजृम्भितम् ॥ १ ॥" इति । येषां चात्माऽस्ति सांख्यादीनां तेषां प्रकृतिविकारवियोगो मोक्षः, क्षेत्रज्ञस्य पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानादेव विद्यमानैः प्रधानविकारैर्विमोचनं मोक्ष इति,

चा १ ज्ञानसंततस्य कर्मपरम्परस्य चा । २ कर्मसन्तानस्याभावाद्रूपं । ३ देशत्वमेकत्वा तृतीया हेतुत्वं च मोक्षस्य तदभिनाभावित्वात् ।

तेषामप्येकान्तनित्यवादितया मोक्षाभावः । एवमन्येऽपि नैयायिकवैशेषिकादयः संसाराभावमिच्छन्तोऽपि न
मुच्यन्ते, सम्यग्दर्शनादिकस्योपायस्याभावाद्, इत्यभ्यूह्याह—यदि न तेषां मोक्षः कथं ते लोकस्योपास्या भव-
न्तीत्याशङ्क्याह—'तेऽपि'-तीर्थिका 'लपन्ति'-ब्रुवते, मोक्षं प्रति धर्मदेशनां विदधति, शृण्वन्तीति श्रावकाः हे
श्रावकाः! एवं गृह्णीत यूयं यथाऽहं देशयामि, तथा तेऽपि धर्मश्रावयितारः सन्त एवं 'लपन्ति'-भाषन्ते,
यथाऽनेनोपायेन स्वर्गमोक्षावाप्तिरिति तद्वचनं मिथ्यात्वोपहतबुद्धयोऽवितथमेव गृह्णन्ति, कूटपण्यदायिनां विपर्यस्त-
मतय इवेति । तदेवमादितीर्थिकास्तच्छिष्याश्च पारम्पर्येण मिथ्यादर्शनानुभावात्परान्प्रतारयन्ति, तेऽपि च तेषां ९
प्रतियन्ति, आह-कथमेते प्रावादुका मिथ्यावादिनो भवन्तीति ?, अत्रोच्यते, यतस्तेऽप्यहिंसां प्रतिपादयन्ति न
च तां प्रधानमोक्षाङ्गभूतां सम्यगनुतिष्ठन्ति, कथम् ?, सांख्यानां तावज्ज्ञानादेव धर्मो न तेषामहिंसा प्राधान्येन
व्यवस्थिता, किं तु पञ्च यमा इत्यादिको विशेष इति । तथा शाक्यानामपि दश कुशला धर्मपथा अहिंसापि
तत्रोक्ता, न तु सैव गरीयसी धर्मसाधनत्वेन तैराश्रिता । वैशेषिकाणामपि 'अभिसेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवास-
प्रस्थादानयज्ञादिनक्षत्रमन्त्रकालनियमा दृष्टाः' तेषु चाभिषेचनादिषु पर्यालोच्यमानेषु हिंसैव संपद्यते । वैदिकानां १०
च हिंसैव गरीयसी धर्मसाधनं, यज्ञोपदेशात्, तस्य च तयाऽविनाभावादित्यभिप्रायः, उक्तं च-"ध्रुवः प्राणिवधो
यज्ञे०" ॥ तदेवं सर्वप्रावादुका मोक्षाङ्गभूतामहिंसां न प्राधान्येन प्रतिपद्यन्त इति दर्शयितुमाह—

सा० १ प्रस्थान० प्रस्थादन० ।

त सव्वे पावाउया आदिकरा धम्माण णाणापन्ना णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणाज्झवसाणसंजुत्ता एगं महं मंडलिबंध किच्चा सव्वे एगओ चिट्ठंति। पुरिसे य सागणियाण इंगालाण पाइं बहुपडिपुन्नं अओमएणं संडासएण गहाय ते सव्वे पावाउए आइगरे धम्माण णाणापन्ने जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासी–हंभो पावाउया ! आइगरा धम्माण णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता ! इमं ताव तुब्भे सागणियाण इंगालाण पाइं बहुपडिपुन्नं गहाय मुहुत्तयं मुहुत्तगं पाणिणा धरेह, णो बहुसंडासगं संसारियं कुज्जा, णो बहु साहम्मियवेयावडियं कुज्जा णो बहुपरधम्मियवेयावडियं कुज्जा, उज्जुया णियागपडिवन्ना अमायं कुव्वमाणा पाणिं पसारेह, इति वुच्चा से पुरिसे तेसिं पावा-उयाणं त सागणियाण इंगालाण पाइं बहुपडिपुन्नं अओमएणं संडासएणं गहाय पाणिसु णिसि-रति, तए णं ते पावाउया आइगरा धम्माण णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता पाणिं पडिसाहरंति, तए णं से पुरिसे ते सव्वे पावाउए आदिगरे धम्माण जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासी–हंभो पावाउया ! आइगरा धम्माण णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता ! कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह ?, पाणिं नो डहिज्जा, दड्ढे किं भविस्सइ ?, दुक्खं दुक्खंति मन्नमाणा पडिसाहरह, एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे पत्तेयं तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं

समोसरणे, तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमातिक्खंति जाव परूवेंति–सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता हंतव्वा, अज्जावेयव्वा, परिघेतव्वा, परितावेयव्वा, किलामेतव्वा, उद्दवेतव्वा; ते आगंतुछेयाए ते आगंतुभेयाए जाव ते आगंतुजाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति, ते बहूणं दंडणाणं बहूणं मुंडणाणं तज्जणाणं तालणाणं अंदुबंधणाणं जाव घोलणाणं माइमरणाणं पिइमरणाणं भाइमरणाणं भगिणीमरणाणं भज्जापुत्तधूतसुण्हामरणाणं दारिद्दाणं दोहग्गाणं अप्पियसंवासाणं पियविप्पओगाणं बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं आभागिणो भविस्संति, आणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति, ते णो सिज्झिस्संति णो बुज्झिस्संति जाव णो सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति, एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे पत्तेयं तुला, पत्तेयं पमाणे पत्तेयं समोसरणे। तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति–सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण उद्दवेयव्वा ते णो आगंतुछेयाए ते णो आगंतुभेयाए जाव जाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति, ते णो बहूणं दंडणाणं जाव णो बहूणं मुंडणाणं जाव बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं णो भागिणो भविस्संति, अणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो भुज्जो

णो अणुपरियट्टिस्सति, ते सिज्झिस्सति जाव सव्वदुक्खाणं अंत करिस्संति ॥ सूत्रम्-४१ ॥

प्रवदनशीलाः प्रावादुकाः 'सर्वेऽपि ते'-त्रिषष्ठ्युत्तरत्रिशतपरिमाणा अपि आदिकरा यथास्वं धर्माणां, येऽपि च तच्छिष्यास्तेऽपि सर्वे नाना-भिन्ना प्रज्ञा-ज्ञानं येषां ते नानाप्रज्ञाः, आदिकरा इत्यनेनेदमाह-स्वरुचिविरचितास्ते न त्वनादिप्रवाहायाताः, ननु चार्हतानामपि आदित्वविशेषणमस्त्येव, सत्यमस्ति, किंतु अनादिर्हेतुपरम्परेत्यनादित्वमेव, तेषां च सर्वज्ञप्रणीतागमानाश्रयणाभिसन्धनाभावः तदभावाच्च भिन्न परिज्ञानम्, अत एव नानाछन्दाः, छन्दः-अभिप्रायः,भिन्नाभिप्राया इत्यर्थः, तथाहि-उत्पादव्ययध्रौव्यात्मके वस्तुनि सांख्यैरेकान्तेनाविर्भावतिरोभावाश्रयणादन्वयिनमेव पदार्थं सत्त्वेनाश्रित्य नित्यपक्ष (ते) समाश्रिताः, तथा शाक्या अत्यन्तक्षणिकेषु पूर्वोत्तरभिन्नेषु पदार्थेषु सत्सु स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलब्धानां भवतीत्येवत्पक्षसमाश्रयणादनित्यपक्षं समाश्रिता इति । तथा नैयायिकवैशेषिकाः केषाञ्चिदाकाशपरमाण्वात्मादीनामेकान्तेन नित्यत्वमेव कार्यद्रव्याणां च घटपटादीनामेकान्तेनानित्यत्वमेवाश्रिताः । एवमनया दिशाऽन्येऽपि मीमांसकवापसादयोऽभ्यूह्या इति । तथा ते तीर्थिका नाना शील येषां ते तथा, शील-व्रतविशेषः, स च भिन्नस्तेषामनुभवसिद्ध एव । तथा नाना दृष्टिः-दर्शनं येषां ते तथा, तथा नाना रुचिर्येषां ते नानारुचयः, तथा नानारूपमध्यवसानम्-अन्तःकरणप्रवृत्तिर्येषां ते तथा, इदमुक्तं भवति-अहिंसाऽत्र प्रधान धर्माङ्ग, सा च तेषां नानाभिप्रायत्वादविकलत्वेन न व्यवस्थिता । तस्या एव सूत्रकारः प्राधान्यं दर्शयितुमाह-ते सर्वेऽपि प्रावादुका यथास्वधर्मा

श्रिता एकत्र प्रदेशे संयुता मंडलिबन्धमावाय तिष्ठन्ति, तेषां चैवं व्यवस्थितानामेकः कश्चित्पुरुषस्तेषां संवित्त्यर्थं ज्वलतामङ्गाराणां प्रतिपूर्णां पात्रीम्–अयोमयं भाजनमयोमयेनैव संदंशकेन गृहीत्वा तेषां ढौकितवान्, उवाच च तान् यथा–भोः प्रावादुकाः ! पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टा इदमङ्गारभृतं भाजनमेकैकं मुहूर्तं प्रत्येकं बिभृत यूयं, न चेदं (ह) संदंशकं सांसारिकं नापि चाग्निस्तम्भनं विदध्युः नापि च साधर्मिकाऽन्यधार्मिकाणामग्निदाहोपशमादिनोपकारं कुर्युरिति, 'ऋजवो'–मायामकुर्वाणाः पाणिं प्रसारयत, तेऽपि च तथैव कुर्युः, ततोऽसौ पुरुषः तद्भाजनं पाणौ समर्पयति, तेऽपि च दाहशङ्कया हस्तं सङ्कोचयेयुरिति, ततोऽसौ तानुवाच–किमिति पाणिं प्रतिसंहरत यूयं ?, एवमभिहितास्ते ऊचुः–दाहभयादिति, एतदुक्तं भवति–अवश्यमग्निदाहभयान्न कश्चिदग्न्यभिमुखं पाणिं ददातीत्येतत्परोऽयं दृष्टान्तः। पाणिना दग्धेनापि किं भवतां भविष्यतीति ?, दुःखमिति चेद्यद्येवं भवन्तो दाहापादितदुःखभीरवः सुखलिप्सवः, तदेवं सति सर्वेऽपि जन्तवः संसारोदरविवरवर्तिन एवम्भूता एवेत्येवम् 'आत्मतुलया'–आत्मौपम्येन यथा मम नाभिमतं दुःखमित्येवं सर्वजन्तूनामित्यत्रगम्याहिंसैव प्राधान्येनाश्रयणीया, 'तदेतत्प्रमाणं' सैषा युक्तिः 'आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स पश्यति'। तदेतत् समवसरणं–स एव धर्मविचारो यत्राहिंसा संपूर्णा तत्रैव परमार्थतो धर्मः, इत्येवं व्यवस्थिते तत्र ये केचनाविदितपरमार्थाः श्रमणब्राह्मणादयः 'एवं'–वक्ष्यमाणमाचक्षते परेषामात्मदार्ढ्योत्पादनायैवं भाषन्ते तथैवमेव धर्मं 'प्रज्ञापयन्ति'–व्यवस्थापयन्ति, तथा अनेन प्राण्युपतापकारिणा प्रकारेण परेषां धर्मं 'परूपयन्ति'–व्याचक्षते, तद्यथा–'सव्वे पाणा' इत्यादि, यावत्-

हन्तव्या दण्डादिभिः परितापयितव्या घर्माग्निमरघट्टादिवहनादिभिः परिभाव्या विशिष्टकाले भाद्रादौ रोहितमत्स्या-दय इव तथाऽपद्रावयितव्या देवतायागादिनिमित्तं पस्तादय इत्येवं ये भ्रमणादयः प्राणिनामुपतापकारिणो मापन्ते(ते) आगामिनि कालेऽनेकशो बहुशः स्वशरीरच्छेदाय भेदाय च मापन्ते, तथा ते सातद्यमापिणो भविष्यति काले आतिजरामरणानि बहूनि प्राप्नुवन्ति। यो-यां जन्म योनिजन्म तदनेकशो गर्भव्युत्क्रान्तजावस्थायां प्राप्नुवन्ति, तथा संसारप्रपञ्चान्तर्गतास्तेजोवायुपूर्वेगोत्रोद्दलनन कलङ्कलीभावभाजो भवन्ति बहुशो भविष्यन्ति च, तथा ते बहूनां दण्डादीनां शारीराणां दुःखानामात्मानं भाजनं कुर्वन्ति, तथा ते निर्विवेका मातृवधादीनां मान सानां दुःखानां तथाऽन्येषामप्रियसंप्रयोगार्थनाशादिभिर्दुःखदौर्मनस्यानामाभागिनो भविष्यन्तीति। किं बहुनो क्तेन?, उपसंहारव्याजेन गुरुतरमनर्थंसंघं च दर्शयितुमाह-'अणादियं' इत्यादि, नास्यादिरस्तीत्यनादिः-संसारः, यस्य सोऽपमनवदग्रोऽपर्यन्त इत्यर्थः, तदननेदमुक्तं भवति-यदुक्तं कैश्चिदभिहितं यथाऽयमण्डकादिक्रमेणोत्पादित इत्येतदपास्तं, न विद्यतेऽवदग्र-पर्यन्तो दशादित्योद्गमेन वास्यन्तदाह इत्यादिकं सर्वं मिथ्येति, 'दीर्घ'मित्यनन्तपुद्गलपरावर्तरूपकालावस्थानं, तथा चत्वारोऽन्ता-गतयो यस्य स तथा, चातुर्गतिक इत्यर्थः, तत्संसार एव कान्तारः संसारकान्तारो, निर्जल सभय त्वात् शारदितोऽप्यप्रवेशः कान्तार इति। तदेवम्भूतं 'भूयो भूयः'-पौनःपुन्येनानुपरिवर्तिष्यन्ते-अरहट्टघटीन्यायेन तत्रैव भ्रमन्तः स्थास्यन्तीति,अत एवाह-यतस्ते प्राणिनां हन्तारः, क्व एतदिति चेत्तावपोपवशात्, एतदपि

कथमिति चेदन्ततः औद्देशिकादिपरिभोगानुज्ञयेत्येवमवगन्तव्यमित्यतस्ते कुप्रावचनिका नैव सेत्स्यन्ति–नैव ते लोकाग्रस्थानमाक्रमिष्यन्ति, तथा न ते सर्वपदार्थान् केवलज्ञानावाप्त्या भोत्स्यन्ते, अनेन ज्ञानातिशयाभावमाह, तथा न तेऽष्टप्रकारेण कर्मणा मोक्ष्यन्ते, अनेनाप्यसिद्धेरकैवल्यावाप्तेश्च कारणमाह, तथा परिनिर्वृतिः परिनिर्वाणं–आनन्दसुखावाप्तिस्तां ते नैव प्राप्स्यन्ते, अनेनापि सुखातिशयाभावः प्रदर्शितो भवतीति, तथा नैते शरीरमानसानां दुःखानामात्यन्तिकमन्तं करिष्यन्तीत्यनेनाप्यपायातिशयाभावः[2] प्रदर्शितो भवति । 'एपा तुला' तदेतदुपमानं यथा सावद्यानुष्ठानपरायणाः सावद्यभाषिणश्च कुप्रावचनिका न सिध्यन्त्येवं स्वयूथ्या अप्यौद्देशिकादिपरिभोगिनो न सिध्यन्तीति । तदेतत्प्रमाणं–प्रत्यक्षानुमानादिकं, तथाहि–प्रत्यक्षेणैव जीवपीडाकारी चौरादिर्बन्धनान्न मुच्यते, एवमन्येऽपीति, अनुमानादिकमप्यायोज्यं । तथा तदेतत्समवसरणम्–आगमविचाररूपमिति, प्रत्येकं च प्रतिप्राणि प्रतिप्रावादुकमेतत्तुलादिकं द्रष्टव्यमिति । ये पुनर्विदिततत्त्वा आत्मौपम्येन–आत्मतुलया सर्वजीवेष्वहिंसां कुर्वाणा एवमाचक्षते, तद्यथा–सर्वेऽपि जीवा दुःखद्विषः सुखलिप्सवस्ते न हन्तव्या इत्यादि । तदेवं पूर्वोक्तं दण्डनादिकं सप्रतिषेधं भणनीयं यावत्संसारकान्तारमचिरेणैव ते व्यतिक्रमिष्यन्तीति । भणितानि क्रियास्थानानि, साम्प्रतमुपसंजिघृक्षुरेतदेव पूर्वोक्तं समासेन बिभणिषुराह—

इच्चेतेहिं बारसहिं किरियाठाणेहिं वट्टमाणा जीवा णो सिज्झिंसु, णो बुज्झिंसु, णो मुच्चिंसु, णो

सा० १ पगमा० क्वचित् क्वचिच्च० नाप्यायाति० । २ आत्यन्तिकदु खनाशाभाव इति ।

परिणिव्वाइंसु जाव णो सव्वदुक्खाण अंतं करेंसु वा, णो करेंति वा, णो करिस्संति वा, एयंसि चेव तेरसमे किरियाठाणे वट्टमाणा जीवा सिज्झिंसु बुज्झिंसु मुच्चिंसु परिणिव्वाइंसु जाव सव्व दुक्खाणं अंतं करेंसु वा, करंति वा, करिस्संति वा; एव से भिक्खु आयट्ठी आयहिते आयगुत्ते आयजोगे आयपरक्कमे आयरक्खिए आयाणुकंपए आयनिप्फेडए आयाणमेव पडिसाहरेज्जासि त्तिबेमि ॥ सूत्रम्-४२ ॥ इति बीयसुयक्खंधस्स किरियाठाण नाम बीयमज्झयणं समत्तं ।

इत्येतेषु द्वादशसु क्रियास्थानेष्वधर्मपक्षोऽनुपशमरूपः समवतार्यते, अत एतेषु वर्तमाना जीवा नातीते काले सिद्धा, न वर्तमाने सिध्यन्ति, न भविष्यति सेत्स्यन्ति; तथा न बुबुधिरे, न बुध्यन्ते, न च भोत्स्यन्ते, तथा न मुमुचुर्न मुच्यन्ते, न च मोक्ष्यन्ते; तथा न निर्वृता, न निर्वान्ति, न च निर्वास्यन्ति; तथा न दुःखानामन्तं चक्रुर्न कुर्वन्ति, न च करिष्यन्तीति; साम्प्रत त्रयोदशं क्रियास्थानं धर्मपक्षाश्रितं दर्शयितुमाह-एतस्मिंस्त्रयोदशे क्रियास्थाने वर्तमाना जीवाः सिद्धाः, सिध्यन्ति, सेत्स्यन्तीति यावत्सर्वदुःखानामन्तं करिष्यन्तीति स्थितम्। तदेव स भिक्षुर्यः पौण्डरीकाध्ययनेऽभिहितो द्वादशक्रियास्थानवर्जकः अधर्मपक्षानुपशमपरित्यागी धर्मपक्षे स्थित उपशान्त आत्मना आत्मनो वाऽर्थः आत्मार्थः स विद्यते यस्य स तथा, यो ह्यन्यमपायेभ्यो रक्षति स आत्मार्थ्यात्मवानि-त्युच्यते, भविताचाराम चौरादयो नात्मवन्तोऽत्य स्वात्महित ऐहिकामुष्मिकापायभीरुत्वात्, तथाऽऽत्मा गुप्तो

प १ कर्तेरिप्सोगे भावद्धे धर्मेन एवम्भराए।

यस्य स तथा, एतदुक्तं भवति–स्वयमेवासौ संयमानुष्ठाने पराक्रमते, तथाऽऽत्मयोगी आत्मनो योगः–कुशलमनःप्रवृत्तिरूप आत्मयोगः स यस्यास्ति स तथा, सदा धर्मध्यानावस्थित इत्यर्थः, तथाऽऽत्मा पापेभ्यो दुर्गतिगमनादिभ्यो रक्षितो येन स तथा, दुर्गतिगमनहेतुनिबन्धनस्य सावद्यानुष्ठानस्य निवृत्तत्वादितिभावः, तथाऽऽत्मानमेवानर्थपरिहारद्वारेणानुकम्पते शुभानुष्ठानेन सद्गतिगामिनं विधत्त इति, तथाऽऽत्मानं सम्यग्दर्शनादिकेनानुष्ठानेन संसारचारकान्निःसारयतीति, तथाऽऽत्मानमनर्थभूतेभ्यो द्वादशभ्यः क्रियास्थानेभ्यः प्रतिसंहरेत्, यदिवोपदेशः–आत्मानं सर्वापायेभ्यः प्रतिसंहियात्–सर्वानर्थेभ्यो निवर्तयेदित्येतस्मिन्महापुरुषे संभाव्यत इति। इतिः–परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत्। नयाः पूर्ववद्व्याख्येयाः। समाप्तं क्रियास्थानाख्यं द्वितीयमध्ययनमिति।

अथ द्वितीयश्रुतस्कन्धे तृतीयाध्ययनप्रारम्भः।

द्वितीयाध्ययनानन्तरं तृतीयमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः–कर्मक्षपणार्थमुद्यतेन भिक्षुणा द्वादशक्रियास्थानरहितेनान्त्यक्रियास्थानसेविना सदाऽऽहारगुप्तेन भवितव्यं, धर्माधारभूतस्य शरीरस्याधारो भवत्याहारः, स च मुमुक्षुणोद्देशकादिदोषरहितो ग्राह्यः, तेन च प्रायः प्रतिदिनं कार्यमित्यनेन संबन्धेनाहारपरिज्ञाध्ययनमायातम्, अस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराण्युपक्रमादीनि भवन्ति, तत्रेदमध्ययनं पूर्वानुपूर्व्या तृतीयं, पश्चानुपूर्व्या पञ्चममनानुपूर्व्या

स्मनियतमिति, अर्थाधिकारः पुनरत्राहारः शुद्धाशुद्धभेदेन निरूप्यते। निक्षेपस्त्रिविधः–ओघादिः, तत्रौघनिष्पन्ने निक्षेपेऽभ्युपपन्नं, नामनिष्पन्ने तु आहारपरिज्ञेति द्विपदं नाम, तत्राहारपदनिक्षेपार्थमाह निर्युक्तिकारः—

नामठवणादविए खेत्ते भावे य होति बोद्धव्वो। एसो खलु आहारे निक्खेवो होइ पंचविहो ॥१६९॥
दव्वे सचित्तादी खेत्ते नगरस्स जणवओ होइ। भावाहारो तिविहो ओए लोमे य पक्खेवे ॥१७०॥
सरीरेणोयाहारो तयाय फासेण लोमआहारो। पक्खेवाहारो पुण कावलिओ होइ नायव्वो ॥१७१॥
ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तगा मुणेयव्वा। पज्जत्तगा य लोमे पक्खेवे होइ(होंति) नायव्वा ॥१७२॥
एगिंदियदेवाणं नेरइयाणं च नत्थि पक्खेवो। सेसाणं पक्खेवो संसारत्थाण जीवाणं ॥१७३॥
एक्कं च दो व समए तिन्नि व समए मुहुत्तमद्धं वा। सादीयमनिहणं पुण कालमणाहारगा जीवा ॥१७४॥
एक्कं च दो व समए केवलिपरिवज्जिया अणाहारा। मंथंमि दोण्णि लोए य पूरिए तिन्नि समया उ ॥१७५॥
अंतोमुहुत्तमद्धं सेलेसीए भवे अणाहारा। सादीयमनिहणं पुण सिद्धा यऽणाहारगा होंति ॥१७६॥

१ नामं ठवणा दविए अद्धा खेत्ते एव भावेय। एसो पक्खन्नस्स अभिहो होइ निक्खेवो ॥ १६९ ॥ ख
१ नामं ठवणा दविए खेत्ते भावे य होति बोद्धव्वो एसो खलु आहारे, निक्खेवोइ पंचविहोइ ॥ १६९ ॥ चा
२. सर्व ख. चा ३ °त त ऊ° ख ख. चा ४ वो ख चा ५. मया ख चा ६ क्खेवो चा ७ आहारस्य ख पज्जत्ता ख. चा। ८ पक्खेवो होति भइयव्वा ख पक्खेवो होति भइयव्वा चा। ९ सादिमपि ख चा १ मा ख चा. ११ एगो ख चा १२ °हिणंपि ख चा. १३ आहारगा ख., आहारगा चा.

जोएण कम्मएणं आहारेई अणंतरं जीवो। तेणं परं मीसेणं जाव सरीरस्स निप्फत्ती ॥ १७७ ॥
णामं ठवणपरिन्ना दव्वे भावे य होई नायव्वा। दव्वपरिन्ना तिविहा भावपरिन्ना भवे दुविहा ॥१७८॥

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रभावरूपः पञ्चप्रकारो भवति निक्षेप आहारपदाश्रय इति, तत्र नामस्थापने अनादृत्य द्रव्याहारं प्रतिपादयितुमाह-द्रव्याहारे चिन्त्यमाने सचित्तादिराहारस्त्रिविधो भवति, तद्यथा-सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च, तत्रापि सचित्तः षड्विधः पृथिवीकायादिकः, तत्र सचित्तस्य पृथिवीकायस्य लवणादिरूपापन्नस्याहारो द्रष्टव्यः, तथाऽप्कायादेरपीति, एवं मिश्रोऽचित्तश्च योज्यः, नवरमग्निकायमचित्तं प्रायशो मनुष्या आहारयन्ति, ओदनादेस्तद्रूपत्वादिति। क्षेत्राहारस्तु यस्मिन्क्षेत्रे आहारः क्रियते उत्पद्यते व्याख्यायते वा, यदिवा नगरस्य यो देशो धान्येन्धनादिनोपभोग्यः स क्षेत्राहारः, तद्यथा-मथुरायाः समासन्नो देशः परिभोग्यो मथुराहारो मोढेरकाहारः खेडाहार इत्यादि। भावाहारस्त्वयं-क्षुधोदयाद्भक्ष्यपर्यायापन्नं वस्तु यदाहारयति स भावाहार इति। तत्रापि प्रायश आहारस्य जिह्वेन्द्रियविषयत्वात्तिक्तकटुकषायाम्ललवणमधुररसा गृह्यन्ते, तथा चोक्तम्-" राईभत्ते

१ जोएय अ. २ °रेंति अ आ. ३ तेणयर अ. आ ४ पज्जत्ती अ. आ. ५ नाम अ. आ ६ °रिण्णा अ. आ ७ होंति अ आ.

८ आहारपरिण्णा सम्मत्ता अ. आ।

सा० ९ पोलिकादौ सचित्ताग्निकणिकाखादन यद्वा चकोरादयोऽग्नेर्भक्षका इति किंवदन्ती। १० ओदनादीनामग्निनिष्पन्नत्वेनाचित्ताग्निरूपाणा भस्मादीनां च तद्रूपतया परिणामादधुनाऽचित्ताग्निकायता, भगवतीवृत्तौ अग्निपरिणामव्याख्यानमप्योदनादीनामौष्ण्ययोगादेव। ११ रात्रिभक्त भावतस्तिक्त वा यावन्मधुर वा।

माणओ लिंपे वा जाव मधुरे"त्यादि, अ पदपि प्रसङ्गेन गृह्यते, तद्यथा–खरविशदमभ्यवहार्यं भक्ष्य, तत्रापि बाष्पाढ्य ओदनः प्रशस्यते न शीतः, उदकं तु शीतमेव, तथा चोक्त–"शैत्यमपां प्रधानो गुणः" एवं तावदभ्यवहार्यं द्रव्यमाश्रित्य भावाहारः प्रतिपादितः, साम्प्रतमाहारकमाश्रित्य भावाहारं निर्युक्तिकृदाह–भावाहारस्त्रिविधः–त्रिप्रकारो भवति, आहारकस्य जन्तोस्त्रिभिः प्रकारैराहारोपादानादिति, प्रकारानाह–'ओए'त्ति तैजसेन शरीरेण तत्सहचरितेन च कार्मणेनाभ्यां द्वाभ्यामप्याहारयति यावदपरमौदारिकादिकं शरीरं न निष्पद्यते, तथा चोक्तम्–"तेएण कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवो। तेण परं मिस्सेणं जाव सरीरस्स निप्फत्ती ॥ १ ॥" तथा–"ओआहारा जीवा सव्वे आहारगा अपज्जत्ता।" लोमाहारस्तु शरीरपर्याप्त्युत्तरकालं बाह्यया त्वचा, लोमभिराहारो लोमाहारः, तथा प्रक्षेपेण कवलादेराहारः प्रक्षेपाहारः, स च वेदनीयोदयेन चतुर्भिः स्थानैराहारसंज्ञासद्भावाद्भवति, तथा चोक्तम्–"चउहिं ठाणेहिं आहारसण्णा समुप्पज्जइ, तंजहा–ओमकोट्ठयाए १ छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं २ मईए ३ तयट्ठोवओगेण"त्ति। साम्प्रतमेतेषां त्रयाणामप्येकयैव गाथया व्याख्यानं कर्तुमाह–तैजसेन कार्मणेन च शरीरेणौदारिकादिशरीरानिष्पत्तेर्मिश्रेण च य आहारः स सर्वोऽप्योजआहार इति, केचित्त्वाचक्षते–औदारिकादिशरीरपर्याप्त्या पर्याप्तकोऽपीन्द्रियानापानभाषामनःपर्याप्तिभिरपर्याप्तकः शरीरेणाहारयन् ओजा

छा० १ तैजसेन कार्मणेन आहारयत्यनन्तरं जीवः ततः परं मिश्रेण यावच्छरीरस्य निष्पत्तिः ॥ १ ॥ २ ओजआहारा जीवाः सर्वे आहारका अपर्याप्ताः ॥ २ ॥ ३ चतुर्भिः स्थानैराहारसंज्ञा समुत्पद्यते तद्यथा–अवमकोष्ठतया क्षुद्वेदनीयस्य कर्मण उदयेन मत्या तदर्थोपयोगेन ॥ १ ॥

हार इति गृह्यते, तदुत्तरकालं तु त्वचा–स्पर्शेन्द्रियेण य आहारः स लोमाहार इति, प्रक्षेपाहारस्तु ‘ कावलिकः ’ कवलप्रक्षेपनिष्पादित इति ज्ञातव्यो भवति। पुनरप्येषामेव स्वामिविशेषेण विशेषमाविर्भावयन्नाह–यः प्रागुक्तः शरीरेणौजसाऽऽहारस्तेनाहारेणाहारका जीवाः सर्वेऽप्यपर्याप्तका ज्ञातव्याः, सर्वाभिः पर्याप्तिभिरपर्याप्तास्ते वेदितव्याः, तत्र प्रथमोत्पत्तौ जीवः पूर्वशरीरपरित्यागे विग्रहेणाविग्रहेण वोत्पत्तिदेशे तैजसेन कार्मणेन च शरीरेण तप्तस्नेहपतितसंपानकवत्तत्प्रदेशस्थानात् (स्थान्) पुद्गलानादत्ते, तदुत्तरकालमपि यावदपर्याप्तकावस्था तावदोज-आहार इति, पर्याप्तकास्त्विन्द्रियादिभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः केषांचिन्मतेन शरीरपर्याप्तका वा गृह्यन्ते, तदेवं ते लोमाहारा भवन्ति, तत्र स्पर्शेन्द्रियेणोष्मादिना तप्तश्छायया शीतवायुनोदकेन वा प्रीयते प्राणी गर्भस्थोऽपि, पर्याप्त्युत्तरकालं लोमाहार एवेति, प्रक्षेपाहारे तु भजनीयाः, यदैव प्रक्षेपं कुर्वन्ति तदैव प्रक्षेपाहारा नान्यदा, लोमाहारता तु वाय्वादिस्पर्शात्सर्वदैवेति, स च लोमाहारश्चक्षुष्मताम्–अर्वाग्दृष्टिमतां न दृष्टिपथमवतरति, अतोऽसौ प्रतिसमयवर्ती प्रायशः, प्रक्षेपाहारस्तूपलभ्यते प्रायः, स च नियतकालीयः, तद्यथा–देवकुरूत्तरकुरु (वादि) प्रभवा अष्टमभक्ता(द्या)हाराः, संख्येयवर्षायुषामनियतकालीयः प्रक्षेपाहार इति। साम्प्रतं प्रक्षेपाहारं स्वामिविभागेन दर्शयितुमाह–एकमेव स्पर्शेन्द्रियं येषां ते भवन्त्येकेन्द्रियाः–पृथिवीकायादयस्तेषां देवनारकाणां च नास्ति प्रक्षेपः, ते हि पर्याप्त्युत्तरकालं स्पर्शेन्द्रियेणैवाहारयन्तीतिकृत्वा लोमाहाराः, तत्र देवानां मनसा परिकल्पिताः शुभाः

सा० १ वायुस्पर्शाल्लोमाहारस्य सार्वदिकत्वात्, विग्रहादौ व्यभिचारवारणाय प्रायश इति।

पुद्गलाः सर्वेणैव कायेन परिणमन्ति नारकाणां स्वशुभा इति, शेषास्त्वौदारिकशरीरा द्वीन्द्रियादयस्तिर्यङ्मनुष्याश्च तेषां प्रक्षेपाहार इति, तथा संसारस्थितानां कायस्थितेरेवाभावात्प्रक्षेपमन्तरेण, कावलिक आहारो जिह्वेन्द्रियस्य सद्भावादिति, अन्ये त्वाचार्या अन्यथा व्याचक्षते—तत्र यो जिह्वेन्द्रियेण स्थूलः शरीरे प्रक्षिप्यते स प्रक्षेपाहारः, यस्तु घ्राणदर्शनश्रवणैरुपलभ्यते धातुभावेन परिणमति स ओजआहारः, यः पुनः स्पर्शेन्द्रियेणैवोपलभ्यते धातुभावेन(च) प्रयाति स लोमाहार इति। साम्प्रतं कालविशेषमधिकृत्याऽनाहारकानभिधित्सुराह—तत्र 'विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अयोगी या। सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ॥ १ ॥' अस्या लेशतोऽयमर्थः—उत्पत्तिकाले विग्रहगतो—वक्रगतापन्नाः केवलिनो लोकपूरणकाले समुद्घातावस्थिता अयोगिनः—शैलेश्यवस्थाः सिद्धाश्चाना हारकाः, शेषास्तु जीवा आहारका इत्ययमन्तर्गम्यं, तत्र भवाद्भवान्तरं यदा समश्रेण्या याति तदाऽनाहारको न लभ्यते, यदापि विश्रेण्यामेकेन वक्रेणोत्पद्यते तदापि प्रथमसमये पूर्वशरीरस्थेनाहारित द्वितीये स्वचक्रसमये समा श्रितशरीरस्थेनेति, वक्रद्वये तु त्रिसमयोत्पत्तौ मध्यमसमयेऽनाहारक इति इतरयोस्त्वाहारक इति, वक्रत्रये तु चतुः समयोत्पत्तिके मध्यवर्तिनोः समययोरनाहारकः, चतुःसमयोत्पत्तिश्चैव भवति—त्रसनाड्या बहिरुपरिष्टादधोऽधस्ता द्वोपर्युत्पद्यमानो दिशो विदिशि विदिशो वा दिशि यदोत्पद्यते तदा लभ्यते, तत्रैकेन समयेन त्रसनाडीप्रवेशो द्वितीये नोपपन्नो वा गमनं, तृतीयेन च बहिर्निःसरणं, चतुर्थेन तु विदिक्षूत्पत्तिदेशे प्राप्तिरिति। पञ्चसमया तु त्रसनाड्या

था १ उपपत्तिप्रदेशपर्यन्तरकाले।

बहिरेव विदिशो विदिक्षूत्पत्तौ लभ्यते तत्र च मध्यवर्तिषु(त्रिषु) अनाहारक इत्यवगन्तव्यम् , आद्यन्तसमययो-
स्त्वाहारक इति। केवलिसमुद्घातेऽपि कार्मणशरीरवर्तित्वात् तृतीयचतुःपञ्चमसमयेष्वनाहारको द्रष्टव्यः। शेषेषु तु
औदारिकतनु–मिश्रशरीरवर्तित्वादाहारक इति। 'मुहुत्तमद्धं च'त्ति अन्तर्मुहूर्तं गृह्यते, तच्च केवली स्वायुषःक्षये
सर्वयोगनिरोधे सति ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रकालं यावदनाहारक इत्येवमवगन्तव्यं। सिद्धजीवास्तु शैलेश्यवस्थाया
आदिसमयादारभ्यानन्तमपि कालमनाहारका इति। साम्प्रतमेतदेव स्वामिविशेषविशेषिततरमाह–केवलिपरिव-
र्जिताः संसारस्था जीवा एकं द्वौ वा अनाहारका भवन्ति। ते च द्विविग्रहत्रिविग्रहोत्पत्तौ त्रिचतुःसामयिकायां
द्रष्टव्याः, चतुर्विग्रहपञ्चसमयोत्पत्तिस्तु स्वल्पसत्त्वाश्रितेति न साक्षादुपात्ता, तथा चान्यत्राप्यभिहितम्–" एकं द्वौ
वाऽनाहारकः" (तत्त्वा० अ० २, सू० ३१), वाशब्दात् त्रीन् वा, आनुपूर्व्या अप्युदय उत्कृष्टतो विग्रहगतौ चतुरः
समयानागमेऽभिहितः, ते च पञ्चसमयोत्पत्तौ लभ्यन्ते नान्यत्रेति। भवस्थकेवलिनस्तु समुद्घाते मन्थे तत्करणोप-
संहारावसरे[2] तृतीयपञ्चमसमयौ द्वौ लोकपूरणाच्चतुर्थसमयेन सहितास्त्रयः समया भवन्तीति॥ पुनरपि निर्युक्ति-
कारः सादिकमपर्यवसानं कालमनाहारकत्वं दर्शयितुमाह–शैलेश्यवस्थाया आरभ्य सर्वदाऽनाहारकः सिद्धावस्था-
प्रासावनन्तमपि कालं यावदिति, पूर्वं तु कावलिकव्यतिरेकेण प्रतिसमयमाहारकः कावलिकेन तु कादाचित्क इति।
ननु केवलिनो घातिकर्मक्षयेऽनन्तवीर्यत्वान्न भवत्येव कावलिक आहारः, तथाहि–आहारादाने यानि वेदनादीनि

सा० १ ततोऽर्वाक्, सामीप्ये च सप्तमी। २ अन्तराणि संहृत्य मन्थीभवनसमय।

षट् कारणान्यभिहितानि तेषां मध्ये एकमपि न विद्यते केवलिनि तत्कथमसावाहारं बहुदोषदुष्टं गृह्णीयात् ?, तत्र न तावत्तस्य वेदनोत्पद्यते, तद्वेदनीयस्य दग्धरज्जुस्थानिकत्वात्, सत्यामपि न तस्य तत्कृता पीडा, अनन्तवीर्यत्वात्, वैयावृत्त्यकरणं तु भगवति सुरासुरनराधिपतिपूज्ये न संभाव्यत एवेति, ईर्यापथः पुनः केवलज्ञानावरणपरिक्षयात्सम्यगवलोकयत्येवासौ, संयमस्तु तस्य यथाख्यातचारित्रिणो निष्ठितार्थत्वान्नाहारग्रहणाय कारणी भवति, प्राणवृत्तिस्तु तस्यानपवर्तित्वात् आयुषोऽनन्तवीर्यत्वाच्चान्यथा सिद्धैव, धर्मचिन्तावसरस्त्वपगतो निष्ठितार्थत्वात्, तदेवं केवलिनः कवलिकाहारो बहुपायत्वाच्च कथंचित् घटत इति स्थितम्, अत्रोच्यते, तत्र यत्तावदुक्तं 'घातिकर्मक्षये केवलज्ञानोत्पादानन्तवीर्यत्वाच्च केवलिनो भुक्ति'रिति, तदागमानभिज्ञस्य तत्त्वविचाररहितस्य युक्तिरूपमजानतो वचनं, तथाहि—यदाहारनिमित्तं वेदनीयं कर्म तत्तस्य तथैवाऽऽस्ते, किमिति सा शारीरी स्थितिः भाक्तनी न भवति ?, प्रमाणं च—अस्ति केवलिनो भुक्तिः, समग्रसामग्रीकत्वात्पूर्वभुक्तिवत्, सामग्री चेयं प्रक्षेपाहारस्य, तद्यथा—पर्याप्तत्वं १ वेदनीयोदयः २ आहारपक्तिनिमित्तं तैजसशरीरं ३ दीर्घायुष्कत्वं ४ चेति, तानि च समस्तान्यपि केवलिनि सन्ति, यदपि दग्धरज्जुसंस्थानिकत्वमुच्यते वेदनीयस्य तदप्यनागमिकमयुक्तिकमतं च, आगमे ह्यत्यन्तोदयः सातस्य केवलिन्यभिधीयते, युक्तिरपि—यदि घातिकर्मक्षयाज्ज्ञानादयस्तस्याभूवन् वेदनीयोद्भवायाः क्षुधः किमायात ? येनासौ न भवति, न तयोश्छायातपयोरिव सहानवस्थानलक्षणो नापि भाव्य

वा १ नहि अरक्तसमस्मार ।

भावयोरिव परस्परपरिहारलक्षणः कश्चिद्विरोधोऽस्तीति, सातासातयोश्चान्तर्मुहूर्तपरिवर्तमानतया यथा सातोदय एवमसातोदयोऽपीत्यनन्तवीर्यत्वे सत्यपि शरीरबलापचयः क्षुद्वेदनोयोद्भवा पीडा च भवत्येव, न चाहारग्रहणे तस्य किंचित्क्षीयते, केवलमाहोपुरुषिकामात्रमेवेति । यदप्युच्यते–वेदनीयस्योदीरणाया अभावात्प्रभूततरपुद्गलोदयाभावस्तदभावाच्चात्यन्तं वेदनीयपीडाऽभाव इति वाङ्मात्रं, तथाहि–अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिष्वेकादशसु स्थानकेषु वेदनीयस्य गुणश्रेणीसद्भावात्प्रभूतपुद्गलोदयसद्भावः ततः किं तेषु प्राक्तनेभ्योऽधिकपीडासद्भाव इति, अपिच–यो जिने सातोदयस्तीव्रः किमसौ प्रचुरपुद्गलोदये नेति ?, अतो यत्किञ्चिदेतदिति । तदेव सातोदयवदसातोदयोऽपि केवलिन्यनिवारत इति, तयोरन्तर्मुहूर्तकालेन परिवर्तमानत्वात् । यदपि क्वचित्कैश्चिदभिधीयते–विपच्यमानतीर्थकरनाम्नो देवस्य च्यवनकाले षण्मासकालं यावदत्यन्तं सातोदय एवेत्यसावपि यदि स्यान्न नो बाधायै, केवलिनां भुक्तेरनिवारितत्वात । यदप्युच्यते–आहारविषयाकाङ्क्षारूपा क्षुद्भवति, अभिकाङ्क्षा चाहारपरिग्रहबुद्धिः, सा च मोहनीयविकारः, तस्य चापगतत्वात्केवलिनो न भुक्तिरिति, एतदप्यसमीचीनं, यतो मोहनीयविपाका क्षुन्न भवति, तद्विपाकस्य प्रतिपक्षभावनया प्रतिसंख्यानेन निवर्त्यमानत्वात्, तथाहि–कषायाः प्रतिकूलभावनया निवर्त्यन्ते तथाचोक्तम्–"उवसमेण[3] हणे कोहं, माण मद्दवया जिणे । मायं चऽज्जवभावेण, लोभं संतुट्ठिए जिणे ॥ १ ॥"

सा० १ आत्मशक्त्याविष्करणमात्रम् । २ पूर्वोक्तवादिभि, षण्मासाधिकायुषामपि केवलाद्वेत्ति । ३ उपशमेन हन्यात् क्रोध, मानं मार्दवतया जयेत्, माया चार्जवभावेन, लोभ सन्तोषतो जयेत् ॥ १ ॥

मिथ्यात्वसम्यक्त्वयोश्च परस्परनिरुपमर्दभावनाकृता प्रतीतैव, वेदोदयोऽपि विपरीतभावनया निवर्तते, तदुक्तम्– "काम ! जानामि ते मूलं, संकल्पात्किल जायसे । ततस्त्वां न करिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि ॥ १ ॥" हास्यादिषट्कमपि चेतोविकाररूपतया प्रतिसंख्यानेन निवर्तते, क्षुद्वेदनीयं तु रोगशीतोष्णादिवत्क्षीणपुद्गलविपाकि तथा न प्रतीपवासनामात्रेण निवर्ततेऽतो न मोहविपाकसमाना क्षुदिति । तदेव व्यवस्थिते यत्कैश्चिदाग्रहमहीतैर भिधीयते, यथा–'अपवर्त्यतेऽकृतार्थं नायुर्ज्ञानादयो न हीयन्ते ।' भगवदुपकृतावनन्तवीर्यं किं गतदोषो भुक्तिः ? ॥ १ ॥' तदेतद् युक्ते, यतश्छद्मस्थावस्थायामप्येतदस्तीति तत्रापि किमिति भुङ्क्ते ?, तत्र समस्तवीर्यान्तराय क्षयाभावाद् भुक्तिसद्भाव इति चेत्, तदयुक्तं, यतः किं तत्रायुषोऽपवर्तनं स्यात् किं वा चतुर्णां ज्ञानानां काचिद्धानिः स्यायेन भुक्तिरिति, तथा यथा दीर्घकालस्थितेरायुष्कं कारणमेवमाहारोऽपि । यथा सिद्धिगतेर्व्युपरतक्रियस्य ध्यानस्य परमक्षणः कारणमेवं सम्यक्त्वादिकमपीति । अनन्तवीर्यतापि तस्याहारग्रहणे सति न विरुध्यते, यथा अनन्तवीर्यवतोऽप्यीयसी क्षुदिति, एवं च स्थिते यत्किञ्चिदेतत् । अपि च–एकादश परीषहा वेदनीयकृता जिने प्राप्नुवन्ति, अपरे तु एकादश ज्ञानावरणीयादिकृतास्तत्समेऽपगता इतीयमप्युपपत्तिः केवलिनि भुक्तिं साधयति, तथाहि–क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याऽऽक्रोशवधयाञ्चालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कार

क्व० १ मोहरहितस्य नाम्नाय मोहस्यत्वात् ।

पुरस्कारप्रज्ञाज्ञानदर्शनानीत्येते द्वाविंशतिर्मुमुक्षुणा परिसोढव्याः परिषहाः, तेषां च मध्ये ज्ञानावरणीयोत्थौ प्रज्ञाज्ञानाख्यौ, दर्शनमोहनीयसंभवो दर्शनपरिषहः, अन्तरायोत्थोऽलाभपरिषहः, चारित्रमोहनीयसंभूतास्त्वमी–नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याऽऽक्रोशयाञ्चासत्कारपुरस्काराः, एते चैकादशापि जिने केवलिनि न संभवन्ति, तत्कारणानां कर्मणामपगतत्वात्, न हि कारणाभावे कचित्कार्योपपत्तिः, शेषास्त्वेकादश जिने संभवन्ति, तत्कारणस्य वेदनीयस्य विद्यमानत्वात्, ते चामी–क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलाख्याः, एते च वेदनीयप्रभवाः, तच्च केवलिनि विद्यन्ते, न च निदानानुच्छेदे निदानिन उच्छेदः संभाव्यते, अतः केवलिनि क्षुद्वेदनीयादिपीडा संभाव्यते, केवलमसावनन्तवीर्यत्वान्न विह्वलीभवति, न चासौ निष्ठितार्थो निष्प्रयोजनमेव पीडामधिसहते, न च शक्यते वक्तुम्–एवंभूतमेव तस्य भगवतः शरीरं यदुत क्षुत्पीडा न बाधते आहारमन्तरेण (च) वर्तते, यथा स्वभावेनैव प्रस्वेदादिरहितमेवं प्रक्षेपाहाररहितमित्येतच्चाप्रमाणकत्वादपकर्णनीयम् । अपि च–केवलोत्पत्तेः प्राग् भुक्तेरभ्युपगमात्केवलोत्पत्तावपि तदेवौदारिकं शरीरमाहाराद्युपसंस्कार्यम्, अथान्यथाभावः कैश्चिदुच्यते असावपि युक्तिरहितत्वादभ्युपगममात्र एवेति । तदेवं देशोनपूर्वकोटिकालस्य केवलिस्थितेः संभवादौदारिकशरीरस्थितेश्च[1] यथाऽऽयुष्कं कारणमेवं प्रक्षेपाहारोऽपि, तथाहि–तैजसशरीरेण मृदूकृतस्याभ्यवहृतस्य द्रव्यस्य स्वपर्याप्त्या परिणामितस्योत्तरोत्तरपरिणामक्रमेणौदारिकशरीरिणामनेन प्रकारेण क्षुदुद्भवो भवति । वेद-

सा० १. दीर्घकालस्थितिदर्शनाय । २. विशेषणार्थ. । ३. शरीरादिरूप ।

नीचोदये सति, इय च सामग्री सर्वापि भगवति केवलिनि संभवति, तत्किमर्थमसौ न भुङ्क्ते ?, न च घाति-चतुष्टयस्य सहकारिकारणभावोऽस्ति येन तदभावात्तदभाव इत्युच्यते । तदेवं संसारस्था जीवा विग्रहगतौ जघन्ये-नैकं समयं उत्कृष्टतः समयत्रयं भवस्थकेवली च समुद्घातावस्थः समयत्रयमनाहारकः शैलेश्यवस्थायां त्वन्तर्मुहूर्तं, सिद्धास्तु सादिकमपर्यन्तं कालमनाहारका इति स्थितं । साम्प्रतं प्रथमाहारग्रहणं येन शरीरेण करोति तद्-र्शयति–ज्योतिः–तैजसस्तदेव तत्र वा भवं तैजसं तेन कार्मणेन चाहारयति, तैजसकार्मणे हि शरीरे आसंसारभाविनी, ताभ्यामेव चोत्पत्तिदेशं गता जीवाः प्रथममाहारं कुर्वन्ति, ततः परमौदारिकमिश्रेण वैक्रियमिश्रेण वा यावच्छरीरं निष्पद्यते तावदाहारयन्ति, शरीरनिष्पत्तौ त्वौदारिकेण वैक्रियेण वाऽऽहारयन्तीति स्थितम् । साम्प्रतं परिज्ञानिक्षेपार्थमाह–तत्र नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात्परिज्ञा चतुर्धा, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यपरिज्ञां प्रतिपादयन् गाथापश्चार्द्धमाह–'द्रव्यपरिज्ञे'ति द्रव्यस्य द्रव्येण वा परिज्ञा द्रव्यपरिज्ञा, सा च परिज्ञेयद्रव्यप्राधान्यात्सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन त्रैविध्यात्त्रिविधेति । भावपरिज्ञाऽपि ज्ञपरिज्ञाप्रत्याख्यानपरिज्ञाभेदेन द्विविधेति, शेषस्त्वागमनोआगमज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तादिको विचारः आहारपरिज्ञावद्द्रष्टव्यः । गता निक्षेपनिर्युक्तिः, अधुना सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं–इह खलु आहारपरिण्णाणामज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे–इह खलु पाईणं वा ४ सव्वतो सव्वावंति च णं लोगंसि चत्तारि जीवकाया एवमाहिज्ज

ति, तंजहा-अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इहेगतिया सत्ता पुढवीजोणिया पुढवीसंभवा पुढवीवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्खत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं। णाणाविहाण तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूवियकडं संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्विता ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतित्तिमक्खायं ॥ सूत्रम्-४३ ॥ अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया। सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विप्परिणामियं सारूविकडं संतं अवरेवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा

णाणासठाणसठिया णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्विया ते जीवा कम्मोववन्नगा भवतीतिमक्खाय
॥ सूत्रम्-४४ ॥ अहावर पुरक्खाय इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा
तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेण तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्ख-
त्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाण सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति
पुढवीसरीर आउतेउवाउवणस्सइसरीर तसथावराण पाणाण सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थ
त सरीर पुव्वाहारिय तयाहारिय विपरिणामिय सारूविकड सत अवरेऽवि य ण तेसिं रुक्ख
जोणियाण रुक्खाण सरीरा णाणावन्ना जाव ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खाय। सूत्रम्-
४५॥ अहावर पुरक्खाय इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया
तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु मूलत्ताए
कंदत्ताए खंधत्ताए तयत्ताए सालत्ताए पवालत्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउ-
ट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाण रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीर
आउतेउवाउवणस्सइ० णाणाविहाण तसथावराण पाणाणं सरीर अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थ
त सरीरग जाव सारूविकड सत, अवरेऽवि य ण तेसिं रुक्खजोणियाणं मूलाण कंदाण खंधाण
तयाण सालाणं पवालाणं जाव बीयाण सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जाव णाणाविहसरीर-

पुग्गलविउव्विया ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं ॥ सूत्रम्-४६ ॥ अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोववन्नगा कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कम्मा रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं अज्झारोहत्ताए विउट्टंति; ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरेवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारुहाणं सरीरा णाणावन्ना जावमक्खायं ॥ सूत्रम्-४७ ॥ आहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु अज्झारोहेसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरेवि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावन्ना जावमक्खायं ॥ सूत्रम्-४८॥ अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्जारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारंति पुढविसरीरं आउसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावन्ना जावमक्खायं ॥ सूत्रम्-४९ ॥ आहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव

कम्मनियाणेण तत्थवुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति जाव अवरेऽवि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं मूलाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ॥ सूत्रम्-५० ॥ अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव णाणाविहजोणियासु पुढवीसु तणत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति जाव ते जीवा कम्मोववन्ना भवंतीतिमक्खायं ॥ सूत्रम्-५१ ॥ एवं पुढविजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति जावमक्खायं ॥ सूत्रम् ५२ ॥ एवं तणजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति, तणजोणियं तणसरीरं च आहारेंति जावमक्खायं । एवं तणजोणिएसु तणेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति ते जीवा जाव एवमक्खायं । एवं ओसहीणवि चत्तारि आलावगा । एवं हरियाणवि चत्तारि आलावगा ॥ सूत्रम्-५३ ॥ अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव कम्मनियाणेण तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु आयत्ताए वायत्ताए कायत्ताए कुहणत्ताए कंदुकत्ताए उव्वेहणियत्ताए निव्वेहणियत्ताए सछत्ताए छत्तगत्ताए वासाणियत्ताए कूरत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति, तेवि जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं आयत्ताणं जाव कूराणं सरीरा णाणा

वण्णा जावमक्खायं, एगो चेव आलावगो सेसा तिण्णि णत्थि। आहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं उदगजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणा वण्णा जावमक्खायं। जहा पुढविजोणियाणं रुक्खाणं चत्तारि गमा अज्झारुहाणवि तहेव, तणाणं ओसहीणं हरियाणं चत्तारि आलावगा भाणियव्वा एक्केक्के। आहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलंबुगत्ताए हडत्ताए कसेरुगत्ताए कच्छभाणियत्ताए उप्पलत्ताए पउमत्ताए कुमुयत्ताए नलिणत्ताए सुभगत्ताए सोगंधियत्ताए पोंडरियमहापोंडरियत्ताए सयपत्तत्ताए सहस्सपत्तत्ताए एवं कल्हारकोंकणयत्ताए अरविंदत्ताए तामरसत्ताए भिसभिसमुणालपुक्खलत्ताए पुक्खलच्छिभगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं जाव पुक्खलच्छिभगाणं सरीरा णाणावण्णा जावणक्खायं, एगो चेव आलावगो ॥सूत्रम्-५४॥ आहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता तेसिं चेव पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्ख-

जोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं रुक्खजोणिएहिं अज्झारोहेहिं अज्झारोहजोणिएहिं अज्झारुहेहिं अज्झारोहजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं पुढविजोणिएहिं तणेहिं तणजोणिएहिं तणेहिं तणजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं एवं ओसहीहिंवि तिन्नि आलावगा, एवं हरिएहिंवि तिन्नि अलावगा, पुढवीजोणिएहिंवि आएहिं काएहिं जाव कूरेहिं उदगजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं एवं अज्झारुहेहिंवि तिण्णि तणेहिंपि तिण्णि आलावगा, ओसहीहिंपि तिण्णि, हरिएहिंपि तिण्णि उदगजोणिएहिं उदएहिं अवएहिं जाव पुक्खलच्छिभएहिं तसपाणत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं उदगजोणियाणं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहीजोणियाणं हरियजोणियाणं रुक्खाणं अज्झारुहाणं तणाणं ओसहीणं हरियाणं मूलाणं जाव बीयाणं आयाणं कायाणं जाव कुरया(कूरा)णं उदगाणं अवगाणं जाव पुक्खलच्छिभगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं, अयरेऽयि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हरियजोणियाणं मूलजोणियाणं कंदजोणियाणं जाव बीयजोणियाणं आयजोणियाणं कायजोणियाणं जाव कूरजोणियाणं उदगजोणियाणं अवगजोणियाणं जाव पुक्खलच्छिभगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ॥ सूत्रम्-५५ ॥

सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्येदमाह-तद्यथा-श्रुतं मयाऽऽयुष्मता तु भगवतेदमाख्यातं, तद्यथा-आहार-
परिज्ञेदमध्ययनं, तस्य चायमर्थः-प्राच्यादिषु दिक्षु 'सर्वत' इत्यूर्ध्वाधो विदिक्षु च 'सव्वावंति'त्ति सर्वस्मिन्नपि
लोके क्षेत्रे प्रज्ञापकभावदिगाधारभूतेऽस्मिन् लोके चत्वारो 'बीजकाया' बीजमेव कायो येषां ते तथा, बीजं वक्ष्य-
माणं, चत्वारो 'बीजप्रकाराः'-समुत्पत्तिभेदा भवन्ति, तद्यथा-अग्रे बीजं येषामुत्पद्यते ते तलतालीसहकारादयः
शाल्यादयो वा, यदिवाऽग्राण्येवोत्पत्तौ कारणतां प्रतिपद्यन्ते येषां कोरण्टादीनां ते अग्रबीजाः, तथा मूलबीजा
आर्द्रकादयः, पर्वबीजास्त्विक्ष्वादयः, स्कन्धबीजाः सल्लक्यादयः, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-" वणस्सइकाइयाण
पंचविहा बीजवक्कंती एवमाहिज्जइ-तंजहा-अग्गमूलपोरुक्खंधबीयरुहा छट्ठावि एगेंदिया संमुच्छिमा बीया जायंते"
यथा दग्धवनस्थलीषु नानाविधानि हरितान्युद्भवन्ति पद्मिन्यो वाऽभिनवतडागादाविति । तेषां च चतुर्विधानामपि
वनस्पतिकायानां यद्यस्य बीजम्-उत्पत्तिकारणं तद्यथाबीजं तेन यथाबीजेनेति, इदमुक्तं भवति-शाल्यङ्कुरस्य
शालिबीजमुत्पत्तिकारणम्, एवमन्यदपि द्रष्टव्यं, 'यथावकाशेने'ति यो यस्यावकाशः-यद्यस्योत्पत्तिस्थानमथवा
भूम्यम्बुकालाकाशबीजसंयोगा यथावकाशे गृह्यन्ते तेनेति, तदेवं यथाबीजं यथावकाशेन च 'इह'-अस्मिन् जग-
त्येके केचन सत्त्वा ये तथाविधकर्मोदयाद्वनस्पतिषूत्पित्सवः, ते हि वनस्पतावुत्पद्यमाना अपि पृथिवीयोनिका
भवन्ति, यथा तेषां वनस्पतिबीजं कारणमेवमाधारमन्तरेणोत्पत्तेरभावात्पृथिव्यपि शैवालजम्बालादेरुदकवदिति,
तथा पृथिव्यां संभवः-सदा भवनं येषां वनस्पतीनां ते तथा, इदमुक्तं भवति-न केवलं ते तद्योनिकाः तत्स्थिति-

कायेति, तथा पृथिव्यामेव विविधभूत-प्रायत्वेन क्रमः-क्रमणं येषां ते पृथिव्युत्क्रमाः, इदमुक्तं भवति-पृथिव्यामेव तेषामूर्ध्वक्रमणलक्षणा वृद्धिर्भवति, एवं च ते तद्योनिकास्तत्संभवास्तद्व्युत्क्रमा इत्येतदन्वयापरं विधातुकाम आह-'कम्मोपगा' इत्यादि, ते हि तथाविधेन वनस्पतिकायसंभवेन कर्मणा प्रेर्यमाणास्तेष्वेव वनस्पतिषु-सामीप्येन तस्यामेव च पृथिव्यां गच्छन्तीति कर्मोपगा भण्यन्ते, ते हि कर्मवशगा वनस्पतिकायादागत्य तेष्वेव पुनरपि वनस्पतिषूत्पद्यन्ते, न चान्यत्रोत्पन्ना अन्यत्र भविष्यन्तीति, उक्तं च-"कुसुमपुरोप्ते बीजे मथुरायां नाङ्कुरः समुद्भवति। यत्रैव तस्य बीजं तत्रैवोत्पद्यते प्रसवः ॥ १ ॥" तथा ते जीवाः कर्मनिदानेन-कारणेन समाकृष्यमाणास्तत्र-पृथिव्यां वनस्पतिकाये वा व्युत्क्रमाः समागताः सन्तो नानाविधयोनिकासु पृथ्वीष्वित्यन्येषामपि वर्णा कायानामुत्पत्तिस्थानभूतासु सचित्ताचित्तमिश्रासु वा श्वेतकृष्णादिवर्णतिक्तादिरससुरभ्यादिगन्धमृदुकर्कशादिस्पर्शादिभिर्विकल्पैर्बहुप्रकारासु भूमिषु वृक्षतया विविधं वर्तन्ते विवर्धन्ते, ते च तत्रोत्पन्नास्तासां पृथिवीनां 'स्नेहं' स्निग्धभावमाददते, स एव च तेषामाहार इति, न च ते पृथिवीशरीरमाहारयन्तः पृथिव्याः पीडामुत्पादयन्ति ॥ एवमप्कायतेजोवायुवनस्पतीनामप्यायोज्यम्, अत्र च पीडानुत्पादनेऽयं दृष्टान्तः, तद्यथा-अण्डोद्भवा जीवा मातुरूष्मणा विवर्धमाना गर्भस्था एवोदरगतमाहारयन्तो नातीव पीडामुत्पादयन्ति, एवमसावपि वनस्पतिकायिकः पृथिवीस्नेहमाहारयन्नातीव तस्याः पीडामुत्पादयति उत्पद्यमानः, समुत्पन्नश्च वृद्धिमुपगतोऽसदृशवर्णरसाद्युपेतत्वात् बाधां विदध्यादपीति। एवमप्कायस्य भौमस्यान्तरिक्षस्य वा शरीरमाहारयन्ति, तथा तेजसो भस्मादिकं शरीरमा

ददति, एवं वाय्वादेरपीति द्रष्टव्यं, किं बहुनोक्तेन ?, नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणिनां यच्छरीरं तत्ते मप्तु-
त्पद्यमानाः 'अचित्त'मिति स्वकायनावष्टभ्य प्रासुकीकुर्वन्ति, यदिवा परिविध्वस्तं पृथिवीकायादिशरीरं किञ्चि-
त्प्रासुकं किञ्चित्परितापितं कुर्वन्ति, ते वनस्पतिजीवा एतेषां पृथिवीकायादीनां तच्छरीरं 'पूर्वमाहारित'मिति
तैरेव पृथिवीकायादिभिरुत्पत्तिसमये आहरियमासीत्-स्वकायत्वेन परिणामितमासीत् तदधुनाऽपि वनस्पति-
जीवस्तत्रोत्पद्यमान उत्पन्नो वा त्वचा-स्पर्शेनाहारयति, आहार्य च स्वकायत्वेन विपरिणामयति, विपरिणामितं
च तच्छरीरं स्वकायेन सह स्वरूपतां नीतं सत्तन्मयतां प्रतिपद्यते, अपराण्यपि शरीराणि मूलशाखाप्रतिशाखापत्र-
पुष्पफलादीनि तेषां पृथिवीयोनिकानां वृक्षाणां नानावर्णानि, तथाहि—स्कन्धस्यान्यथाभूतो वर्णो मूलस्य चान्या-
दृश इति, एवं यावन्नानाविधशरीरपुद्गलविकुर्वितास्ते भवन्तीति, तथाहि–नानारसवीर्यविपाका नानाविधपुद्गलोप-
चयात्सुरूपकुरूपसंस्थानाः तथा दृढाल्पसंहननाः कृशस्थूलस्कन्धाश्च भवन्तीत्येवमादिकानि नानाविधस्वरूपाणि
शरीराणि विकुर्वन्तीति स्थितं । केषांचिच्छाक्यादीनां वनस्पत्याद्याः स्थावरा जीवा एव न भवन्तीत्यतस्तत्प्रति-
षेधार्थमाह—'ते जीवा' इत्यादि, 'ते' वनस्पतिषूत्पन्ना जीवा नाजीवाः, उपयोगलक्षणत्वाज्जीवानां, तथाहि–
तेषामप्याश्रयोत्सर्पणादिकया क्रिययोपयोगो लक्ष्यते, तथा विशिष्टाहारोपचयापचयाभ्यां शरीरोपचयापचयसद्भा-
वादर्भकवत् जीवाः स्थावराः तथा छिन्नप्ररोहणात्स्वापात्सर्वत्वगपहरणे मरणादित्येवमादयो हेतवोऽत्र द्रष्टव्याः,
यदत्र कैश्चित्स्पष्टेऽपि वनस्पतीनां चैतन्येऽसिद्धानैकान्तिकत्वादिकमुक्तं स्वदर्शनानुरागात् तदपकर्णनीयं, नहि

सम्यगार्हतमतामिज्ञोऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिकोपन्यासेन व्यामोह्यते, सर्वस्य कथञ्चिदभ्युपगतत्वात्प्रतिपिद्धत्वाच्चेति। ते च जीवास्तत्र वनस्पतिषु तथाविधेन कर्मणा उपपन्नगाः, तच्चेदम्—एकेन्द्रियजातिस्थावरनामवनस्पतियोग्या गुष्कादिकमिति, तत्कर्मोदयेन तत्रोत्पन्ना इत्युच्यन्ते न पुनः कालेश्वरादिना तत्रोत्पाद्यन्ते इत्येवमाख्यात तीर्थ करादिभिरिति। एव तावत्पृथिवीयोनिका वृक्षा अभिहिताः। साम्प्रत तद्योनिकेष्वेव वनस्पतिषु अपरे समुत्पद्यन्त इत्येतद्दर्शयितुमाह—सुधर्मस्वामी शिष्योद्देशेनेदमाह—अथापरमेतदाख्यातं पुरा तीर्थंकरेण यदिवा तस्यैव वनस्पतेः पुनरपरे वक्ष्यमाणमाख्यात, तद्यथा–'इह'–अस्मिन् जगत्येके केचन तथाविधकर्मोदयवर्तिनः 'सत्त्वाः' प्राणिनो वृक्षा एव योनिः–उत्पत्तिस्थानमाश्रयो येषां ते वृक्षयोनिकाः, इह च यत्पृथिवीयोनिकेषु वृक्षेष्वभिहित तदेतेष्वपि वृक्षयोनिकेषु वनस्पतिषु समुपचयकर्तृ सर्वमायोज्य यावदाख्यातमिति। साम्प्रत वनस्पत्यवयवानधि कृत्याऽऽह—अथापरमेतदाख्यात (यदाख्यात) तद्दर्शयति–'इह' अस्मिन् जगत्येके न सर्वे तथाविधकर्मोदय-वर्तिनो वृक्षयोनिकाः सत्त्वा भवन्ति तदवयवाभिताश्च परे वनस्पतिरूपा एव प्राणिनो भवन्ति, तथा यो ह्येको वनस्पतिजीवः सर्ववृक्षावयवव्यापी भवति, तस्य चापरे तदवयवेषु मूलकन्दस्कन्धत्वक्शाखाप्रवालपत्रपुष्पफल बीजभूतेषु दशसु स्थानेषु जीवाः समुत्पद्यन्ते, ते च तत्रोत्पद्यमाना वृक्षयोनिका वृक्षोत्क्रमा वृक्षव्युत्क्रमाश्चोच्यन्ते इति, शेषं पूर्ववत्, इह च प्राक्चतुर्विधार्थप्रतिपादकानि सूत्राण्यभिहितानि, तद्यथा—वनस्पतयः पृथिव्याश्रिता भवन्तीत्येक १, तच्छरीरं चाप्कायादिशरीरं चाऽऽहारयन्तीति द्वितीयं २, तथा विध्वस्तदाहारितं शरीरमचित्त

विध्वस्तं च कृत्वाऽऽत्मसात्कुर्वन्तीति तृतीयं ३, अन्यान्यपि तेषां पृथिवीयोनिकानां वनस्पतिनां शरीराणि मूलकन्दस्कन्धादीनि नानावर्णानि भवन्तीति चतुर्थं ४, एवमत्रापि वनस्पतियोनिकानां वनस्पतीनामेवंविधार्थप्रतिपादकानि चतुःप्रकाराणि सूत्राणि द्रष्टव्यानीति यावत्ते जीवा वनस्पत्यवयवमूलकन्दस्कन्धादिरूपाः कर्मोपपन्नगा भवन्त्येवमाख्यातम् । साम्प्रतं वृक्षोपर्युत्पन्नान् वृक्षानाश्रित्याह—अथापरमेतत्पुराऽऽख्यातं यद्वक्ष्यमाणमिहैके सत्त्वा वृक्षयोनिका भवन्ति, तत्र ये ते पृथिवीयोनिका वृक्षास्तेष्वेव प्रतिप्रदेशतया येऽपरे समुत्पद्यन्ते तस्यैकस्य वनस्पतेर्मूलारम्भकस्योपचयकारिणस्ते वृक्षयोनिका इत्यभिधीयन्ते, यदि वा ये ते मूलकन्दस्कन्धशाखाप्रशाखादिकाः पूर्वोक्तदशस्थानवर्तिनस्त एवमभिधीयन्ते, तेषु च वृक्षयोनिकेषु वृक्षेषु कर्मोपादाननिष्पादितेषु उपर्युपरि अध्यारोहन्तीत्यध्यारुहाः—वृक्षोपरिजाता वृक्षा इत्यभिधीयन्ते, ते च वल्लीवृक्षाभिधानाः कामवृक्षाभिधाना वा द्रष्टव्याः, तद्भावे चापरे वनस्पतिकायाः समुत्पद्यन्ते वृक्षयोनिकेषु वनस्पतिष्विति, इहापि प्राग्वच्चत्वारि सूत्राणि द्रष्टव्यानि, तद्यथा—वृक्षयोनिकेषु वृक्षेष्वपरेऽध्यारुहाः समुत्पद्यन्ते, ते च तत्रोत्पन्नाः स्वयोनिभूतं वनस्पतिशरीरमाहारयन्ति, तथा पृथिव्यप्तेजोवाय्ववादीनां च शरीरकमाहारयन्ति, तथा तच्छरीरमाहारितं सदचित्तं विध्वस्तं विपरिणामितमात्मसात्कृतं स्वकायावयवतया व्यवस्थापयन्ति, अपराणि च तेषामध्यारुहाणां नानाविधरूपरसगन्धस्पर्शोपेतानि नानासंस्थानानि शरीराणि भवन्ति, ते जीवास्तत्र स्वकृतकर्मोपपन्ना भवन्तीत्येतदाख्यातमिति प्रथमं सूत्रम्, द्वितीयं त्विदम्—अथापरं पुराऽऽख्यातं ये ते प्राग्वृक्षयोनिकेषु वृक्षेषु अध्यारुहाः

प्रतिपादितास्तेष्वेवोपरि प्रतिप्रदेशोपचयकर्तारोऽध्यारुहवनस्पतित्वेनोपपद्यन्ते, ते च जीवा अध्यारुहप्रदेशेषूत्पन्ना अध्यारुहजीवास्तेषां स्वयोनिभूतानि शरीराण्याहारयन्ति, तत्रापराण्यपि पृथिव्यादीनि शरीराणि आहारयन्ति अपराणि चाध्यारुहसम्भवानामध्यारुहजीवानां नानाविधवर्णकादिकानि शरीराणि भवन्तीत्येवमाख्यातम्, तृतीयं त्विदम्-अथापरं पुराख्यातं, तद्यथा-इहैके सत्त्वा अध्यारुहसंभवेष्वध्यारुहेष्वध्यारुहत्वेनोत्पद्यन्ते, ये चैवमुत्पद्यन्ते तेऽध्यारुहयोनिकानामध्यारुहाणां यानि शरीराणि तानि आहारयन्ति, द्वितीयसूत्रे वृक्षयोनिकानामध्यारुहाणां यानि शरीराणि तान्यपरे अध्यारुहजीवा आहारयन्ति, तृतीये त्वध्यारुहयोनिकानामध्यारुहजीवानां शरीराणि ग्रहण्यानीति विशेषः, इह तु चतुर्थकं, तद्यथा-अथापरमिदमाख्यातं, तद्यथा-इहैके सत्त्वा अध्यारुहयोनिकेष्वध्यारुहेषु मूलकन्दस्कन्धत्वक्शाखाप्रवालपत्रपुष्पफलबीजभावेनोत्पद्यन्ते, ते च यथाविधकर्मोपगा भवन्तीत्येतदाख्यातमिति, शेषं तदेवेति । साम्प्रत वृक्षव्यतिरिक्तं शेष वनस्प(ग्रन्थाग्रम्-१०५००)तिकायमाश्रित्याह-अथापरमिदमाख्यातं यदुत्तरत्र वक्ष्यते, तद्यथा-इहैके सत्त्वाः पृथिवीयोनिकाः पृथिवीसम्भवाः पृथिवीव्युत्क्रमा इत्यादयो यथा वृक्षेषु चत्वार आलापका एवं तृणान्यप्याश्रित्य द्रष्टव्याः, ते चामी-नानाविधासु पृथिवीयोनिषु तृणत्वेनोत्पद्यन्ते पृथिवी शरीरं चाहारयन्ति द्वितीय तु पृथ्वीयोनिकेषु तृणेषूत्पद्यन्ते तृणशरीरं चाहारयन्तीति तृतीयं तु तृणयोनिकेषु तृणेषूत्पद्यन्ते तृणयोनिकतृणशरीरं चाहारयन्तीति चतुर्थे तृणयोनिकेषु तृणावयवेषु मूलादिषु दशप्रकारेषूत्पद्यन्ते तृणशरीरं चाहारयन्ति, इत्येवं चापवाक्यातमिति । एवमौषध्याश्रयाश्चत्वार आलापका भणनीयाः, नवरमोषधि

ग्रहणं कर्तव्यम् । एवं हरिताश्रयाश्चत्वार आलापका भणनीयाः । कुहणेषु त्वेक एवालापको द्रष्टव्यः, तद्योनिका-
नामपरेषामभावादिति भावः । इह चामी वनस्पतिविशेषा लोकव्यवहारतोऽनुगन्तव्याः प्रज्ञापनातो वाऽवसेया
इति । अत्र च सर्वेषामेव पृथिवीयोनिकत्वात्पृथिवीसमाश्रयत्वेनाभिहिताः । इह च स्थावराणां वनस्पतेरेव प्रस्पष्ट-
चैतन्यलक्षणत्वात्तस्यैव प्राक् प्रदर्शितं चैतन्यम्, साम्प्रतमप्काययोनिकस्य वनस्पतेः स्वरूपं दर्शयितुमाह—अथान-
न्तरमेतद्वक्ष्यमाणमाख्यातं, तद्यथा—इहैके सत्त्वास्तथाविधकर्मोदयादुदकं योनिः—उत्पत्तिस्थानं येषां ते तथा,
तथोदके सम्भवो येषां ते तथा, यावत्कर्मनिदानेन संदानितास्तदुपक्रमा भवन्तीति । ते च तत्कर्मवशगा नाना- ९
विधयोनिषूदकेषु वृक्षत्वेन व्युत्क्रामन्ति—उत्पद्यन्ते । ये च जीवा उदकयोनिका वृक्षत्वेनोत्पन्नास्ते तच्छरीरम्—
उदकशरीरमाहारयन्ति, न केवलं तदेवान्यदपि पृथिवीकायादिशरीरमाहारयन्तीति । शेषं पूर्ववत् नेयम् । यथा
पृथिवीयोनिकानां वृक्षाणां चत्वार आलापका एवमुदकयोनिकानामपि वृक्षाणां भवन्तीत्येवं द्रष्टव्यं, तदुत्पन्नानां
त्वपरविकल्पाभावादेक एवालापको भवति, एतेषां हि उदकाकृतीनां वनस्पतिकायानां तथा अवकपनकशैवला-
दीनामपरस्य प्रागुक्तस्य विकल्पस्याभावादिति । एते च उदकाश्रया वनस्पतिविशेषाः कलम्बुकाहडादयो लोक- १०
व्यवहारतोऽवसेया इति । साम्प्रतमन्येन प्रकारेण वनस्पत्याश्रयमालापकत्रयं दर्शयितुमाह—तद्यथा—पृथिवी-
योनिकैर्वृक्षैर्वृक्षयोनिकैर्वृक्षैस्तथा वृक्षयोनिकैर्मूलादिभिरिति, एवं वृक्षयोनिकैरध्यारुहैस्तथाऽध्यारुहयोनिकैरध्यारुहै-

त्वचाभ्यारुहयोनिकैर्मूलादिभिरिति । एवमन्येऽपि तृणादयो द्रष्टव्याः । एवमुदकयोनिकेष्वपि वृक्षेषु योजनीयं । तदेवं पृथिवीयोनिकवनस्पतेरुदकयोनिकवनस्पतेश्च भेदानुपदर्श्याधुना तदनुभावेनोपसंजिघृक्षुराह—'ते जीवा' इत्यादि, ते वनस्पतिसमुत्पन्ना जीवाः पृथिवीयोनिकानां तथोदकयोनिकानां वृक्षाध्यारुहतृणौषधिहरितयोनिकानां वृक्षाणां पायत्वेनाहारयन्तीत्येतदासम्पादितमिति, तथा त्रसानां प्राणिनां शरीरमाहारयन्त्येतदवधाने द्रष्टव्यमिति । तदेवं वनस्पतिकायिकानां सुगतिपायचैतन्यानां स्वरूपमभिहितं, शेषाः पृथ्वीकायादयश्चत्वार एकेन्द्रिया उपरत्र प्रतिपादयिष्यन्ते, साम्प्रतं त्रसकायस्यावसरः, स च नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवभेदभिन्नः, तत्र नारका अप्रत्यक्षत्वेनानुमानग्राह्याः—(तथाहि-) दुष्कृतकर्मफलभुजः केचन सन्तीत्येवं ते ग्राह्याः । तदाहारोऽप्येकान्तेनाशुभपुद्गलनिर्वर्तित ओजसा न प्रक्षेपेणेति । देवा अप्यधुना बाहुल्येनानुमानगम्या एव, तेषामप्याहारः शुभ एकान्तेनौजोनिर्वर्तितो न प्रक्षेपकृत इति, स चाभोगनिर्वर्तितोऽनाभोगकृतश्च, तत्रानाभोगकृतः प्रतिसमयभावी आभोगकृतश्च जघन्येन चतुर्थभक्तकृत उत्कृष्टतस्तु त्रयस्त्रिंशद्वर्षसहस्रनिष्पादित इति । शेषास्तु तिर्यङ्मनुष्याः तेषां च मध्ये मनुष्याणामभ्यर्हितत्वात्तानेव प्राग्दर्शयितुमाह—

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं मणुस्साणं तंजहा—कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतर-

प्र० १ एवमन्येऽपि तृणादियोनिकेष्वपि वृक्षेषु योजनीयं तदेव प्र० । २ तयोरेकमेव वृक्षा प्र० । ३ सर्वेष्वादर्शेष्वस्ति पाठ एषः तथापि यीयमानोऽप्यसम्भवीति इति प्रतिभाति । ४ लोमाहारोऽप्यमीषामस्त्येव किन्तु वाचितस्तेन केवलं प्रक्षेप प्रतिषिद्धः ।

दीवगाणं आरियाणं मिलक्खुयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणिए एत्थ णं मेहुणवत्तियाए [व] णामं संजोगे समुप्पज्जइ, दुहओवि सिणेहं संचिणंति, तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा माओउयं पिउ-सुक्कं तं तदुभयं संसट्ठं कलुसं किब्बिसं तं पढमत्ताए आहारमाहारेंति, ततो पच्छा जं से माया णाणाविहाओ रसविहीओ आहारमाहारेति ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति आणुपुव्वेण वुड्ढा पलिपागमणुपवन्ना ततो कायातो अभिनिवट्टमाणा इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति णपुंसगं वेगया जणयंति, ते जीवा डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पिं आहारेंति, आणुपुव्वेणं वुड्ढा ओयणं कुम्मासं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं मणुस्सगाणं कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खूणं सरीरा णाणावण्णा भवंतीतिमक्खायम् ॥ सूत्रम्-५६ ॥

अथानन्तरमेतत् 'पुरा'–पूर्वमाख्यातं, तद्यथा–आर्याणामनार्याणां च कर्मभूमिजाकर्मभूमिजादीनां मनुष्याणां नानाविधयोनिकानां स्वरूपं वक्ष्यमाणनीत्या समाख्यातं, तेषां च स्त्रीपुंनपुंसकभेदभिन्नानां 'यथाबीजेने'ति यद्यस्य बीजं, तत्र स्त्रियाः संबन्धि शोणितं पुरुषस्य शुक्रं एतदुभयमप्यविध्वस्तं, शुक्राधिकं सत्पुरुषस्य शोणिताधिकं स्त्रियास्तत्समता नपुंसकस्य कारणतां प्रतिपद्यते, तथा 'यथावकाशेने'ति यो यस्यावकाशो मातुरुदर-

रूपाविका, तत्रापि किल वामा स्त्रियो दक्षिणा कुक्षिः पुरुषस्योभयाश्रितः षण्ढ इति । अत्र चाविध्वस्ता योनिरविध्वस्तं बीजमिति चत्वारो भङ्गाः, तत्राद्याद एव भङ्गक उत्पत्तेरवकाशो न शेषेषु त्रिष्विति । अत्र च स्त्रीपुंसयोर्वेदोदये सति पूर्वकर्मनिर्वर्तितायां योनौ 'मैथुनप्रत्ययिको'–रतामिलापोदयजनितोऽग्निकारणयोररणि काष्ठयोरिव संयोगः समुत्पद्यते, तत्संयोगे च तच्छुक्रशोणिते समुपादाय तत्रोत्पित्सवो जन्तवस्तैजसकार्मणाभ्यां शरीराभ्यां कर्मरज्जुसंदानितास्तत्रोत्पद्यन्ते । त च प्रथममुभयोरपि स्नेहमाचिन्वन्त्यविध्वस्तायां योनौ सत्यामिति, विध्वस्यते तु योनिः पञ्चपञ्चाशिका (पदा) नारी सप्तसप्ततिकः पुमान् इति, तथा द्वादश मुहूर्तानि यावच्छुक्रशोणिते अविध्वस्तयोनिके भवतः तत ऊर्ध्वं ध्वंसमुपगच्छत इति । तत्र च जीवा उभयोरपि स्नेहमाहार्य स्वकर्मविपाकेन यथास्वं स्त्रीपुंनपुंसकभावेन 'विउट्टंति'त्ति–वर्तन्ते समुत्पद्यन्त इतियावत्, तदुत्तरकाल च जीवास्ते प्रविष्टाः सन्तः स्त्रियाऽभ्यवहारितस्याहारस्य निर्यासं स्नेहमाददति, तत्स्नेहेन च तेषां जन्तूनां क्रमोपचयात् अनेन क्रमेण निष्पत्ति रुपजायते–'सत्ताह कललं होइ, सत्ताह होइ बुब्बुयं' इत्यादि । तदेवमनेन क्रमेण तदेकदेशेन वा मातुराहारमोजसा मिश्रेण वा लोमभिर्वाऽऽनुपूर्व्येणाहारयन्ति 'यथाक्रमम्'–आनुपूर्व्येण वृद्धिमुपागताः सन्तो 'गर्भपरिपाक'– गर्भनिष्पत्तिमनुप्रपन्नास्ततो मातुः कायादभिनिर्वर्तमानाः–पृथग्भवन्तः सन्तस्तद्योनेर्निर्गच्छन्ति । ते च तथाविध कर्मोदयाद्भवत्याः स्त्रीभावमप्येकका 'जनयन्ति'–उत्पादयन्त्यपरे केचन पुमांसं नपुंसकभावं च, इदमुक्तं भवति– स्त्रीपुंनपुंसकभावः प्राणिनां स्वकृतकर्मनिर्वर्तितो भवति, न पुनर्यो यादृगिह भवे सोऽमुष्मिन्नपि तादृगेवेति, ते च

तदहर्जातवालकाः सन्तः पूर्वभवाभ्यासादाहाराभिलाषिणो मातुः स्तनस्तन्यमाहारयन्ति, तदाहारेण चानुपूर्व्येण च वृद्धास्तदुत्तरकालं नवनीतदध्योदनादिकं यात्कुल्माषान् भुञ्जते, तथाऽऽहारत्वेनोपगतांस्त्रसान् स्थावरांश्च प्राणिनस्ते जीवा आहारयन्ति, तथा नानाविधपृथिवीशरीरं लवणादिकं सचेतनमचेतनं वाऽऽहारयन्ति, तच्चाहारितमात्मसात्कृतं सारूप्यमापादितं सत् रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातव इति सप्तधा व्यवस्थापयन्ति, अपराण्यपि तेषां नानाविधमनुष्याणां शरीराणि नानावर्णान्याविर्भवन्ति, ते च तद्योनिकत्वात्तदाधारभूतानि नानावर्णानि शरीराण्याहारयन्तीत्येवमाख्यातमिति । एवं तावद्गर्भव्युत्क्रान्तिजमनुष्याः प्रतिपादिताः, तदनन्तरं संमूर्च्छनजानामवसरः, तांश्चोत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामि, साम्प्रत तिर्यग्योनिकाः, तत्रापि जलचरानुद्दिश्याह—

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं जलचराणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडा तहेव जाव ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति, आणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुपवन्ना ततो कायाओ अभिनिवट्टमाणा अंडं वेगया जणयंति, पोयं वेगया जणयंति; से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगया जणयंति, पुरिसं वेगया जणयंति, नपुंसगं वेगया जणयंति, ते जीवा डहरा समाणा आउसिणेहमाहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं जलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मच्छाणं

सुसुमाराण सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं। अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा–एगखुराणं दुखुराणं गंडीपदाणं सणप्फयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थिपुरिसस्स य कम्म जाव मेहुणवत्तिए णामं संजोगे समुप्पज्जइ, ते दुहओ सिणेहं संचिणंति, तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए जाव विउट्टंति, ते जीवा माओउयं पिउसुक्कं एवं जहा मणुस्साणं इत्थिंपि वेगया जणयंति पुरिसंपि नपुंसगंपि, ते जीवा डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पिं आहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं जाव सणप्फयाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं। अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा–अहीणं अयगराणं आसालियाणं महोरगाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिस जाव एत्थ णं मेहुणे एवं तं चेव, नाणत्तं अंडं वेगइया जणयंति, पोयं वेगइया जणयंति, से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगइया जणयंति, पुरिसंपि णपुंसगंपि; ते जीवा डहरा समाणा वाउकायमाहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरपाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्ख० अहीणं जाव महोरगाणं

सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जावमक्खायं। अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा-गोहाणं नउलाणं सिहाणं सरडाणं सल्लाणं सरवाणं खराणं घरकोइलियाणं विस्संभराणं मुसगाणं मंगुसाणं पयलाइयाणं बिरालियाणं जोहाणं चउप्पाइयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य जहा उरपरिसप्पाणं तहा भाणियव्वं जाव सारूविकडं संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पपंचिंदियथलयरतिरिक्खाणं तं० गोहाणं जावमक्खायं। अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं जलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा-चम्मपक्खीणं, लोमपक्खीणं, समुग्गपक्खीणं, विततपक्खीणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए जहा उरपरिसप्पाणं, नाणत्तं ते जीवा डहरा समाणा माउगात्तसिणेहमाहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चम्मपक्खीणं जावमक्खायं ॥ सूत्रम्-५७ ॥

अथानन्तरमेतद्वक्ष्यमाणं पूर्वमाख्यातं, तद्यथा-नानाविधजलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां संबन्धिनः कांश्चित्स्वनामग्राहमाह, तद्यथा-'मच्छाणं जाव सुंसुमाराण'मित्यादि, तेषां मत्स्यकच्छपमकरग्राहसुंसुमारादीनां यथाबीजेन-यस्य यथा यद्बीजं यथाबीजं तेन तथा यथावकाशेन-यो यस्योदरादावकाशस्तेन स्त्रियाः पुरुषस्य च

स्वकर्मनिर्वर्तितायां योनावुत्पद्यन्ते। ते च तत्राभिव्यक्ता मातुराहारेण वृद्धिमुपगताः स्त्रीपुंनपुंसकानामन्यतमत्वे-नोत्पद्यन्ते, ते च जीवा बालका गर्भाद्व्युत्क्रान्ताः सन्तस्तदनन्तरं यावत् ' डहर 'त्ति लघवस्तावदप्स्नेहम्—अप्कायमेवाहारयन्ति आनुपूर्व्येण च वृद्धाः सन्तो वनस्पतिकायं तथाऽपरांश्च त्रसान् स्थावरांश्चाहारयन्ति यावत्पञ्चे-न्द्रियानप्याहारयन्ति, तथा चोक्तम्—" अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम, शतयोजनविस्तरः। तिमिङ्गिलगिलोऽप्यस्ति, तद्गिलोऽप्यस्ति, राघव ! ॥ १ ॥ " तथा ते जीवाः पृथिवीशरीरं—कर्दमस्वरूपं क्रमेण वृद्धिमुपगताः सन्त आहारयन्ति, तथाहारितं सत्समानरूपीकृतमात्मसात्परिणामयन्ति, शेषं सुगमं, यावत्कर्मोपगता भवन्तीत्येवमाख्यातम्। साम्प्रतं स्थलचरानुद्दिश्याह—' अहावर 'मित्यादि, अथापरमेतदाख्यातं नानाविधानां चतुष्पदानां, तद्यथा—एकखुराणामश्वखरादीनां, तथा द्विखुराणां—गोमहिष्यादीनां, तथा गण्डीपदानां—हस्तिगण्डकादीनां, तथा सनखपदानां—सिंहव्याघ्रादीनां; यथाबीजेन यथावकाशेन सकलपर्याप्तिमवाप्योत्पद्यन्ते ते चोत्पन्नाः सन्त-स्तदनन्तरं मातुः स्तन्यमाहारयन्तीति, क्रमेण च वृद्धिमुपगताः सन्तोऽपरेषामपि शरीरमाहारयन्तीति शेषं सुगमं यावत्कर्मोपगता भवन्तीति। साम्प्रतमुरःपरिसर्पानुद्दिश्याह—' नानाविधानां '—बहुप्रकाराणामुरसा ये प्रसर्पन्ति तेषां, तद्यथा—अहीनामजगराणामाशालिकानां महोरगाणां यथाबीजत्वेन यथावकाशेन चोत्पद्याऽण्डजत्वेन पोतजत्वेन वा गर्भान्निर्गच्छन्तीति। ते च निर्गता मातुरूष्माणं वायुं चाहारयन्ति, तेषां च जातिस्वभावेन तेनैवाहारेण क्षीरादिवच्च वृद्धिरुपजायते, शेषं सुगमं, यावदाख्यातमिति। साम्प्रतं भुजपरिसर्पानुद्दिश्याह—नानाविधानां

भुजाभ्यां ये परिसर्प्पन्ति तेषां, तद्यथा-गोधानकुलादीनां स्वकर्मोपात्तेन यथाबीजेन यथावकाशेन चोत्पत्तिर्भवति, ते चाण्डजत्वेन पोतजत्वेन चोत्पन्नास्तदनन्तरं मातुरूष्मणा वायुना चाऽऽहारितेन वृद्धिमुपयान्ति, शेषं सुगमं, यावदाख्यातमिति। साम्प्रतं खचरानुद्दिश्याह-नानाविधानां खेचराणामुत्पत्तिरेवं द्रष्टव्या-तद्यथा-चर्मपक्षिणां-चर्मकीटवल्गुलीप्रभृतीनां तथा लोमपक्षिणां-सारसराजहंसकाकबकादीनां तथा समुद्रपक्षिविततपक्षिणां बहिर्द्वीपवर्तिनामेतेषां यथाबीजेन यथावकाशेन चोत्पन्नानामाहारक्रियैवमुपजायते, तद्यथा—सा पक्षिणी तदण्डकं स्वपक्षाभ्यामावृत्य तावत्तिष्ठति यावत्तदण्डकं तदूष्मणाहारितेन वृद्धिमुपगतं सत् कललावस्थां परित्यज्य चञ्च्वादिकानवयवान् परिसमापय्य भेदमुपयाति, तदुत्तरकालमपि मात्रोपनीतेनाहारेण वृद्धिमुपयाति, शेषं प्राग्वत्। व्याख्याताः पञ्चेन्द्रिया मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च, तेषां चाहारो द्वेधा—आभोगनिर्वर्तितोऽनाभोगनिर्वर्तितश्च, तत्रानाभोगनिर्वर्तितः प्रतिक्षणभावी आभोगनिर्वर्तितस्तु यथास्वं क्षुद्वेदनीयोदयभावीति। साम्प्रतं विकलेन्द्रियानुद्दिश्याह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पोग्गलाणं सरीरेसु वा, सचित्तेसु वा, अचित्तेसु वा, अणुसूयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अणुसूयगाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं। एवं

पुरूयसंभवत्ताए एवं खुरदुगत्ताए ॥ सूत्रम्–५८ ॥

अथानन्तरमेवदास्यायं 'इह'–अस्मिन् संसारे एके केचन तथाविधकर्मोदयवर्तिनः 'सत्त्वाः'–प्राणिनो नानाविधयोनिकाः कर्मनिदानेन–स्वकृतकर्मोपादानभूतेन तत्रोत्पत्तिस्थाने 'उपक्रम्य'–आगत्य नानाविधत्रसस्थावराणां शरीरेषु सचित्तेषु अचित्तेषु वा 'अणुसूयत्ताए'त्ति–अपरशरीराश्रिततया परनिश्रया विवर्तन्ते समुत्पद्यन्ते इति यावत्, ते च जीवा विकलेन्द्रियाः सचित्तेषु मनुष्यादिशरीरेषु यूकालिक्षादिकत्वेनोत्पद्यन्ते, तथा तत्परिभुज्यमानेषु मञ्चकादिष्वचित्तेषु मत्कुणत्वेनाविर्भवन्ति, तथाऽचित्तीभूतेषु मनुष्यादिशरीरकेषु विकलेन्द्रियशरीरेषु वा ते जीवा अनुस्यूतत्वेन–परनिश्रया कृम्यादित्वेनोत्पद्यन्ते, अपरे तु सचित्ते तेजःकायादौ मूषिकादित्वेनोत्पद्यन्ते, यत्र चाग्निस्तत्र वायुरित्यतस्तद्वृक्षा अपि द्रष्टव्याः, तथा पृथिवीमनुमित्य कुन्थुपिपीलिकादयो वर्षादावुष्णा संस्वेदजा जायन्ते, तथोदके पूतरकाकोत्कुणकभ्रमरिकाछेदनकादयः समुत्पद्यन्ते, तथा वनस्पतिकाये पनकभ्रमरादयो जायन्ते। तदेव ते जीवास्तानि स्वयोनिशरीराण्याहारयन्ति इत्येवमाख्यातमिति। साम्प्रतं पञ्चेन्द्रियमूत्रपुरीषोद्भवानसुमतः प्रतिपादयितुमाह–'एव'मिति पूर्वोक्तपरामर्शः, यथा सचित्ताचित्तशरीरनिश्रया विकलेन्द्रियाः समुत्पद्यन्ते, तथा तत्संभवेषु मूत्रपुरीषवान्तादिषु अपरे जन्तवो दुष्टं–विरूपं रूपं येषां कृम्यादीनां ते दुरूपास्तत्संभवत्वेन–तद्भावेनोत्पद्यन्ते, ते च तत्र विष्ठादौ देहान्निर्गते अनिर्गते वा समुत्पद्यमाना तस्यमात्म तदेव विष्ठादिकं स्वयोनिभूतमाहारयन्ति, शेषं प्राग्वत्। साम्प्रतं सचित्तशरीराश्रयम् जन्तून् प्रतिपादयितुमाह–'एव'मिति,

मिति, यथा मूत्रपुरीषादावुत्पादस्तथा तिर्यक्शरीरेषु 'खुरदुगत्ताए'त्ति–चर्मकीटतया समुत्पद्यन्ते, इदमुक्तं भवति–जीवतामेव गोमहिष्यादीनां चर्मणोऽन्तः प्राणिनः संमूर्च्छन्ते, ते च तन्मांसचर्मणी भक्षयन्ति, भक्षयन्तश्चर्मणो विवराणि विदधति, गलच्छोणितेषु विवरेषु तिष्ठन्तस्तदेव शोणितमाहारयन्ति, तथा अचित्तगवादिशरीरेऽपि, तथा सचित्ताचित्तवनस्पतिशरीरेऽपि घुणकीटकाः संमूर्च्छन्ते, ते च तत्र संमूर्च्छन्तस्तच्छरीरमाहारयन्तीति। साम्प्रतमप्कायं प्रतिपिपादयिषुस्तत्कारणभूतवातप्रतिपादनपूर्वकं प्रतिपादयतीत्याह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा तं सरीरगं वायसंसिद्धं वा वायसंगहियं वा वायपरिग्गहियं उड्ढवाएसु उड्ढभागी भवति, अहेवाएसु अहेभागी भवति, तिरियवाएसु तिरियभागी भवति; तंजहा–ओसा हिमए महिया करए हरतणुए सुद्धोदए, ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं ओसाणं जाव सुद्धोदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं। अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा तसथावरजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं

तसथावरजोणियाणं उदगाण सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं। अहावर पुरक्खाय इहेगतिया सत्ता उदगजोणियाण जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं उदगजोणियाण उदगाणं सिणेहमाहारेंति, त जीवा आहारेंति पुढविसरीर जाव सत, अवरेऽवि य ण तेसिं उदगगजोणियाण उदगाण सरीरा णाणावण्णा जावमक्खाय। अहावर पुरक्खाय इहेगतिया सत्ता उदगजोणियाण जाव कम्मनियाणेण तत्थवुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु तसपाणत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं उदगजोणियाण उदगाण सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीर जाव सत, अवरेऽवि य ण तेसिं उदगजोणियाण तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खाय ॥ सूत्रम्–५९ ॥

अथानन्तरमेतद्वक्ष्यमाण 'पुरा'–पूर्वमाख्यात, 'इह'–अस्मिन् जगत्येके सत्त्वास्तथाविधकर्मोदयाद् नाना विधयोनिकाः सन्तो यावत्कर्मनिदानेन 'तत्र'–तस्मिन्वातयोनिकेऽप्काये 'व्युत्क्रम्य'–आगत्य 'नानावि धानां'–बहुप्रकाराणां 'त्रसानां'–दर्दुरप्रभृतीनां 'स्थावराणां च'–हरितलवणादीनां प्राणिनां सचित्ताचित्तमेद भिन्नेषु शरीरेषु तदप्कायस्शरीरं वातयोनिकत्वादप्कायस्य वायुनोपादानकारणभूतेन सम्यक् 'संसिद्ध'–निष्पादित १० तथा वातेनैव सम्यग् गृहीतमभ्रकपटलान्तर्निर्भूय तथा वातेनान्योऽन्यानुगतत्वात्परिगत तयोर्भ्रंगतेषु वातेषु र्ध्वमागी मवत्यप्काय्यो, मगनगतवातवशादिति संमूर्च्छत मत, तथाऽधस्तादूर्ध्वेषु वातेषु तद्वशादूर्ध्वस्यघोमामी

अप्कायः, एवं तिर्यग्गतेषु वातेषु तिर्यग्भागी भवत्यप्कायः, इदमुक्तं भवति—वातयोनिकत्वादप्कायस्य यत्र यत्रासौ तथाविधपरिणामपरिणतो भवति तत्र तत्र तत्कार्यभूतं जलमपि संमूर्च्छते, तस्य चाभिधानपूर्वकं भेदं दर्शयितुमाह—तद्यथा—'ओस'त्ति—अवश्यायः 'हिमये'ति—शिशिरादौ वातेरिता हिमकणा महिकाः—धूमिकाः करकाः—प्रतीताः 'हरितणुय'त्ति—तृणाग्रव्यवस्थिता जलबिन्दवः शुद्धोदकं—प्रतीतमिति। 'इह'—अस्मिन्नुदकप्रस्तावे एके सत्त्वास्तत्रोत्पद्यन्ते स्वकर्मवशगास्तत्रोत्पन्नास्ते जीवास्तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां स्वोत्पत्त्याधारभूतानां स्नेहमाहारयन्ति, ते जीवास्तच्छरीरमाहारयन्ति, अनाहारका न भवन्तीत्यर्थः, शेषं सुगमं यावदेतदाख्यातमिति। तदेवं वातयोनिकमप्कायं प्रदर्श्याधुनाप्कायसंभवमेवाप्कायं दर्शयितुमाह—अथापरमाख्यातं 'इह'—अस्मिन् जगति उदकाधिकारे वा एके सत्त्वास्तथाविधकर्मोदयाद्वातवशोत्पन्नत्रसस्थावरशरीराधारमुदकं योनिः—उत्पत्तिस्थानं येषां ते तथा, तथोदकसंभवा यावत्कर्मनिदानेन तत्रोत्पित्सवस्त्रसस्थावरयोनिकेषूदकेष्वपरोदकतया 'विवर्तन्ते'—समुत्पद्यन्ते, ते चोदकजीवास्तेषां त्रसस्थावरयोनिकानामुदकानां स्नेहमाहारयन्ति अन्यान्यपि पृथिव्यादिशरीराण्याहारयन्ति, तच्च पृथिव्यादिशरीरमाहारितं सत् सारूप्यमानीयात्मसात्प्रकुर्वन्त्यपराण्यपि तत्र त्रसस्थावरशरीराणि विवर्तन्ते, तेषां चोदकयोनिकानामुदकानां नानाविधानि शरीराणि विवर्तन्ते इत्येतदाख्यातम्। तदेवं त्रसस्थावरशरीरसंभवमुदकं योनित्वेन प्रदर्श्याधुना निर्विशेषणमप्कायसंभवमेवाप्कायं दर्शयितुमाह—अथापरमेतदाख्यातं 'इह'—अस्मिन् जगत्युदकाधिकारे वा एके सत्त्वाः स्वकृतकर्मोदयादुदकयोनिषूद-

केषुत्पद्यन्ते, ते च तेषामुदकसंभवानामुदकजीवानामात्माधारभूतानां शरीरमाहारयन्ति, शेषं सुगमं यावदाख्यात मिति। साम्प्रतमुदकाधारान् परान् पूतरकादिकांस्त्रसान् दर्शयितुमाह—अथापरमेतदाख्यातमिहैके सत्त्वा उदकेषु उदकयोनिषु चोदकेषु त्रसप्राणितया पूतरकादित्वेन 'विवर्तन्ते'—समुत्पद्यन्ते, ते चोत्पद्यमानाः समुत्पन्नाश्च तेषा मुदकयोनिकानामुदकानां स्नेहमाहारयन्ति, शेषं सुगमं यावदाख्यातमिति। साम्प्रतं तेजःकायमुद्दिश्याह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा
णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताए ९
विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति
पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा
जावमक्खायं, सेसा तिन्नि आलावगा जहा उदगाणं। अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता
णाणाविहजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं
सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा वाउकायत्ताए विउट्टंति, जहा अगणीणं तहा भाणियव्वा,
चत्तारि गमा॥ सूत्रम्–९०॥ १०

अथैतदपरमाख्यातं, 'इह'—अस्मिन् संसारे एके केचन 'सत्त्वाः'—प्राणिनस्तथाविधकर्मोदयवर्तिनो नाना विधयोनयः प्राक् सन्तः पूर्वजन्मनि तथाविधं कर्मोपादाय तत्कर्मनिदानेन नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणिनां

शरीरेषु सचित्तेष्वचित्तेषु चाग्नित्वेन 'विवर्तन्ते' प्रादुर्भवन्ति, तथाहि—पञ्चेन्द्रियतिरश्चां दन्तिमहिषादीनां परस्परं युद्धावसरे विषाणसंघर्षे सति अग्निरुत्तिष्ठते, एमचित्तेष्वपि तदस्थिसंघर्षादग्नेरुत्थानं, तथा द्वीन्द्रियादिशरीरेष्वपि यथासंभवमायोजनीयं, तथा स्थावरेष्वपि वनस्पत्युपलादिषु सचित्ताचित्तेष्वग्निजीवाः समुत्पद्यन्ते, ते चाग्निजीवास्तत्रोत्पन्नास्तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां स्नेहमाहारयन्ति, शेषं सुगमं यावद्भवन्तीत्येवमाख्यातम् । अपरे त्रयोऽप्यालापकाः प्राग्वद् द्रष्टव्या इति । साम्प्रतं वायुकायमुपदिश्याह—'अहावर'मित्यादि, अथापरमेतदाख्यातमित्याद्यग्निकायगमेन व्याख्येयम् । साम्प्रतमशेषजीवाधारं पृथिवीकायमधिकृत्याह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा पुढवित्ताए सक्करत्ताए वालुयत्ताए इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ—" पुढवी य सक्करा वालुया य उवले सिला य लोणूसे । अय तउय तंब सीसग रुप्प सुवण्णे य वइरे य ॥ १ ॥ हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजणपवाले । अब्भपडलब्भवालुय बायरकाए मणिविहाणा ॥ २ ॥ गोमेज्जए य रुयए अंके फलिहे य लोहियक्खे य । मरगयमसारगल्ले भुयमोयग इंदणीले य ॥ ३ ॥ चंदण गेरुय हंसगब्भ पुलए सोगंधिए य बोद्धव्वे । चंदप्पभ वेरुलिए जलकंते सूरकंते य ॥ ४ ॥" एयाओ एएसु भाणि-

१ दन्तशृङ्गयो परिग्रहापेक्षया सचित्तांशयुक्तत्वापेक्षया वा अचित्तभेदभिन्नता । २ त्रसोत्पत्तियुक्ता ।

पव्याओ गाहाओ जाव सूरकन्तत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहाण तसथावराण पाणाण सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाण पुढवीण जाव सूरकंताण सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं, सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं ॥ सूत्रम्-६१ ॥

अथापरमेतत्सूत्रमाख्यात इहैके सत्त्वाः पूर्वं नानाविधयोनिकाः स्वकृतकर्मवशा नानाविधत्रसस्थावराणां शरीरेषु सचित्तेषु अचित्तेषु वा पृथिवीत्वेनोत्पद्यन्ते, तद्यथा-सर्पशिरःसु मणयः करिदन्तेषु मौक्तिकानि विकलेन्द्रियेष्वपि शुक्त्यादिषु मौक्तिकानि स्थावरेष्वपि वेण्वादिषु वान्येवेति, एवमचित्तेषूषरादिषु लवणभावेनोत्पद्यन्ते, तदेवं पृथिवीकायिका नानाविधासु पृथिवीषु शर्करावालुकोपलशिलालवणादिभावेन तथा गोमेदकादिरत्नभावेन च बादरमणिविधानतया समुत्पद्यन्ते, अत्र सुगम यावच्चत्वारोऽप्यालापका उदकगमेन नेतव्या इति । साम्प्रतं सर्वोत्तरमंत्रारद्वारेण सर्वजीवान् सामान्यतो बिभणिषुराह—

अहावरं पुरक्खायं सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरवुक्कमा सरीराहारा कम्मोवगा कम्मनियाणा कम्मगतीया कम्मठिइया कम्मणा चेव विप्परियासमुवेंति । से एवमायाणह से एवमायाणित्ता आहारगुत्ते सहिए समिए सया जए त्तिबेमि ॥ सूत्रम्-६२ ॥

बियसुयक्खंधस्स आहारपरिण्णा णाम तइयमज्झयणं समत्तं ।

अथापरमेतदाख्यातं, तद्यथा—सर्वे 'प्राणाः'–प्राणिनोऽत्र च प्राणिभूतजीवसत्त्वशब्दाः पर्यायत्वेन द्रष्टव्याः, कथञ्चिद्भेदं वाऽऽश्रित्य व्याख्येयाः, ते च नानाविधयोनिका नानाविधासु योनिषूत्पद्यन्ते, नारकतिर्यङ्नरामराणां परस्परगमनसम्भवात्, ते च यत्र यत्रोत्पद्यन्ते तत्तच्छरीराण्याहारयन्ति, तदाहारवन्तश्च तत्रागुप्तास्तद्द्वारायात-तत्कर्मवशगा नारकतिर्यङ्नरामरगतिषु जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्थितयो भवन्ति, अनेनेदमुक्तं भवति–यो यादृगिह भवे स तादृगेवामुत्रापि भवतीत्येतन्निरस्तं भवति, अपितु कर्मोपगाः कर्मनिदानाः कर्मायत्तगतयो भवन्ति, तथा तेनैव कर्मणा सुखलिप्सवोऽपि तद्विपर्यासं–दुःखमुपगच्छन्तीति । साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिघृक्षुराह—यद्देत न्मयाऽऽदितः प्रभृत्युक्तं, तद्यथा–यो यत्रोत्पद्यते स तच्छरीराहारको भवति आहारागुप्तश्च कर्मादत्ते कर्मणा च नानाविधासु योनिषु अरहट्टघटीन्यायेन पौनःपुन्येन पर्यटतीत्येवमाजानीत यूयं, एतद्विपर्यासे दुःखमुपगच्छ-न्तीति । एतत्परिज्ञाय च सदसद्विवेक्याहारगुप्तः पञ्चभिः समितिभिः समितो यदिवा सम्यग्ज्ञानादिके मार्गे इतो गतः तथा समितः तथा सह हितेन वर्तते सहितः सन् सदा–सर्वकालं यावदुच्छ्वासं तावद्यतेत–सत्संयमानुष्ठाने प्रयत्नवान् भवेदिति । इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीतिपूर्ववत् । गतोऽनुगमः, साम्प्रतं नयाः, ते च प्राग्वद् द्रष्टव्याः । समाप्तमाहारपरिज्ञाख्यं तृतीयमध्ययनम् ॥ ३ ॥

इति श्रीसूत्रकृदङ्गे द्वितीयश्रुतस्कन्धे आहारपरिज्ञाख्यं तृतीयमध्ययनं सवृत्तिकं समाप्तिमगात् ।

अथ द्वितीयश्रुतस्कन्धे चतुर्थप्रत्याख्यानाध्ययनप्रारम्भः ।

तृतीयाध्ययनानन्तरं चतुर्थमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः—इहानन्तराध्ययने आहारागुप्तस्य कर्मबन्धोऽभिहितोऽतोऽत्र तत्प्रत्याख्यानं प्रतिपाद्यते, यदिवोत्तरगुणसंपादनार्थं शुद्धेतराहारविवेकार्थमाहारपरिज्ञोक्ता, सा चोत्तरगुणरूपा प्रत्याख्यानक्रियासमन्वितस्य भवतीत्यत आहारपरिज्ञानन्तरं प्रत्याख्यानक्रियाध्ययनमारभ्यत इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयम्, तद्यथा-इह कर्मोपादानभूतस्याशुभस्य प्रत्याख्यानं प्रतिपाद्यत इति । साम्प्रतं निक्षेपः तत्राऽप्योघनिष्पन्नेऽध्ययन नामनिष्पन्ने प्रत्याख्यानक्रियेति द्विपदं नाम, तत्र प्रत्याख्यानपदनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

णामठवणादविए अइच्छ पडिसेहए य भावे य। एसो पच्चक्खाणस्स छव्विहो होइ निक्खेवो ॥१७९॥
मूलगुणेसु य पगयं पच्चक्खाणे इह अधीगारो। होज्ज हु तप्पच्चइया अप्पच्चक्खाणकिरिया उ ॥१८०॥

नामस्थापनाद्रव्यादित्साप्रतिषेधभावरूपः प्रत्याख्यानस्याय षोढा निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने सुगमे, द्रव्यप्रत्याख्यानं तु द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्याद् द्रव्ये द्रव्यभूतस्य वा प्रत्याख्यानं द्रव्यप्रत्याख्यानं, तत्र सचित्ताचित्तमिश्रभेदस्य द्रव्यस्य प्रत्याख्यानं द्रव्यप्रत्याख्यानं, द्रव्यनिमित्तं वा प्रत्याख्यानं यथा धम्मिल्लस्य, एवमपराण्यपि

१ णामे ख ग। २ सु ग ख ग। ३ अहि° ख ग। ४ °या पच° ख ग। ५ पच्चक्खाणविरीए पम्मत्ता ख ग।

कारकाणि स्वधिया योजनीयानि, तथा दातु मिच्छा दित्सा न दित्सा अदित्सा तया प्रत्याख्यानमदित्साप्रत्या-
ख्यानं-सत्यपि देये सति च संप्रदानकारके केवलं दातुर्दातुमिच्छा नास्तीत्यतोऽदित्साप्रत्याख्यानं, तथा
प्रतिषेधप्रत्याख्यानमिदं, तद्यथा-विवक्षितद्रव्याभावाद्विशिष्टसंप्रदानकारकाभावाद्वा सत्यामपि दित्सायां यः प्रति-
षेधस्तत्प्रतिषेधप्रत्याख्यानं, भावप्रत्याख्यानं तु द्विधा-अन्तःकरणशुद्धस्य साधोः श्रावकस्य वा मूलगुणप्रत्या-
ख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानं चेति, चशब्दादेतद् द्विविधमपि नोआगमतो भावप्रत्याख्यानं द्रष्टव्यं, नान्यदिति ।
साम्प्रतं क्रियापदं निक्षेप्तव्यं, तच्च क्रियास्थानाध्ययने निक्षिप्तमिति न पुनर्निक्षिप्यते । इह पुनर्भावप्रत्याख्याने-
नाधिकार इति दर्शयितुमाह-मूलगुणाः-प्राणातिपातविरमणादयस्तेषु प्रकृतम्-अधिकारः प्राणातिपातादेः प्रत्या-
ख्यानं कर्तव्यमितियावत् 'इह'-प्रत्याख्यानक्रियाध्ययनेऽर्थाधिकारो, यदि मूलगुणप्रत्याख्यानं न क्रियते
ततोऽपायं दर्शयितुमाह-प्रत्याख्यानाभावेऽनियतत्वाद्यत्किञ्चनकारितया तत्प्रत्ययिका-तन्निमित्ता भवेद्-उत्पद्येत
अप्रत्याख्यानक्रिया-सावद्यानुष्ठानक्रिया तत्प्रत्ययिकश्च कर्मबन्धः तन्निमित्तश्च संसार इत्यतः प्रत्याख्यानक्रिया
मुमुक्षुणा विधेयेति । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, अधुना सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्-

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु पच्चक्खाणकिरियाणामज्झयणे, तस्स णं
अयमट्ठे पण्णत्ते-आया अपच्चक्खाणी यावि भवति आया अकिरियाकुसले यावि भवति आया
मिच्छासंठिए यावि भवति आया एगंतदंडे यावि भवति आया एगंतबाले यावि भवति आया

एगंतसुत्ते यावि भवति आया अवियारमणवयणकायवक्के यावि भवति आया अप्पडिहय-अपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवति, एस खलु भगवता अक्खाए असंजते अविरते अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते, से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सति, पावे य से कम्मे कज्जइ ॥ सूत्रम्–६१ ॥

अस्य चानन्तरपरम्परसूत्रैः सह संबन्धो वक्तव्यः, स चायम्–इहानन्तराध्ययनपरिसमाप्ताविदं सूत्रम्–'आहारगुप्तः समितः सहितः सदा यतेते'ति एतन्मया श्रुतमायुष्मता भगवतेदमाख्यातम्, एवमनया दिशा परम्परसूत्रैरपि संबन्धोऽभ्यूह्यः, 'इह'–अस्मिन् प्रवचने सूत्रकृताङ्गे वा 'खलु' इति–वाक्यालङ्कारे, प्रत्याख्यानक्रियानामाध्ययनं तस्यायमर्थो–वक्ष्यमाणलक्षणः, भवतीत्यात्मा–जीवः प्राणी, स चानादिमिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगानुगततया स्वभावत एवाप्रत्याख्यान्यपि भवति, अपिशब्दात्स एव कुशलमिभिविधारप्रत्याख्यान्यपि, तत्रात्मग्रहणमपरदर्शनाभ्युदासार्थं, तथाहि–साङ्ख्यानामप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभाव आत्मा, स च तृणकुब्जीकरणेऽप्यसमर्थतयाऽकिञ्चित्करत्वान्न प्रत्याख्यानक्रियायां भवितुमर्हति, बौद्धानामप्यात्मनोऽभावात् क्षणिकत्वाच्च स्थितेरभावात् कुतः प्रत्याख्यानक्रियेति, एवमन्यत्रापि प्रत्याख्यानक्रियाया अभावो वाच्यः, तथा सदनुष्ठानं क्रिया तस्यां कुशलः क्रियाकुशलस्तत्प्रतिषेधादक्रियाकुशलोऽप्यात्मा भवति, तथाऽऽत्मा मिथ्यात्वोदयसंस्थितोऽपि भवति तथैकान्तेनापरान् प्राणिनो दण्डयतीति दण्डस्तदेवंभूतश्चात्मा भवति, तथाऽसारतापादनाद्राग

द्वेषाकुलितत्वाद्वालवद्वाल आत्मा भवति, तथा सुप्तवत्सुप्तः, यथा हि द्रव्यसुप्तः शब्दादीन् विषयान् न जानाति हिताहितप्राप्तिपरिहारविकलश्च तथा भावसुप्तोऽप्यात्मैवंभूत एव भवतीति, एवमविचारणीयानि-अशोभनतयाऽनिरूपणीयान्यपर्यालोचनीयानि मनोवाक्कायवाक्यानि यस्य स तथा, तत्र मनः-अन्तःकरणं वाग् वाणी कायो-देहः अर्थप्रतिपादकं पदसमूहात्मकं वाक्यमेकतिङ् सुबन्तं वा, तत्र वाग्ग्रहणेनैव वाक्यस्य गतार्थत्वाद्यत्पुनर्वाक्य-ग्रहणं करोति तदेवं ज्ञापयति-इह वाग्व्यापारस्य प्रचुरतया प्राधान्यं, प्रायशस्तत्प्रवृत्त्यैव प्रतिषेधविधानयोरन्येषां प्रवर्त्तनं भवति, तदेवमप्रत्याख्यानाक्रियः सन् आत्माऽविचारितमनोवाक्कायवाक्यश्चापि भवतीति, तथा प्रतिहतं-प्रतिस्खलितं प्रत्याख्यात-निराकृतं विरतिप्रतिपत्त्या पापकर्म-असदनुष्ठानं येन स प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा तत्प्रतिषेधादसदनुष्ठानपरश्चात्मा भवतीति । तदेवमेष-पूर्वोक्तोऽसंयतोऽविरतोऽप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा सक्रियः ससावद्यानुष्ठानः, तथाभूतश्चासंवृतो मनोवाक्कायैरगुप्तोऽगुप्तत्वाच्चात्मनः परेषां च दण्डहेतुत्वाद्दण्डः, तदेवंभूतश्च सन् एकान्तेन बालवद्बालः सुप्तवदेकान्तेन सुप्तः, तदेवंभूतश्च बालसुप्ततयाऽविचाराणि-अविचारितरमणीयानि परमार्थविचारणया युक्त्या वा विघटमानानि मनोवाक्कायवाक्यानि यस्य स तथा, यदि वा परसंबन्ध्यविचारित-मनोवाक्कायवाक्यः सन् क्रियासु प्रवर्त्तते, तदेवंभूतो निर्विवेकतया पटुविज्ञानरहितः स्वप्नमपि न पश्यति, तस्य चाव्यक्तविज्ञानस्य स्वप्नमप्यपश्यतः पापं कर्म बध्यते, तेनैवंभूतेनाव्यक्तविज्ञानेनापि पापं कर्म क्रियत इति भावः ॥ तत्र चैवं व्यवस्थिते चोदकः प्रज्ञापकमेवमवादीत्-अत्र चाचार्याभिप्रायं चोदकोऽनूद्य प्रतिषेधयति—

तत्थ चोयए पन्नवगं एवं वयासि–असंतएणं मणेणं पावएणं असंतियाए वईए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमणवयकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावकम्मे णो कज्जइ, कस्स णं तं हेउं ?, चोयए एवं ब्रवीति–अन्नयरेणं मणेणं पावएणं मणवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरीए वतिए पावियाए वतिवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरेणं काएणं पावएणं कायवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, हणंतस्स समणक्खस्स सवियारमणवयकायवक्कस्स सुविणमवि पासओ एवं गुणजातीयस्स पावे कम्मे कज्जइ । पुणरवि चोयए एवं ब्रवीति–तत्थ णं जे ते एवमाहंसु–असंतएणं मणेणं पावएणं असंतीयाए वतिए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जइ, तत्थ णं जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु । तत्थ पन्नवए चोयगं एवं वयासी–तं सम्मं जं मए पुव्वं वुत्तं, असंतएणं मणेणं पावएणं असंतियाए वतिए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जति, तं सम्मं, कस्स णं तं हेउं ?, आचार्य आह–तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकायहेऊ पण्णत्ता, तंजहा–पुढविकाइया जाव तसकाइया, इच्चेएहिं छहिं जीवणिकाएहिं

१ मिलाए ३०।

आया अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे निच्चं पसढविउवातचित्तदंडे, तंजहा-पाणातिवाए जाव परिग्गहे कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले। आचार्य आह-तत्थ खलु भगवया वहए दिट्ठंते पण्णत्ते से जहाणामए वहए सिया गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं निद्दाय पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामि पहारेमाणे से किं नु हु नाम से वहए तस्स गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं निद्दाय पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामि पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवति ?, एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरे चोयए-हंता भवति। आचार्य आह-जहा से वहए तस्स गाहावइस्स वा तस्स गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं निद्दाय पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामित्ति पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे, एवमेव बालेवि सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे, तं०-पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, एवं खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खाय-

सा० १ किण्हु। २ पुत्तस्स (टीका)।

पापकम्मे सकिरिए असंवुडे एगतदडे एगतबाले एगतसुत्ते यावि भवइ, से बाले अवियारमण वयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सइ पावे य से कम्मे कज्जइ । जहा से वहए तस्स वा गाहावइस्स जाव तस्स वा रायपुरिसस्स पत्तेय पत्तेय चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिते निच्च पसढविउवायचित्तदंडे भवइ, एवमेव बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं पत्तेय पत्तेय चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवइ ॥ सूत्रम्–६४ ॥

'असतएण'मित्यादि, अविद्यमानेन–असता मनसाऽप्रवृत्तेनाशोभनेन तथा वाचा कायेन च पापेनासता घातानभतः तथाऽमनस्कस्याविचारमनोवाक्कायवाक्यस्य स्वप्नमप्यपश्यतः स्वप्नान्तिकं च कर्म नोपचयं पातीत्येवमव्यक्तविज्ञानस्य पापं कर्म न बध्यते, एवंभूतविज्ञानेन पापं कर्म न क्रियत इतियावत् । 'कस्य हेतोः ?,' केन हेतुना केन कारणेन तस्य पापं कर्म बध्यते ?, नात्र कश्चिदव्यक्तविज्ञानस्यास्य पापकर्मबन्धहेतुरिति भावः । तदेवं चोदक एव स्वाभिप्रायेण पापकर्मबन्धहेतुमाह–'अन्नयरेण'मित्यादि, कर्मबन्धद्वारभूतैर्मनोवाक्कायकर्मभिः कर्म बध्यत इति दर्शयति–अन्यतरेण क्लिष्टेन प्राणातिपातादिप्रवृत्त्या मनसा वाचा कायेन च तत्प्रत्ययिकं कर्म बध्यत इति, इदमेव स्पष्टतरमाह–हतस्तस्यान्समनस्कस्य सविचारमनोवाक्कायवाक्यस्य स्वप्नमपि पश्यतः

१ भोरसभैव पत्रं प्रमादं प्रति ।

प्रस्पष्टविज्ञानस्यैतद्गुणजातीयस्य पापं कर्म बध्यते, न पुनरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियादेः पापकर्मसंभव इति, तेषां घातकस्य मनोवाक्कायव्यापारस्याभावात्, अथैतद्व्यापारमन्तरेणापि कर्मबन्ध इष्यते एवं च सति मुक्तानामपि कर्मबन्धः स्यात्, न चैतदिष्यते, तस्मान्नैवमस्वप्नान्तिकमविज्ञोपचितं च कर्म बध्यत इति, तत्र[2] यदेवंभूतैरेव मनोवाक्कायव्यापारैः कर्मबन्धोऽभ्यु[3]पगम्यते। तदेवं व्यवस्थिते सति ये ते एवमुक्तवन्तः—तद्यथा—अविद्यमानैरेवाशुभैर्योगैः पापं कर्म क्रियते, मिथ्या त एवमुक्तवन्त इति स्थित[4]म्। तदेवं चोदकेनाचार्यपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षे व्यवस्थापिते सत्याचार्य आह—तत्राचार्यः स्वमतमनूद्य तत्सोपपत्तिकं साधयितुमाह—'तं सम्म'मित्यादि, यदेतन्मयोक्तं प्राग् यथाऽस्पष्टाव्यक्तयोगानामपि कर्म बध्यते तत्सम्यक्—शोभनं युक्तिसंगतमिति, एवमुक्ते पर आह—'कस्य हेतोः?' केन कारणेन तत्सम्यगिति चेदाह—'तत्थ खलु' इत्यादि, तत्रेति वाक्योपन्यासार्थं खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे भगवता वीरवर्द्धमानस्वामिना षड् जीवनिकायाः कर्मबन्धहेतुत्वेनोपन्यस्ताः, तद्यथा—पृथिवीकायिका इत्यादि यावत्त्रसकायिका इति। कथमेते षड्जीवनिकायाः कर्मबन्धस्य कारणमित्याह—'इच्चेएहिं'मित्यादि, इत्येतेषु पृथिव्यादिषु षड्जीवनिकायेषु प्रतिहतं—विघ्नितं प्रत्याख्यातं—नियमितं पापं कर्म येन स तथा, पुनर्नञ्समासेनाप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा य आत्मा—जन्तुस्तथा तद्भावत्वादेव नित्यं—सर्वकालं प्रकर्षेण शठः प्रशठस्तथा व्यतिपाते—प्राणव्यपरोपणे चित्तं यस्य स व्यतिपातचित्तः स्वपरदण्डहेतु-

सा० १ नोदकपक्षे। २ ययैव० प्र० तस्मादित्यादिवाक्यस्याय हेतुभूतः स्यात्। ३ स्पष्टविज्ञानयुक्ते। ४ आचार्यवाक्यमिद पूर्वपक्षे हेतुदर्शनाय।

त्पादण्डः प्रशठश्चासौ व्यतिपातचित्तदण्डश्चेति कर्मधारय इति, एतदेव प्रत्येकं दर्शयितुमाह–' तजहे ' त्यादि, तद्यथा प्राणातिपाते विषये प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डः, एवं मृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहेष्वपि वाच्यं, यावन्मिथ्यादर्शनशल्यमिति । तेषामिहैकेन्द्रियविकलेन्द्रियादीनामनिवृत्तत्वान्मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगानुगतत्वं द्रष्टव्यं, तस्मात्ते क्व प्राणातिपातादिदोषवन्तो न भवन्ति, प्राणातिपातादिदोषवत्तया चाव्यक्तविज्ञाना अपि सन्तोऽस्वप्नायमानस्यापापमपि ते कर्मबन्धका एव । तदेवं व्यवस्थिते यत्प्रागुक्तं परेण यथा–नाव्यक्तविज्ञानानाममताममनस्कानां कर्मबन्ध इत्येतत् प्लवते । साम्प्रतमाचार्यः स्वपक्षसिद्धये दृष्टान्तमाह–' तत्थ खलु भगवया '–तत्रेति वाक्योपन्यासार्थमाह, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, भगवता–ऐश्वर्यादिगुणोपेतेन चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितेन तीर्थकृता वधकदृष्टान्तः ' प्रज्ञप्तः '–प्ररूपितः, तद्यथा नाम वधकः कश्चित्स्यादिति, कुतश्चिन्निमित्तात्कुपितः सन् कस्यचिद्वधपरिणतः कश्चित्पुरुषो भवति, यस्यासौ वधकस्तं विशेषेण दर्शयितुमाह–' गाहावइस्स वे 'त्यादि, गृहस्य पतिर्गृहपतिस्तत्पुत्रो वा, अनेन सामान्यतः शठपुरुषोऽभिहितः, तस्योपरि कुतश्चिन्निमित्ताद्वधकः कश्चित्संवृत्तः, स च वधपरिणामपरिणतोऽपि कस्मिंश्चित्क्षणे चोपकारिणमेनं घातयिष्यामीति । तथा राज्ञस्तत्पुत्रस्य वोपरि कुपित एतत्कुर्यादित्याह–' खण निद्दाए ' इत्यादि, क्षणम्–अवसरं, ' णिद्दाए 'त्ति–प्राप्य लब्ध्वा वध्यस्य पुरे गृहे वा प्रवेक्ष्यामीत्येवमध्यवसायी भवति, तथा क्षणम्–अवसरं छिद्रादिकं वध्यस्य लब्ध्वा तदुपर

पा० १ तीर्थकृता । २ कदाचन ।

कालं तं वध्यं हनिष्यामीत्येवं संप्रधारयति, एतदुक्तं भवति–गृहपतेः सामान्यपुरुषस्य राज्ञो वा विशिष्टतमस्य कस्यचिद्वधपरिणतोऽप्यात्मनोऽवसरं लब्ध्वाऽपरकार्यक्षणे सति तथा वध्यस्य च छिद्रमपेक्षमाणस्तदवसरापेक्षी कंचित्कालमुदास्ते, स च तत्रौदासीन्यं कुर्वाणोऽपरकार्यं प्रति व्यग्रचेताः संस्तस्मिन्नवसरे वधं प्रत्यस्पष्टविज्ञानो भवति, स चैवंभूतोऽपि यथा तं वध्यं प्रति नित्यमेव प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डो भवति, एवमविद्यमानैरपि प्रव्यक्तैरशुभैर्योगैरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियादयोऽस्पष्टविज्ञाना अपि मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगानुगतत्वात्प्राणातिपातादिदोषवन्तो भवन्तीति, न च तेऽवसरमपेक्षमाणा उदासीना अप्यवैरिण इति, एवमस्पष्टविज्ञाना अप्यवैरिणो न भवन्तीति, अत्र च वध्यवधकयोः क्षणापेक्षया चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा–वध्यस्यानवसरो १, वधकस्य च २, उभयोर्वाऽनवसरो ३; द्वयोरप्यवसर इति ४। नागार्जुनीयास्तु पठन्ति–'अप्पणो अक्खणयाए तस्स वा पुरिसस्स छिद्दं अलभमाणे णो वहेइ, तं जया मे खणो भविस्सइ तस्स पुरिसस्स छिद्दं लभिस्सामि तया मे स पुरिसे अवस्सं वहेयव्वे भविस्सइ, एवं मणो पहारेमाणे'त्ति सूत्रं, निगदसिद्धम्। साम्प्रतमाचार्य एव स्वाभिप्रेतमर्थं परप्रश्नपूर्वकमाविर्भावयन्नाह–'से किं नु हु'इत्यादि, आचार्यः स्वतो हि निर्णीतार्थोऽसूयया परं पृच्छति–किमिति परप्रश्ने, नुरिति वितर्के हुशब्दो वाक्यालङ्कारे, किमसौ वधकपुरुषोऽवसरापेक्षी 'छिद्रम्'–अवसरं 'प्रधारयन्'–पर्यालोचयन्नहर्निशं सुप्तो जाग्रदवस्थो वा 'तस्य'–गृहपते राज्ञो वा वध्यस्यामित्रभूतो मिथ्या-

सा० १ कश्चित्कारणकोपाद्वधपरिणतोऽप्या० प्र०। २ परचित्तस्था याऽसूया–यथार्थेऽयथार्थतोद्भावनरूपा तया हेतुभूतया।

मंस्थितो निरप प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डो भवत्याहोस्विदे ?, एव पृष्टः परः समतया माध्यस्थ्यमवलम्बमानो यथावस्थितमेव व्यागृणीयात्, तद्यथा-इन्ताचाय ! भवत्यसावमिश्रभूत इतीत्यादि । तदेवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकं दर्शयितुमाह-यथाऽसौ वधक इत्यादिना दृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिकमर्थं दर्शयितुमाह-'एवमेवे'त्यादि, एवमवति यथासौ वधकोऽवसरापेक्षितया वध्यस्य व्यापादमकुर्वाणोऽप्यमिश्रभूतो भवत्येवमेषामपि बाल भावालाऽस्पष्टविज्ञानो भवत्येव, निवृत्तेरभावायोग्यतया सर्वेषां प्राणिनां व्यापादको भवति यावन्मिथ्यादर्शन शल्योपशमो भवति, इदमुक्तं भवति-यथाप्युत्थानादिक विनय कृतवित्तिमिषादसौ विधत्ते तथाऽप्युदायिन्नृप व्यापादकवदन्तर्दुष्ट एवेति, निरप प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डश्च यथा परशुरामः कृतवीर्यं व्यापाद्यापि तदुत्तरकाले सप्तवारं निःक्षत्रां पृथिवीं चकार, आह हि-" अपकारसमेन कर्मणा न नरस्तुष्टिमुपैति शक्तिमान् । अधिकां कुरुतेऽरियातनां द्विषतां मूलमशेषमुद्धरेत् ॥ १ ॥" इत्येवमसावमिश्रभूतो मिथ्याविनीतश्च भवतीति । साम्प्रतमुपसंहरन् प्राक् प्रतिपादितमर्थमनुवदन्नाह-'एष खलु भगवया'इत्यादि, यथाऽसौ वधकः स्वपरावसरा पथी मम नावद् घातयत्यथ घानिवृत्तस्तद्दोषदुष्ट एव, एवमसावप्येकेन्द्रियादिकोऽस्पष्टविज्ञानोऽपि तथाभूत एवाविरताप्रतिहतप्रत्याख्यातपापक्रियादिदोषदुष्ट इति, शेष सुगम यावत्पापं कर्म क्रियत इति । तदेवं दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकप्रदर्शनेन पूर्वप्रतिपादितार्थस्य निगमनं कृत्वाऽधुना सर्वेषामेव प्रत्येक प्राणिनां दुष्ट आत्मा भवति इत्येतत्प्रतिपादयितुकाम आह-यथाऽसौ वधकः परात्मनोरवसरापेक्षी तस्य गृहपतेस्तत्पुत्रस्य वाऽन्यर्हितस्य वा

राजादेस्तत्पुत्रस्य वैकमेकं–पृथक् पृथक् सर्वेष्वपि वध्येषु घातकचित्तं समादाय प्राप्तावसरोऽहमेनं वैरिणं मदाधिविधायिनं घातयिष्यामीत्येवं प्रतिज्ञाय दिवा वा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद्वा सर्वास्ववस्थासु सर्वेषामेव वध्यानां प्रत्येकममित्रभूतोऽवसरापेक्षितयाऽघ्नन्नपि मिथ्यासंस्थितो नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डो भवति, एवं रागद्वेषाकुलितो बालवद्बालो ज्ञानावृत एकेन्द्रियादिरपि सर्वेषामेव प्राणिनां विरतेरभावात्तद्योग्यतया प्रत्येकं वध्येषु घातकचित्तं समादाय नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डो भवतीति, इदमुक्तं भवति–यथाऽसौ तस्माद्गृहपतिराजादिघातादनुपशान्तवैरः कालावसरापेक्षितया वधमकुर्वाणोऽप्यविरतिसद्भावाद्वैरान्न निवर्त्तते तत्प्रत्ययिकेन च कर्मणा बध्यन्ते एवं तेऽपि एकेन्द्रियविकलेन्द्रियादयस्तत्प्रत्ययिकेन [च] कर्मणा बध्यन्ते, एवं मृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहेष्वपि प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनार्थविधानेन पञ्चावयवत्वं वाच्यमिति, इहैव पञ्चावयवस्य वाक्यस्य सूत्राणां विभागो द्रष्टव्यः, तद्यथा–'आया अपच्चक्खाणी यावि भवतीत्यत आरभ्य यावत्पावे य से कम्मे कज्जइ'त्ति इतीयं प्रतिज्ञा, तत्र परः प्रतिज्ञामात्रेणोक्तमनुक्तसममितिकृत्वा चोदयति, तद्यथा–'तत्थ चोयए पण्णवगं एवं वयासीत्यत आरभ्य यावज्जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु'त्ति । तत्र प्रज्ञापकश्चोदकं प्रत्येवं वदेत्, तद्यथा–यन्मया पूर्वं प्रतिज्ञातं तत्सम्यक्, कस्य हेतोः ?–केन हेतुनेति चेत्, तत्र हेतुमाह–'तत्थ खलु भगवया छ जीवनिकाया हेऊ पण्णत्ता इत्यत आरभ्य यावत् मिच्छादंसणसल्ले' इत्ययं हेतुः, तदस्य हेतोरनैकान्तिकत्वव्युदासार्थं स्वपक्षे सिद्धिं दर्शयितुं दृष्टान्तमाह, तद्यथा–'तत्थ खलु भगवया वहए दिट्ठंते पण्णत्ते इत्यत आरभ्य यावत् खणं

तद्गुप्त करिष्यामीति पर्यालोचनामाखे'त्ति, तदेवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य तत्र च हेतोः सत्तां स्वाभिप्रेतां परेण माणयितुमाह— 'स किं नु तु णाम से वहए इत्यादेरारभ्य पावकुन्ता भवति' तदेवं हेतोर्दृष्टान्ते सत्त्वं प्रमाण्य हेतोः पक्षधर्मत्वं दर्शयितुमुपनयार्थं दृष्टान्तधर्मिणि हेतोः सत्तां परेणाभ्युपगतामनुवदति—'जहा से वहए इत्यत आरभ्य यावण्णिच्च पसढविउवायचित्तदंडे'त्ति, साम्प्रतं हेतोः पक्षधर्मत्वमाह—'एवमेव बाले अवीत्यादीत्यत आरभ्य यावत्पावे य से कम्मे कज्जइ'त्ति। तदेवं प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयप्रतिपादकानि यथाविधि सूत्राणि विभागतः प्रदर्श्याधुना प्रतिज्ञा हेतो पुनर्वचन निगमनमित्येतत्प्रतिपादयितुमाह—'जहा से वहए तस्स वा गाहावइस्स इत्यादि याव णिच्च पसढविउवायचित्तदंडे'त्ति, एतानि च प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनान्यर्थतः सूत्रैः प्रदर्शितानि, प्रयोगस्त्वेवं द्रष्टव्यः—तत्राप्रतिहतप्रत्याख्यातक्रिय आत्मा पापानुबन्धीति प्रतिज्ञा, सदा षड्जीवनिकायेषु प्रशठ व्यतिपातचित्तदण्डत्वादिति हेतुः, स्वपरावसरापेक्षितया कदाचिदव्यापादयन्नपि राजादिवधकवदिति दृष्टान्तः, यथाऽसौ वधपरिणामादनिवृत्तत्वात्तस्याभिमित्रभूतस्तथाऽस्माऽपि विरतेरभावात्सर्वेष्वपि सत्त्वेषु नित्यं प्रशठव्य तिपातचित्तदण्ड इत्युपनयः, यत एवं तस्मात्पापानुबन्धीति निगमनम्। एवं मृषावादादिष्वपि पञ्चावयवत्वं योजनीयमिति, केवलं मृषावादादिशब्दोच्चारणं विधेयं, तथानेन विधिना नित्यं प्रशठमिथ्यावादचित्तदण्डत्वात् तथा नित्यं प्रशठादत्तादानचित्तदण्डत्वादित्यादि। तदेवं सर्वात्मना षट्स्वपि जीवनिकायेषु प्रत्येकममित्रभूततया पापानुबन्धित्वे प्रतिपादिते परो व्यभिचारं दर्शयन्नाह—

णो इणट्ठे समट्ठे [चोदकः] इह खलु बहवे पाणा० जे इमेणं सरीरसमुस्सएणं णो दिट्ठा वा सुया वा नाभिमया वा विन्नाया वा जेसिं णो पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमायाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे तं० पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले ॥ सूत्रम्-६९ ॥ आचार्य आह-तत्थ खलु भगवया दुवे दिट्ठंता पण्णत्ता, तं०-सन्निदिट्ठंते य असन्निदिट्ठंते य, से किं तं सन्निदिट्ठंते ?, जे इमे सन्निपंचिंदिया पज्जत्तगा एतेसि णं छजीवनिकाए पडुच्च तं०-पुढवीकायं जाव तसकायं, से एगइओ पुढवीकाएणं किच्चं करेइवि कारवेइवि, तस्स णं एवं भवइ-एवं खलु अहं पुढवीकाएणं किच्चं करेमिवि कारवेमिवि, णो चेव णं से एवं भवइ इमेण वा इमेण वा, से एतेणं पुढवीकाएणं किच्चं करेइवि कारवेइवि से णं तातो पुढवीकायाओ असंजयअविरयअप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवइ, एवं जाव तसकाएत्ति भाणियव्वं, से एगइओ छजीवनिकाएहिं किच्चं करेइवि कारवेइवि, तस्स णं एवं भवइ-एवं खलु छजीवनिकाएहिं किच्चं करेमिवि कारवेमिवि, णो चेव णं से एवं भवइ-इमेहिं वा इमेहिं वा, से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं जाव कारवेइवि, से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं असंजयअविरयअप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे तं० पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, एस खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सुविणमवि अपस्सओ पावे य से

कम्मे कज्जइ, से त सन्निकिट्टते। से किं तं असन्निकिट्टते ?, जे इमे असन्निणो पाणा तं०-पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया छट्ठा वेगइया तसा पाणा, जेसिं णो तक्का इ वा सन्ना ति वा पन्ना ति वा मणा ति वा वई वा सय वा करणाए अन्नेहिं वा कारावेत्तए करेंत वा समणुजाणित्तए, तेऽवि णं बाले सव्वेसिं पाणाण जाव सव्वेसिं सत्ताण दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूता मिच्छासठिया निच्च पसढविउवातचित्तदंडा तं०-पाणाइवाते जाव मिच्छादंसण सल्ले, इच्चेव जाव णो चेव मणो णो चेव वई पाणाणं जाव सत्ताण दुक्खणयाए सोयणयाए जूरणयाए तिप्पणयाए पिट्टणयाए परितप्पणयाए ते दुक्खणसोयणजावपरितप्पणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति। इति खलु से असन्निणोऽवि सत्ता अहोनिसिं पाणातिवाए उवक्खाइज्जंति जाव अहोनिसिं परिग्गहे उवक्खाइज्जंति जाव मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति, [एव भूतवादी] सव्वजोणियावि खलु सत्ता सन्निणो हुच्चा असन्निणो होंति असन्निणो हुच्चा सन्निणो होंति, होच्चा सन्नी अदुवा असन्नी, तत्थ से अविविचित्ता अविधूणित्ता असमुच्छित्ता अणणुतावित्ता असन्निकायाओ वा सन्निकाए संकमंति सन्निकायाओ वा असन्निकाय संकमंति सन्निकायाओ वा सन्निकाय संकमंति असन्निकायाओ वा असन्निकाय संकमंति, जे एए सन्नि वा असन्नि वा सव्वे ते मिच्छायारा निच्च पसढविउवायचित्तदंडा, तं०-पाणातिवाए जाव मिच्छा

दंसणसल्ले, एवं खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकि-
रिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण
पासइ पावे य से कम्मे कज्जइ ॥ सूत्रम्–६६ ॥

नायमर्थः समर्थ इति–प्रतिपत्तुं योग्यः, तद्यथा–सर्वे प्राणिनः सर्वेषामपि सत्त्वानां प्रत्येकममित्रभूता इति,
तत्र परः स्वपक्षसिद्धये सर्वेषां प्रत्येकममित्राभावं दर्शयितुं कारणमाह–'इह'–अस्मिश्चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके
बहवोऽनन्ताः प्राणिनः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकादिभेदभिन्नाः सन्ति, यद्येवं ततः किमित्याह–ते च देशकाल-
स्वभावविप्रकृष्टास्तथाभूता बहवः संति ये प्राणिन सूक्ष्मविप्रकृष्टाद्यवस्थाः 'अमुना शरीरसमुच्छ्रयेणे'त्यनेनेद-
माह–प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिदमोऽनेनार्वाग्दर्शिज्ञानसमन्वितसमुच्छ्रयेण न कदाचिदृष्टाश्चक्षुषा न श्रुताः श्रवणेन्द्रि-
येण विशेषतो नाभिमता–इष्टा न च विज्ञाताः प्रातिभेन स्वयमेवेत्यतः कथं तद्विषयस्तस्यामित्रभावः स्यात् ?,
अतस्तेषां कदाचिदप्यविज्ञातानां कथं प्रत्येकं वधं प्रति चित्तसमादानं भवति, न चासौ तान् प्रति नित्यं प्रशठ-
व्यतिपातचित्तदण्डो भवतीति, शेषं सुगमम् । एवं व्यवस्थिते न सर्वविषयं प्रत्याख्यानं युज्यते । इत्येवं
प्रतिपादिते परेण सत्याचार्य आह—यद्यपि सर्वेष्वपि सत्त्वेषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेषु वधकचित्तं नोत्पद्यते
तथाप्यसावविरतिप्रत्ययत्वात्तेष्वमुक्तवैर एव भवति, अस्य चार्थस्य सुखप्रतिपत्तये भगवता तीर्थकृता द्वौ दृष्टान्तौ
'प्रज्ञप्तौ'–प्ररूपितौ, तद्यथा–संज्ञिदृष्टान्तोऽसंज्ञिदृष्टान्तश्च । अथ कोऽयं संज्ञिदृष्टान्तो ?, ये केचन 'इमे'–प्रत्यक्षा-

समाः षड्भिरपि पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः ईहापोहविमर्शरूपा संज्ञा विद्यन्ते येषां ते संज्ञिनः, पञ्चेन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः, करणपर्याप्त्या पर्याप्तकाः, एषां च मध्ये कश्चिदेकः षड्जीवनिकायान् प्रतीत्यैवंभूतां 'प्रतिज्ञां'-नियमं कुर्यात्, तद्यथा-अहं षट्सु जीवनिकायेषु मध्ये पृथिवीकायेनैवैकेन मृल्लेष्टुशिलोपललवणादिस्वरूपेण 'कृत्य'-कार्यं कुर्यां, स चैव कृतप्रतिज्ञस्तेन तस्मिन् तस्माद्वा करोति कारयति च, शेषकायेभ्योऽहं विनिवृत्तः, तस्य च कृतनियमस्यैवंभूतो भवत्यध्यवसायः, तद्यथा-एष खल्वहं पृथिवीकायेन कृत्यं करोमि कारयामि च, तस्य च सामान्यकृतप्रतिज्ञस्य विशेषाभिसन्धिर्नैव भवति, तद्यथा-अमुना कृष्णेनामुना वा श्वेतेन पृथिवीकायेन कार्यं करोमि कारयामि च, स तस्मात्पृथिवीकायादनिवृत्तोऽप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा भवति, तत्र खननस्नान निष्ठीवनस्वमर्दनोच्चारप्रस्रवणादिकरणक्रियासद्भावात् एवमप्तेजोवायुवनस्पतिष्वपि वाच्यं, तत्राप्कायेन स्नान पानावगाहनभाण्डोपकरणधावनादिषु उपयोगः, तेजःकायेनापि पचनपाचनवितापनप्रकाशनादिषु, वायुनाऽपि व्यजनतालवृन्तोद्ग्राहिव्यापारादिषु प्रयोजनं, वनस्पतिनाऽपि कन्दमूलपुष्पफलपत्रत्वक्शाखाद्युपयोगः, एवं विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियेष्वप्यायोज्यमिति । तथैकः कश्चित् षट्स्वपि जीवनिकायेषु अविरतः असंयतत्वात् तेरसौ 'कार्य'-सावद्यानुष्ठानं स्वयं करोति कारयति च तत्परैः, तस्य च कस्यचिदपि निवृत्तेरभावादेवंभूतोऽध्यवसायो भवति, तद्यथा-एष खल्वहं षड्भिरपि जीवनिकायैः सामान्येन कृत्यं करोमि, न पुनस्तद्विशेषप्रतिज्ञेति, स च तेषु षट्स्वपि जीवनिकायेष्वसंयतोऽप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा भवति, एवं मृषावादेऽपि वाच्यं, तद्यथा-इदं मया वक्तव्यम

नृतमीदृग्भूतं तु न वक्तव्यं, स च तस्मान्मृषावादादनिवृत्तत्वादसंयतो भवति, तथाऽदत्तादानमप्याश्रित्य वक्तव्यं, तद्यथा–इदं मयाऽदत्तादानं ग्राह्यमिदं तु न ग्राह्यमित्येवं मैथुनपरिग्रहेष्वपीति । तथा क्रोधमानमायालोभेष्वपि स्वयमभ्यूह्य वाच्य । तदेवमसौ हिंसादीन्यकुर्वन्नप्यविरतत्वात्तत्प्रत्ययिकं कर्माश्रवति, तथा चासावविरतिप्रत्ययिकं कर्म चिनोतीति, एवं देशकालस्वभावविप्रकृष्टेष्वपि जन्तुष्वमित्रभूतोऽसौ भवति तत्प्रत्ययिकं च कर्माचिनोतीति, सोऽयं संज्ञिदृष्टान्तोऽभिहितः । स च कदाचिदेकमेव पृथिवीकायं व्यापादयति शेषेषु निवृत्तः[3] कदाचिद्वावेवं त्रिका-
दिकाः संयोगा भणनीया यावत्सर्वानपि व्यापादयतीति । स चैवं सर्वेषां व्यापादकत्वेन व्यवस्थाप्यते, सर्व- ९
विषयारम्भप्रवृत्तेः, तत्प्रवृत्तिरपि तदनिवृत्तेः, यथा कश्चिद् ग्रामघातादौ प्रवृत्तो यद्यपि च न तेन विवक्षितकाले केचन पुरुषा दृष्टास्तथाऽप्यसौ तत्प्रवृत्तिनिवृत्तेरभावात्तद्योग्यतया तद्घातक इत्युच्यते, इत्येवं दार्ष्टान्तिकेऽप्या-योज्यम् । संज्ञिदृष्टान्तानन्तरमसंज्ञिदृष्टान्तः प्रागुपन्यस्तः सोऽधुना प्रतिपाद्यते—संज्ञानं संज्ञा सा विद्यते येषां ते संज्ञिनस्तत्प्रतिषेधादसंज्ञिनो मनसो द्रव्यताया अभावात्तीव्रातीव्राध्यवसायविशेषरहिताः प्रसुप्तमत्तमूर्च्छितादिव-
दिति, ये इमेऽसंज्ञिनः तद्यथा–पृथिवीकायिका यावद्वनस्पतिकायिकाः, तथा षष्ठा अप्येके त्रसाः प्राणिनो विक-
लेन्द्रिया यावत्संमूर्च्छिनः पञ्चेन्द्रियाः, ते सर्वेऽप्यसंज्ञिनो येषां नो 'तर्कों'-विचारो मीमांसा विशिष्टविमर्शो विद्यते १०

सा० १ कर्त्तव्याकर्त्तव्यभेदानपेक्ष्य वहुत्व । २ व्यापारयति प्र० । ३ न प्रवृत्त । ४ उपयोगस्य भावमनोरूपतास्वीकारात्, स चास्ति तेषां । ५ तीव्रा सञ्ज्ञिपर्याप्तकस्योत्कटयोगिन. अतीव्रस्तु सूक्ष्मसंपरायाणा । ६ गुणदोषान्वेषणपुरस्सर ॥

यथा कस्यचित्संज्ञिनो मन्दमन्दप्रकाशे स्थाणुपुरुषोचिते देशे किमयं स्थाणुरुत पुरुष इत्येवमात्मक ऊहस्तर्कः संभवति, नैवं तेषामसंज्ञिनां तर्कः संभवन्तीति, तथा संज्ञानं संज्ञा—पूर्वोपलब्धेऽर्थे तदुत्तरकालपर्यालोचना, तथा प्रज्ञानं प्रज्ञा—स्वबुद्ध्योत्प्रेक्षणं स एवायमित्येवंभूतं प्रत्यभिज्ञानं च, तथा मननं मनो—मतिरित्यर्थः, सा चावग्रहादि रूपा, तथा प्रस्पष्टवर्णा वाक् सा च न विद्यते तेषामिति, यद्यपि च द्वीन्द्रियादीनां जिह्वेन्द्रियगलविवरादिकमस्ति तथापि न तेषां प्रस्पष्टवर्णस्य, तथा न चैषां पापं हिंसादिकं करोमि कारयामि वेत्येवंभूताध्यवसायपूर्विका वागिति, तथा स्वयं करोम्यन्यैर्वा कारयामीत्येवंभूतोऽध्यवसायो न विद्यते तेषां । तदेवं तेऽप्यसंज्ञिनो बालवदज्ञाः सर्वेषां प्राणिनां घातनिवृत्तेरभावाद्योग्यतया घातका व्यापादकाः, तथाहि—द्वीन्द्रियादयः परोपघाते प्रवर्तन्त एव, तथा मृषावादिना, अनृतभाषणमपि विद्यते तेषामविरतत्वात्, केवलं कर्मपरतन्त्राणां वागभावः, तथाऽदत्तादानमपि तेषामस्त्येव द्रव्यादिभक्षणात् तथेदमस्मदीयमिदं च पारक्यमित्येवंभूतविचाराभावाच्चेति, तथा स्त्रीनपुंसकवेदो दयान्मैथुनाविरतेश्च मैथुनसद्भावोऽपि, तथाऽशनादेः स्थापनात्परिग्रहसद्भावोऽपीत्येवं क्रोधमानमायालोभा यावन्मिथ्यादर्शनशल्यसद्भावश्च तेषामवगन्तव्यः, तत्सद्भावाच्च ते दिवा रात्रौ वा सुप्ता जाग्रदवस्था वा नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डा भवन्ति, तदेव दर्शयितुमाह—'तंजहा' इत्यादि, ते असंज्ञिनः कचिदपि निवृत्तेरभावाच्च रमस्यपिककर्मणा चोपेता भवन्ति, तद्यथा—प्राणातिपातयावन्मिथ्यादर्शनशल्यवन्तो भवन्ति, तदसत्या च यद्यपि

ख १ मध्यमाध्यवसायत्वात् चित्तमात्यल्पत्वात्तस्य तारतम्यं भावके भावकोनामेव ख ।

ते विशिष्टमनोवाग्व्यापाररहितास्तथापि सर्वेषां प्राणिनां दुःखोत्पादनतया तथा शोचनतया-शोकोत्पादनत्वेन तथा 'जूरणतया'जूरणं-वयोहानिरूपं तत्करणशीलतया तथा त्रिभ्यो-मनोवाकायेभ्यः पातनं त्रिपातनं तद्भावस्तया यदिवा 'तिप्पणयाए'त्ति-परिदेवनतया तथा 'पिट्टणयाए'त्ति मुष्टिलोष्टादिप्रहारेण तथा 'तथाविधपरितापनतया'-बहिरन्तश्च पीडया, ते चासंज्ञिनोऽपि यद्यपि देशकालस्वभावविप्रकृष्टानां न सर्वेषां दुःखमुत्पादयन्ति तथापि विरतेरभावात्तद्योग्यतया दुःखपरितापक्लेशादेरप्रतिविरता भवन्ति, तत्सद्भावाच्च तत्प्रत्ययिकेन कर्मणा बध्यन्ते । तदेवं विप्रकृष्टविषयमपि कर्मबन्धं प्रदर्श्योपसंजिहीर्षुराह-इतिरुपप्रदर्शने खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे विशेषणे वा, किं विशिनष्टि ?-ये इमे पृथिवीकायादयोऽसंज्ञिनः प्राणिनस्तेषां न तर्को न संज्ञा न प्रज्ञा न मनो न वाक् न स्वयं कर्तुं नान्येन कारयितुं न कुर्वन्तमनुमन्तुं वा प्रवृत्तिरस्ति, ते चाहर्निशममित्रभूता मिथ्यासंस्थिता नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डा दुःखोत्पादनयावत्परितापनपरिक्लेशादेरप्रतिविरता असंज्ञिनोऽपि सन्तोऽहर्निशं सर्वकालमेव प्राणातिपाते कर्तव्ये तद्योग्यतया तदसंप्राप्तावपि ग्रामघातकवदुपाख्यायन्ते यावन्मिथ्यादर्शनशल्य उपाख्यायन्त इति, उपाख्यानं चासंज्ञिनोऽपि योग्यतया पापकर्मानिवृत्तेरित्यभिप्रायः । तदेवं दर्शिते दृष्टान्तद्वये तत्प्रतिबद्धमेवार्थशेषं प्रतिपादयितुं चोद्यं क्रियते, तद्यथा-किमेते सत्त्वाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च भव्याभव्यत्ववन्नियतरूपा एवाहोस्वित्संज्ञिनो भूत्वाऽसंज्ञित्वं प्रतिपद्यन्ते असंज्ञिनोऽपि संज्ञित्वमित्येवं चोदिते

सा० १ सज्ञिसमुच्चयाय । २ अप्रतिविरततासद्भावात् ।

तस्याहाचार्यः–' सव्वजोणियावि खलु ' इत्यादि, यदि वा सन्त्येवमूता वेदान्तवादिनो य एवं प्रतिपादयन्ति–'पुरुषः' पुरुषत्वमश्नुते पशुरपि पशुत्व 'मिति, तदत्रापि संज्ञिनः संज्ञिन एव भविष्यन्त्यसंज्ञिनोऽप्यसंज्ञिन इति, तन्मतव्यवच्छेदार्थमाह–' सव्वजोणियावी 'त्यादि, यदि वा किं संज्ञिनोऽसंज्ञिकर्मबन्धं प्राक्तने सत्येव कर्माणि कुर्वन्ति किंवा नेत्येवमसंज्ञिनोऽपि संज्ञिकर्म च प्राक्तने सत्येव कुर्वन्त्याहोस्विन्नेत्येतदाशङ्क्याह–' सव्वजोणियावी 'त्यादि, सर्वा योनयो येषां ते सर्वयोनयः संवृतविवृतोभयशीतोष्णोभयसचित्ताचित्तोभयरूपयोनय इत्यर्थः, ते च नारकतिर्यङ्नरामरा अपिशब्दाद्विशिष्टैकयोनयोऽपि, सत्त्विति विशेषणे, एतद्विशिनष्टि–तज्जन्मापेक्षया सर्वयोनयोऽपि सत्त्वाः पर्याप्त्यपेक्षया यावन्मनःपर्याप्तिर्न निष्पद्यते तावदसंज्ञिनः करणतः सन्तः पश्चात्संज्ञिनो भवन्त्येकस्मिन्नेव जन्मनि, अन्यत्र भावापेक्षया स्वेकेन्द्रियादयोऽपि सन्तः पश्चान्मनुष्यादयो भवन्तीति, तथाभूतकर्मपरिणामात्, न पुनर्भव्याभव्यत्ववत् व्यवस्थानियमो, भव्याभव्यत्वे हि न कर्मायत्ते अतो नानयोर्व्यभिचारः, ये पुनः कर्मवशगास्ते संज्ञिनो भूत्वाऽन्यत्रासंज्ञिनो भवन्त्यसंज्ञिनश्च भूत्वा संज्ञिन इति। वेदान्तवादिमतस्य तु प्रत्यक्षेणैव व्यभिचारः समुपलभ्यते, तद्यथा–संज्ञ्यपि कश्चिन्मूर्च्छावस्थायामसंज्ञित्वं प्रतिपद्यते, तदपगमे तु पुनः संज्ञित्वमिति, जन्मान्तरे तु सुतरां व्यभिचार इति। तदेव संज्ञ्यसंज्ञिनोः कर्मपरतन्त्रत्वादन्योऽन्यानुगतिरनिरुद्धा, यथा प्रतिबुद्धो निद्रोदयात्स्वपिति सुप्तश्च प्रतिबुध्यते इत्येवं स्वापप्रतिबोध

त १ संज्ञित्वमपी मवन्ते तस्मिन्–वैयाविके। गाथा संज्ञित्वमाशिविमिति।

योरन्योऽन्यानुगमनमेवमिहापीति। तत्र प्राक्तनं कर्म यदुदीर्णं यच्च बद्धमास्ते तस्मिन् सत्येव तदविविच्य–अपृथक्कृत्य तथाऽविधूय–असमुच्छिद्याऽननुताप्यैते चाविविच्यादयश्चत्वारोऽप्येकार्थिका अवस्थाविशेषं वाऽऽश्रित्य भेदेन व्याख्यातव्याः। तदेवमपरित्यक्तप्राक्तनकर्मणोऽसंज्ञिकायात् संज्ञिकायं संक्रामन्ति तथा संज्ञिकायादसंज्ञिकायमिति संज्ञिकायात्संज्ञिकायं असंज्ञिकायादसंज्ञिकायं यथा नारकाः सावशेषकर्माण एव नरकादुद्धृत्य प्रतनुवेदनेषु तिर्यक्षूत्पद्यन्ते, एवं देवा अपि प्रायशस्तत्कर्मशेषतया शुभस्थानेषूत्पद्यन्ते इत्यवगन्तव्यं, अत्र च चतुर्भंगकसंभवं सूत्रेणैव दर्शयति। साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिघृक्षुः प्राक्प्रतिपन्नमर्थं निगमयन्नाह–'जे एते से'त्यादि, ये एते सर्वाभिरपि पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः लब्ध्या करणेन च तद्विकलाश्चापर्याप्तकाः अन्योऽन्यसंक्रमभाजः संज्ञिनोऽसंज्ञिनो वा सर्वेऽप्येते मिथ्याचारा अप्रत्याख्यानित्यवादित्यभिप्रायः, तथा सर्वजीवेष्वपि नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डा भवन्तीत्येवंभूताश्च प्राणातिपाताद्येषु सर्वेष्वप्याश्रवद्वारेषु वर्तन्त इति। तदेवं व्यवस्थिते यदुक्तं चोदकेन–' तद्यथा–इहाविद्यमानाशुभयोगसम्भवे कथं पापं कर्म बध्यत ' इत्येतन्निराकृत्य विरतेरभावात्तद्योग्यतया पापकर्मसद्भावं दर्शयति–' एवं खलु ' इत्यादि, 'एवं'–उक्तनीत्या खल्ववधारणेऽलङ्कारे वा भगवता तीर्थकृतेत्यादिना यत्प्राक् प्रतिज्ञातं तदनुवदति यावत्पापं च कर्म क्रियत इति। तदेवप्रत्याख्यानिनः कर्मसंभवात्तत्संभवाच्च नारकतिर्यङ्नरामरगतिलक्षणं संसारमवगम्य संजातवैराग्यश्चोदक आचार्यं प्रति प्रवणचेताः प्रश्नयितुमाह—

चोदकः–से किं कुव्वं किं कारवं कहं संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे भवइ ?,

आचार्य आह-तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकाय हेऊ पण्णत्ता, तंजहा-पुढवीकाइया जाव तसकाइया, से जहाणामए मम अस्सातं दंडेण वा, अट्ठीण वा, मुट्ठीण वा, लेलूण वा, कवालेण वा; आतोडिज्जमाणस्स वा जाव उवद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा; आतोडिज्जमाणे वा, हम्ममाणे वा, तज्जिज्जमाणे वा, तालिज्जमाणे वा, जाव उवद्दविज्जमाणे वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति, एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता न हंतव्वा जाव ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णितिए सासए समिच्च लोगं खेयन्नेहिं पवेदिए, एवं से भिक्खू विरते पाणाइवायाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ, से भिक्खू णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं णो वमणं णो धूवणित्तं पिआइत्ते, से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे जाव अलोभे उवसंते परिनिव्वुडे, एस खलु भगवया अक्खाए संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे अकिरिए संवुडे एगंतपंडिए भवइ त्तिबेमि ॥ सूत्रम्-५७ ॥ इति बीयसुयक्खंधस्स पच्चक्खाणकिरिया णाम चउत्थमज्झयणं समत्तं ॥ २-४ ॥

स किमनुष्ठानं स्वतः कुर्वन् किं वा परं कारयन् 'कथं' वा-केन प्रकारेण संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा जन्तुर्भवति ?, संयतस्य हि निरतिसन्नाभात्सावद्यक्रियानिवृत्तिस्वभावेन कृतकर्मसंचयाभावस्तदभावाच्च

रकादिगत्यभाव इत्येवं पृष्टे सत्याचार्य आह–'तत्थ खलु' इत्यादि, [ग्रन्थाग्रं ११०००] तत्र–संयमसद्भावे षड् जीवनिकाया भगवता हेतुत्वेनोपन्यस्ताः, यथा प्रत्याख्यानरहितस्य षड् जीवनिकायाः संसारगतिनिबन्धनत्वेनोपन्यस्ताः एवं त एव प्रत्याख्यानिनो मोक्षाय भवन्तीति, तथा चोक्तम्–"जे[1] जत्तिया य हेऊ भवस्स ते चेव तत्तिया मोक्खे। गणणाईया लोगा दोण्हवि पुण्णा भवे तुल्ला ॥१॥" इत्यादि, इदमुक्तं भवति–यथाऽऽत्मनो दण्डाद्युपघाते दुःखमुत्पद्यते एवं सर्वेषामपि प्राणिनामित्यात्मोपमया तदुपघातान्निवर्तते, एष 'धर्मः' सर्वापायत्राणलक्षणो 'ध्रुवः'–अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरस्वभावो, 'नित्य' इति -परिणामानित्यतायामपि सत्यां स्वरूपाच्यवनात् तथा आदित्योद्गतिरिव शश्वद्भवनाच्छाश्वतः–परैः क्वचिदप्यस्खलितो युक्तिसंगतत्वादित्यभिप्रायः, अयमेवंभूतश्च धर्मः 'समेत्य'-अवगम्य, 'लोकं'--चतुर्दशरज्ज्वात्मकं, 'खेदज्ञैः'--सर्वज्ञैः प्रवेदितः, तदेवं स भिक्षुर्निवृत्तः सर्वाश्रवद्वारेभ्यो दन्तप्रक्षालनादिकाः क्रियाः अकुर्वन् सावद्यक्रियाया अभावादक्रियोऽक्रियत्वाच्च प्राणिनामलूषकः अव्यापादको यावदेकान्तेनैवासौ पण्डितो भवति। इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत्, नयाः प्राग्वद्व्याख्येयाः। समाप्तं प्रत्याख्यानाख्यं चतुर्थमध्ययनमिति ॥ ४ ॥

सा० १ ये यावन्तो हेतवश्च भवस्य ते तावन्तश्चैव मोक्षस्य। गणनातिगा लोका द्वयोरपि पूर्णा भवेयुस्तुल्या ॥ १ ॥

अथ पञ्चमाचारश्रुताध्ययनप्रारम्भः ।

साम्प्रत पञ्चममारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः, इहानन्तराध्ययने प्रत्याख्यानक्रियोक्ता, सा चाचार व्यवस्थितस्य सतो भवतीत्यतस्तदनन्तरमाचारश्रुताध्ययनमभिधीयते, यदि वाऽनाचारपरिवर्जनेन सम्यक् प्रत्याख्यानमस्खलितं भवतीत्यतोऽनाचारश्रुताध्ययनमभिधीयते, यदि वा प्रत्याख्यानयुक्तः सम्यगाचारवान् भवतीत्यतः प्रत्याख्यानक्रियाऽनन्तरमाचारश्रुताध्ययनं तत्प्रतिपक्षभूतमनाचारश्रुताध्ययनं वा प्रतिपाद्यत इत्यनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति । तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा अनाचारं प्रतिषिध्य साधूनामाचारः प्रतिपाद्यते, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे आचारश्रुतमिति द्विपदं नाम, तदनयोर्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

णामठवणायारे दव्वे भावे य होति नायव्वो । एमेवं य सुतस्सा निक्खेवो चउव्विहो होति ॥१८१॥
आयारसुय भणिय वज्जेयव्वा सया अणायारा । अबहुसुयस्स हु होज्जं विराहणा इत्थ जइयव्वं ॥१८२॥
एयस्स उ पडिसेहो इहमज्झयणम्मि होति नायव्वो । तो अणगारसुयंति य होई नामं तु एयस्स ॥१८३॥

१ मम च चा। २ चारे च चा। ३ होइ च चा। ४ °मेवमं चा। ५ °यस्स वि च चा। ६ होइ च। ७ होज्ज हु च चा। ८ एय चा। ९ होइ ज. चा। १ होइ च चा। ११ अज्झयणस्स निज्जुत्ती सम्मत्ता। च. चा।

तत्राचारो नामस्थापनाद्रव्यभावभेदभिन्नश्चतुर्धा द्रष्टव्यः, एवं श्रुतमपीति । तत्राचारश्रुतयोरन्यत्राभिहितयो-र्लाघवार्थमतिदेशं कुर्वन्नाह–आचारश्च श्रुतं च आचारश्रुतं द्वन्द्वैकवद्भावस्तदुभयमपि 'भणितम्'–उक्तं, तत्राचारः क्षुल्लिकाचारकथायामभिहितः श्रुतं तु विनयश्रुते, भावार्थस्तु 'वर्जयितव्याः'–परिहार्याः, 'सदा'–सर्वकालं यावज्जीवं साधुनाऽनाचाराः, तांश्च 'अबहुश्रुतः'–अगीतार्थो न सम्यग् जानातीत्यतस्तस्य विराधना भवेत्, तुशब्दोऽवधारणे, अबहुश्रुतस्यैव विराधना न गीतार्थस्येत्यतः 'अत्र'–सदाचारे तत्परिज्ञाने च यतितव्यं, यथा हि मार्गज्ञः पथिकः कुमार्गवर्जनेन नापथगामी भवति न चोन्मार्गदोषैर्युज्यते एवमनाचारं वर्जयन्नाचारवान् भवति न चानाचारदोषैर्युज्यत इत्यतस्तत्प्रतिषेधार्थमाह–'एतस्य'–अनाचारस्य सर्वदोषास्पदस्य दुर्गतिगमनैकहेतोः 'प्रतिषेधो'–निराकरणं सदाचारप्रतिपत्त्यर्थम् इह–अध्ययने ज्ञातव्यः, स च परमार्थतोऽनगारकारणमिति, ततः केषांचिन्मतेनैतस्याध्ययनस्यानगारश्रुतमित्येतन्नाम भवतीति । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तदनन्तरं सूत्रानु-गमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

आदाय बंभचेरं च, आसुपन्ने इमं वइं । अस्सिं धम्मे अणायारं, नायरेज्ज कयाइवि ॥ १ ॥ सूत्रम्॥

अस्य चानन्तरपरम्परसूत्रैः संबन्धो वाच्यः, तत्रानन्तरसूत्रेण सहायम्–एकान्तपण्डितो भवति, कथम् ?–'आदाय ब्रह्मचर्य'–मिति, परम्परसूत्रसंबन्धस्त्वयं–'बुध्येत तदा त्रोटयेद् बन्धनं' किं कृत्वेत्याह–आदाय ब्रह्मचर्यमिति, एवमन्यैरपि सूत्रैः संबन्धो वाच्यः, अर्थस्त्वयम्–'आदाय'–गृहीत्वा, किं तद् ?, ब्रह्मचर्य–सत्य-

यथोभूतस्येन्द्रियनिरोधलक्षणं तमर्पते–मनुष्ठीयते यस्मिन् तं मौनीन्द्रं प्रवचनं ब्रह्मचर्यमित्युच्यते तदादाय 'आशुप्रज्ञः' पटुप्रज्ञः सदसद्विवेकज्ञः, क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियासव्यपेक्षित्वात्तामाह–'इमां'–समस्ताध्ययने नाभिधीयमानां प्रत्यक्षासन्नभूतां वाचम्–'इदं शाश्वतमेवे'त्यादिकां कदाचिदपि 'नाचरेत्'–नाभिदध्यात्, यथाऽस्मिन् धर्मे–सर्वज्ञप्रणीते व्यवस्थितः सन्ननाचार–सावद्यानुष्ठानरूपं 'न समाचरेत्'–न विदध्यादिति संबन्धः, यदि वाऽऽशुप्रज्ञः सर्वज्ञः प्रतिसमयं केवलज्ञानदर्शनोपयोगित्वात्तत्संबन्धिनि धर्मे व्यवस्थितः 'इमां'–वक्ष्यमाणां वाचम् अनाचारं च कदाचिदपि नाचरेदिति श्लोकार्थः ॥१॥ तत्रानाचारं नाचरेदित्युक्तम्, अनाचारश्च मौनीन्द्रप्रवचनस्याऽपरोऽभिधीयते, मौनीन्द्रप्रवचनं तु मोक्षमार्गहेतुतया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं, सम्यग्दर्शनं तु तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं, तत्त्वं तु जीवाजीवपुण्यपापाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षात्मकं, तथा धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवकालात्मकं च द्रव्यं नित्यानित्यस्वभावं, सामान्यविशेषात्मकोऽनाद्यपर्यवसानश्चतुर्दशरज्ज्वात्मको वा लोकस्तत्त्वमिति, ज्ञानं तु मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलस्वरूपं पञ्चधा, चारित्रं सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धीयसूक्ष्मसंपराययथाख्यातरूपं पञ्चधैव मूलोत्तरगुणभेदतो वाऽनेकधेत्येवं व्यवस्थिते मौनीन्द्रप्रवचने 'न कदाचिदनीदृशं जग'दिति कृत्वाऽनाद्यपर्यवसाने लोके सति दर्शनाचारप्रतिपक्षभूतमनाचारं दर्शयितुकाम आचार्यो यथावस्थितलोकस्वरूपोद्घट्टनपूर्वकमाह—

अणादीयं परिन्नाय, अणवदग्गेति वा पुणो। सासयमसासए वा, इति दिट्ठिं न धारए ॥ २ ॥सूत्रम्॥

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई। एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ३ ॥सूत्रम्॥

नास्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्य धर्माधर्मादिकस्य वा द्रव्यस्यादिः-प्रथमोत्पत्तिर्विद्यत इत्यनादिकस्त-मेवम्भूतं 'परिज्ञाय'-प्रमाणतः परिच्छिद्य तथा 'अनवदग्रम्'-अपर्यवसानं च परिज्ञायोभयनयात्मकव्युदासेनैक-नयदृष्ट्याऽवधारणात्मैकप्रत्यैयमनाचारं दर्शयति-शश्वद्भवतीति शाश्वतं-नित्यं सांख्याभिप्रायेणाप्रच्युतानुत्पन्न-स्थिरैकस्वभावं स्वदर्शने चानुयायिनं सैमान्यांशमवलम्ब्य धर्माधर्माकाशादिष्वनादित्वमपर्यवसानत्वं चोपलभ्य सर्वमिदं शाश्वतमित्येवंभूतां दृष्टिं 'न धारये'दिति-एवं पक्षं न समाश्रयेत् । तथा विशेषपक्षमाश्रित्य 'वर्त्तमान-नारकाः समुच्छेत्स्यन्ती'त्येतच्च सूत्रमङ्गीकृत्य यत्सत्तत्सर्वमनित्यमित्येवंभूतबौद्धदर्शनाभिप्रायेण च सर्वमशाश्वतम्-अनित्यमित्येवंभूतां च दृष्टिं न धारयेदिति ॥ २ ॥ किमित्येकान्तेन शाश्वतमशाश्वतं वा वस्त्वित्येवम्भूतां दृष्टिं न धारयेदित्याह-सर्वं नित्यमेवानित्यमेव वैताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यामभ्युपगम्यमानाभ्यामनयोर्वा पक्षयोर्व्यवहरणं व्यवहारो-लोकस्यैहिकामुष्मिकयोः कार्ययोः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो न विद्यते, तथाहि-अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्व-भावं सर्वं नित्यमित्येवं न व्यवह्रियते, प्रत्यक्षेणैव नवपुराणादिभावेन प्रैध्वंसाभावेन वा दर्शनात्, तथैव च लोकस्य प्रवृत्तेः, आमुष्मिकेऽपि नित्यत्वादात्मनो बन्धमोक्षाद्यभावेन दीक्षायमनियमादिकमनर्थकमिति न व्यवह्रियते ।

१ सा० प्रमाणरूपत्वान्मौनीन्द्रागमस्योभयनयात्मकता । २ ०त्मक प्रत्यय, प्रत्यय ज्ञान, प्रतीत्यस्य चाध्याहार. । ३ मिथ्यात्वकारणक । ४ कर्मतारूप । ५ प्रध्वसरूपोऽभाव, तेन तद्रूपेणेत्यर्थ., ईर्यया साधुरितिवद् प्रकृत्या चार्वितिवद्वा तृतीया । ६ अनर्थकतया निवृत्तिरूपफलदतया ।

मपेक्षान्यानित्यत्वेऽपि लोको धनधान्यघटपटादिकमनागतभोगार्थं न सङ्गृह्णीयात्, तथाऽऽमुष्मिकेऽपि सुपिक्ष-स्यादागमनः प्रवृत्तिर्न स्यात्, तथा च दीक्षाविहारादिकमनर्थकं, तस्मादित्यानित्यात्मके एव स्याद्वादे सर्वव्यव-हारप्रवृत्तिः अत एव तयोर्नित्यानित्ययोः स्थानयोरेकान्तत्वेन समाश्रीयमाणयो रैहिकामुष्मिककार्यविध्वंसरूप मनाचारं मौनीन्द्रागमबाह्यरूपं विजानीयात्, तुशब्दो विशेषणार्थः, कथञ्चिन्नित्यानित्ये वस्तुनि सति व्यवहारो युज्यत इत्येतद्विशिनष्टि, तथाहि—सामान्यमन्वयिनमंशमाश्रित्य स्यान्नित्यमिति भवति, तथा विशेषांश्च प्रतिक्षण मन्यथा च मन्यथा च नवपुराणादिदर्शनतः स्यादनित्य इति भवति, तथोत्पादव्ययध्रौव्याणि चार्हद्दर्शनाश्रितानि व्यवहाराङ्गं भवति । तथा चोक्तम्—"घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम् ॥ १ ॥ इत्यादि । यदेवं नित्यानित्यपक्षयोर्व्यवहारो न विद्यते, तथाऽनयोरेकान्तनाचारं विजानीया दिति स्थितम् ॥ २ ॥ तथाऽन्यमप्यनाचारं प्रतिषेद्धुकाम आह—

समुच्छिज्जिहिंति सत्थारो, सव्वे पाणा अणेलिसा । गंठिगा वा भविस्संति, सासयंति व णो वए ॥४॥
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जइ । एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ५ ॥सूत्रम्॥

मव्याइ-निरवशेषतया 'उच्छेत्स्यन्ति' उच्छेदं यास्यन्ति—क्षयं प्राप्स्यन्ति सामस्त्येनोत्—प्राबल्येन सेत्स्यन्ति वा सिद्धिं यास्यन्ति, के ते ?—शास्तारः—तीर्थकृतः सर्वशास्त्रच्छासनप्रतिपन्ना वा 'सर्वे' निरवशेषाः सिद्धिगमन

१ क० ...दर्शनाभिव्यक्त मर्ने । २ विशेषणार्थैव्यत इसर्न । ३ मवन्ति (विभक्त्युत्तरपरीता) प्र ।

योग्या भव्याः, ततश्चोच्छिन्नभव्यं जगत्स्यादिति, शुष्कतर्काभिमानग्रहगृहीता युक्तिं चाभिदधति–जीवसद्भावे सत्यप्यपूर्वोत्पादाभावादभव्यस्य च सिद्धिगमनासम्भवात्कालस्य चाऽऽनन्त्यादनारतं सिद्धिगमनसम्भवेन तद्व्ययोपपत्तेरपूर्वायाभावाद्भव्योच्छेद इत्येवं नो वदेत्, तथा सर्वेऽपि 'प्राणिनो'–जन्तवः, 'अनीदृशा'–विसदृशाः सदा परस्परविलक्षणा एव, न कथञ्चित्तेषां सादृश्यमस्तीत्येवमप्येकान्तेन नो वदेत्, यदिवा–सर्वेषां भव्यानां सिद्धिसद्भावेऽवशिष्टाः संसारे 'अनीदृशाः'–अभव्याः एव भवेयुरित्येवं च नो वदेत्, युक्तिं चोत्तरत्र वक्ष्यति। तथा कर्मात्मको ग्रन्थो येषां विद्यते ते ग्रन्थिकाः, सर्वेऽपि प्राणिनः कर्मग्रन्थोपेता एव भविष्यन्तीत्येवमपि नो वदेत्, इदमुक्तं भवति–सर्वेऽपि प्राणिनः सेत्स्यन्त्येव कर्मावृता वा सर्वे भविष्यन्तीत्येवमेकमपि पक्षमेकान्तिकं नो वदेत्। यदिवा–'ग्रन्थिका'–इति ग्रन्थिकसत्त्वा भविष्यन्तीति, ग्रन्थिभेदं कर्तुमसमर्था भविष्यन्तीत्येवं च नो वदेत्, तथा 'शाश्वताः'–इति शास्तारः 'सदा'–सर्वकालं स्थायिनस्तीर्थकरा भविष्यन्ति 'न समुच्छेस्यन्ति'–नोच्छेदं यास्यन्तीत्येवं नो वदेदिति ॥ ४ ॥ तदेवं दर्शनाचारवादनिषेधं[2] वाङ्मात्रेण प्रदर्श्याधुना युक्तिं दर्शयितुकाम आह–'एतयोः'–अनन्तरोक्तयोर्द्वयोः स्थानयोः, तद्यथा–शास्तारः क्षयं यास्यन्तीति, शाश्वता वा भविष्यन्तीति यदिवा सर्वे शास्तारस्तद्दर्शनप्रतिपन्ना वा सेत्स्यन्ति शाश्वता वा भविष्यन्ति, यदि वा सर्वे प्राणिनो ह्यनीदृशाः–विसदृशाः सदृशा वा, तथा ग्रन्थिकसत्त्वास्तद्रहिता वा भविष्यन्तीत्येवमनयोः स्थानयोर्व्यवहरणं व्यवहारस्तदस्तित्वे युक्तेर-

सा० १ दर्शनानाचारवादनिषेध प्र०। २ दर्शनाचारविषये वादस्य निषेध।

भावाश्च विद्यते, तथाहि—यच्चायुक्तं 'सर्वे भास्वारः क्षयं यास्यन्ति' इत्येतदयुक्तं, क्षयनिपन्नतस्य कर्मणोऽभा वात्सिद्धानां क्षपामाना, अथ भवस्थकेवल्यपेक्षयेदमभिधीयते, तदप्यनुपपन्नं, यतोऽनाद्यनन्तानां केवलिनां सद्भावात्प्रवाहापेक्षया तदभावाभावः। यदप्युक्तम्–' अपूर्वस्याभावे सिद्धिगमनसद्भावेन च व्ययसद्भावाल्लभ्यशून्य जगत् स्यात्' इत्येतदपि सिद्धान्तपरमार्थविदिनो वचनं, यतो भव्यराशे राद्धान्ते भविष्यत्कालस्येवानन्त्यमुक्तं, सिद्धिगमनेन भाव्यमित्यानन्त्याद्भव्यानां तत्सामग्र्यभावायोग्यदलिकप्रतिमावचैदनुपपत्तिरिति। तथा नापि चिरत्नाप्तता इति। तथा सर्वेऽपि प्राणिनो विचित्रकर्मसद्भावान्नानागतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गादिसमन्वितत्वादनी दृशाः–चिरस्थास्त्वयोपयोगासंख्येयप्रदेशत्वामूर्तत्वादिभिर्धर्मैः कथञ्चित्सदृशा इति, तयोच्छ्रितसद्वीर्यतया केचि त्क्रिमन्न ययोऽपरे च तथाविधपरिणामाभावात् भन्यिकसत्ता एव भवन्तीत्येवं च व्यवस्थिते नैकान्तेनैकान्तपक्षो भवतीति प्रतिपिद्धः, तदेवमेतयोरेव द्वयोः स्थानयोरुक्तनीत्याऽनाचारं विजानीयादिति स्थितम्। अपि च–आगमे अनन्तानन्तास्वप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु भव्यानामनन्तभाग एव सिध्यतीत्ययमर्थः प्रतिपाद्यते, यदा चैवंभूत

गा १ योग्यत्व च तत्सम्प्रायुक्तेवरूप। २ तत्सम्भव्यानां तुपपत्ते।

तदानन्त्यं तत्कथं तेषां क्षयः ?, युक्तिरप्यत्र—संबन्धिशब्दावेतौ, मुक्तिः संसारं विना न भवति, संसारोऽपि न मुक्तिमन्तरेण, ततश्च भव्योच्छेदे संसारस्याप्यभावः स्यादतोऽभिधीयते नानयोर्व्यवहारो युज्यत इति ॥ ५ ॥

अधुना चारित्राचारमङ्गीकृत्याह—

जे केइ खुद्दगा पाणा, अदुवा संति महालया । सरिसं तेहिं वेरंति, असरिसंती य णो वदे ॥६॥ एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई । एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ सूत्रम् ७ ॥

ये केचन क्षुद्रकाः सत्त्वाः—प्राणिन एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादयोऽल्पकाया वा पञ्चेन्द्रिया अथवा ‘ महालयाः ’—महाकायाः ‘ सन्ति ’—विद्यन्ते तेषां च क्षुद्रकाणामल्पकायानां कुन्थ्वादीनां महानालयः—शरीरं येषां ते महालया—हस्त्यादयस्तेषां च व्यापादने सदृशं ‘ वैर ’मिति—वज्रं कर्म विरोधलक्षणं वा वैरं तत् ‘ सदृशं ’ समानं तुल्यप्रदेशत्वात्सर्वजन्तूनामित्येवमेकान्तेन नो वदेत्, तथा ‘ विसदृशम् ’—असदृशं—तद्व्यापत्तौ वैरं कर्मबन्धो विरोधो वा इन्द्रियविज्ञानकायानां विसदृशत्वात् सत्यपि प्रदेशतुल्यत्वे न सदृशं वैरमित्येवमपि नो वदेत्, यदि हि वध्यापेक्ष एव कर्मबन्धः स्यात्तदा तत्तद्वशात्कर्मणोऽपि सादृश्यमसादृश्यं वा वक्तुं युज्येत, न च तद्वशादेव बन्धः अपि त्वध्यवसायवशादपि, ततश्च तीव्राध्यवसायिनोऽल्पकायसत्त्वव्यापादनेऽपि महद्वैरम्, अकामस्य तु महाकायसत्त्वव्यापादनेऽपि स्वल्पमिति ॥ ६ ॥ एतदेव सूत्रेणैव दर्शयितुमाह—आभ्यामनन्तरोक्ताभ्यां स्थानाभ्या-

---

सा० १ अत्र हि ह्रस्वदीर्घत्ववद् घटतदभाववत्त्वापेक्षता न तु कार्यकारणरूपेण, तथा च न मुक्तिमन्तरेण न संसार इत्यत्र विरोधः ।

मनयोर्वा स्थानयोरल्पकायमहाकायव्यापादनापादितकर्मणः सदृशत्वासदृशत्वयोर्व्यवहरणं व्यवहारो निर्युक्तिकत्वान्न युज्यते, तथाहि–न वध्यस्य सदृशत्वमसदृशत्वं चैकमेव कर्मबन्धस्य कारणम्, अपितु वधकस्य तीव्रभावो मन्दभावो ज्ञानभावोऽज्ञानभावो महावीर्यत्वमल्पवीर्यत्वं चेत्येतदपि। तदेवं वध्यवधकयोर्विशेषात्कर्मबन्धविशेष इत्येवं व्यवस्थिते वध्यमेवाश्रित्य सदृशत्वासदृशत्वव्यवहारो न विधेय इति। तथाऽनयोरेव स्थानयोः प्रवृत्तस्यानाचारं विजानीयादिति, तथाहि–यज्जीवसाम्यात्कर्मबन्धसदृशत्वमुच्यते, तदयुक्तं, यतो न हि जीवव्यापत्त्या हिंसोच्यते, तस्य शाश्वतत्वेन व्यापादयितुमशक्यत्वात्, अपि त्विन्द्रियादिव्यापत्त्या, तथा चोक्तम्–"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिश्वासमथान्यदायुः। प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥ १ ॥" इत्यादि। अपिच भावसव्यपेक्षस्यैव कर्मबन्धोऽभ्युपेतुं युक्तः, तथाहि–वैद्यस्यागमसव्यपेक्षस्य सम्यक् क्रियां कुर्वतो यद्यप्यातुरविपत्तिर्भवति तथापि न वैरानुषङ्गो भावदोषाभावात्, अपरस्य तु सर्पबुद्ध्या रज्जुमपि घ्नतो भावदोषात्कर्मबन्धः, तद्रहितस्य तु न बन्ध इति, उक्तं चागमे–'उच्चालियंमि पाए' इत्यादि, तण्डुलमत्स्याख्यानकं तु सुप्रसिद्धमेव। तदेवंविधवध्यवधकभावापेक्षया स्यात् सदृशत्वं स्यादसदृशत्वमिति, अन्यथाऽनाचार इति ॥ ७ ॥ पुनरपि चारित्रमधिकृत्याहारविषयानाचाराचारौ प्रतिपादयितुकाम आह—

च १ कर्मबन्धप्रेक्षया। २ सर्वेषां प्र। ३ ... पूर्वं व्यतिरेकेण ... कर्मबन्ध इति। ४ भावदोष-रहितस्य। ५ उच्चालियंमि पाए।

अहाकम्माणि भुंजंति,अण्णमण्णे सकम्मुणा। उवलित्तेति जाणिज्जा,अणुवलित्तेति वा पुणो ॥सू०॥८॥
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई। एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ सू० ॥ ९ ॥

साधुं प्रधानकारणमाधाय–आश्रित्य कर्माण्याधाकर्माणि, तानि च वस्त्रभोजनवसत्यादीन्युच्यन्ते, एतान्याधाकर्माणि ये भुञ्जन्ते–एतैरुपभोगं ये कुर्वन्ति 'अन्योऽन्यं' परस्परं तान् स्वकीयेन कर्मणोपलिप्तान् विजानीयादित्येवं नो वदेत्, तथाऽनुपलिप्तानिति वा नो वदेत्, एतदुक्तं भवति–आधाकर्मापि श्रुतोपदेशेन शुद्धमितिकृत्वा भुञ्जानः कर्मणा नोपलिप्यते, तदाधाकर्मोपभोगेनावश्यतया कर्मबन्धो भवतीत्येवं नो वदेत्, तथा श्रुतोपदेशमन्तरेणाहारगृद्ध्याऽऽधाकर्म भुञ्जानस्य तन्निमित्तकर्मबन्धसद्भावात् अतोऽनुलिप्तानपि नो वदेत्, यथावस्थितमौनीन्द्रागमज्ञस्य त्वेवं युज्यते वक्तुम्–आधाकर्मोपभोगेन स्यात्कर्मबन्धः स्यान्नेति, यत उक्तम्–"किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं वा स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्। पिण्डः शय्या वस्त्रं पात्रं वा भेषजाद्यं वा ॥ १ ॥" तथाऽन्यैरप्यभिहितम्–"उत्पद्येत हि साऽवस्था, देशकालामयान्प्रति। यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्कर्म कार्यं च वर्जयेद् ॥ १ ॥" इत्यादि ॥ ८ ॥ किमित्येवं स्याद्वादः प्रतिपाद्यत इत्याह–आभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यामाश्रिताभ्यामनयोर्वा स्थानयोराधाकर्मोपभोगेन कर्मबन्धभावाभावभूतयोर्व्यवहारो न विद्यते, तथाहि–यद्यवश्यमाधाकर्मोपभोगेनैकान्तेन कर्मबन्धोऽभ्युपगम्येत एवं चाहाराभावेनापि क्वचित्सुतरामनर्थोदयः स्यात्, तथाहि–क्षुत्प्रपीडितो न सम्यगीर्यापथं

सा० १ मादाय प्र०।

सोपयेत् ततश्च भवन् मा भूदपमर्दमपि कुर्यात् मूर्च्छादिसद्भावतया च देहपाते सत्यसंयमाप्ती भासादिभ्यापातो ऽकालमरणे चाविरतिस्वीकृता भवस्यार्तध्यानापत्तौ च तिर्यग्गतिरिति, आगमश्च—"सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खेज्जा" इत्यादिनाऽपि तदुपभोगे कर्मबन्धाभाव इति, तथाहि—आधाकर्मण्यपि निष्पाद्यमाने षड् जीवनिकायवधस्तद्वधे च प्रतीतः कर्मबन्ध इत्यतोऽनयोः स्थानयोरेकान्तेनाश्रीयमाणयोर्व्यवहारस्य व्यवहारो न युज्यते, तथाऽऽभ्यामेव स्थानाभ्यां समाश्रिताभ्यां सर्वमनाचारं विजानीयादिति स्थितम् ॥ ९ ॥ पुनरप्यन्यथा दर्शन प्रति वाग्गनाचारं दर्शयितुमाह—

जमिदं ओरालमाहारं,कम्मगं च तहेव य(तमेव तं)। सव्वत्थ वीरियं अत्थि,णत्थि सव्वत्थ वीरियं॥१०॥
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई। एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥११॥ सू०॥

यदिवा योऽयमनन्तरमाहारः प्रदर्शितः स सति शरीरे भवति शरीरं च पञ्चधा तस्य चौदारिकादेः शरीरस्य भेदाभेदं प्रतिपादयितुकामः पूर्वपक्षद्वारेणाह—'जमिदं'मित्यादि, यदिदं—सर्वजनप्रत्यक्षद्वारेण पुद्गलैर्निर्वृत्तमौदारिकमेतदेवोरालं निस्सारत्वात् एतच्च तिर्यङ्मनुष्याणां भवति तथा चतुर्दशपूर्वविदा कस्मिंश्चित्संशयादावाहियत इत्याहारम्, एतद्ग्रहणाच्च वैक्रियोपादानमपि द्रष्टव्य, तथा कर्मणा निर्वृत्तं कार्मणम्, एतत्सहचरितं तैजसमपि ग्राह्यम्। औदारिकवैक्रियाहारकाणां प्रत्येकं तैजसकार्मणाभ्यां सह युगपदुपलब्धेः कस्यचिदेकत्वा

सू० १ सर्वत्र संयमं संयमादात्मानमेव रक्षेद्।

ऽऽशङ्का स्यादतस्तदपनोदार्थं तदभिप्रायमाह–‘ तदेव तद् ’, यदेवौदारिकं शरीरं ते एव तैजसकार्मणे शरीरे, एवं वैक्रियाहारकयोरपि वाच्यं, तदेवंभूतां संज्ञां नो निवेशयदित्युत्तरश्लोके क्रिया, तथैतेषामात्यन्तिको भेद इत्येवंभूतामपि संज्ञां न निवेशयेत् । युक्तिश्चात्र–यद्येकान्तेनाभेद एव तत इदमौदारिकमुदारपुद्गलनिष्पन्नं तथैतत्कर्मणा निर्वर्त्तितं कार्मणं सर्वस्यैतस्य संसारचक्रवालभ्रमणस्य कारणभूतं तेजोद्रव्यैर्निष्पन्नं तेज एव तैजसं आहारपक्तिनिमित्तं तैजसलब्धिनिमित्तं चेत्येवं भेदेन संज्ञा निरुक्तं कार्यं[1] च न स्यात् । अथात्यन्तिको भेद एव ततो घटवद्भिन्नयोर्देशकालयोरप्युपलब्धिः स्यात्, न नियता युगपदुपलब्धिरिति, एवं च व्यवस्थिते कथञ्चिदेकोपलब्धेरभेदः कथञ्चिच्च संज्ञाभेदाद्भेद इति स्थितं । तदेवमौदारिकादीनां शरीराणां भेदाभेदौ प्रदर्श्याधुना सर्वस्यैव द्रव्यस्य भेदाभेदौ प्रदर्शयितुकामः पूर्वपक्षं श्लोकपश्चार्द्धेन दर्शयितुमाह—‘सव्वत्थ वीरिय’मित्यादि, ‘सर्वं सर्वत्र विद्यत’ इतिकृत्वा सांख्याभिप्रायेण सत्त्वरजस्तमोरूपस्य प्रधानस्यैकत्वात्तस्य च सर्वस्यैव कारणत्वात् अतः सर्वं सर्वात्मकमित्येवं व्यवस्थिते ‘सर्वत्र’–घटपटादौ अपरस्य–व्यक्तस्य ‘वीर्यं’–शक्तिर्विद्यते, सर्वस्यैव हि व्यक्तस्य प्रधानकार्यत्वात्कार्यकारणयोश्चैकत्वाद्, अतः सर्वस्य सर्वत्र वीर्यमस्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, तथा ‘सर्वे भावाः स्वभावेन, स्वस्वभावव्यवस्थिता’इति प्रतिनियतशक्तित्वान्न सर्वत्र सर्वस्य ‘वीर्यं’शक्तिरित्येवमपि संज्ञां नो निवेशयेत् । युक्तिश्चात्र–यत्तावदुच्यते ‘सांख्याभिप्रायेण सर्वं सर्वात्मकं देशकालाकारप्रतिबन्धात्तु न समान-

सा० १ औदारिककार्यस्य धर्माधर्मार्जनमुक्त्यवाप्त्यादे प्रसिद्धत्वान्न निर्देश । २ कार्यस्य । ३ शक्तय. । ४ स्वरूपेण । ५ स्वस्वाधारेपदार्थषु ।

फलोपलब्धि'रिति, तदयुक्त, यतो भेदेन सुखदुःखजीवितमरणदूरासन्नसूक्ष्मबादरसुरूपकुरूपादिकं संसारवैचित्र्य मध्यक्षेणानुभूयते, न च दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, न च सर्वं मिथ्येत्यभ्युपेयतु युज्यते, यतो दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च पापीयसी। किञ्च-सर्वथैक्येऽभ्युपगम्यमाने संसारमोक्षाभावतया कृतनाशोऽकृताभ्यागमश्च मलादापतति, यच्चैतत् सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानमित्येतत्सर्वमास समतः कारणं तभिरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, निर्युक्तिकत्वात्, अपि च-सर्वथा सर्वस्य वस्तुन एकत्वेऽभ्युपगम्यमाने सत्त्वरजस्तमसामप्येकत्वं स्यात्, तद्भेदे च सर्वस्य तद्वदेव भेद इति। तथा यदप्युच्यते-सर्वस्य व्यक्तस्य प्रधानकार्यत्वात्सत्कार्यवादाच्च मयूराण्डकरणे चञ्चुपिच्छादीनां सतामेवोत्पादाभ्युपगमात् असदुत्पादे चाम्रफलादीनामप्युत्पत्तिप्रसङ्गा'दित्येतदप्ययुक्तं, तथाहि-यदि सर्वथा कारणे कार्यमस्ति न तर्ह्युत्पादो निष्पन्नघटस्येव, अपिच मृत्पिण्डावस्थायामेव घटगताः कर्मगुणव्यपदेशा भवेयुः, न च भवन्ति ततो नास्ति कारणे कार्यम्, अथानभिव्यक्तमस्तीति चेत्त तर्हि सर्वात्मना विद्यते, न चैतदृष्टमिष्टं वा, अपिच-एवं सर्वस्य सर्वस्मादुत्पत्तेः कार्यकारणभावानियमः स्यात्, एवं च न शाल्यङ्कुरार्थी शालीबीजमेवादद्यात् अपि तु यत्किञ्चिदेवेति, नियमेन च प्रेक्षापूर्वकारिणामुपादानकारणादौ प्रवृत्तिः, अतो नासत्कार्यवाद इति। तदेव सर्वपदार्थानां सत्त्वज्ञेयत्वप्रमेयत्वादिभिर्धर्मैः कथञ्चिदेकत्वं तथा प्रतिनियतार्थकार्यतया

क १ सार्थ प्र ।

यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सदितिकृत्वा कथञ्चिद्भेद इति सामान्यविशेषात्मकं वस्त्विति स्थितम् । अनेन च स्यादस्ति स्यान्नास्तीतिभङ्गकद्वयेन शेषभङ्गका अपि द्रष्टव्याः, ततश्च सर्वं वस्तु सप्तभङ्गीस्वभावं, ते चामी–स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया स्यादस्ति, परद्रव्याद्यपेक्षया स्यान्नास्ति, अनयोरेव धर्मयोर्यौगपद्येनाभिधातुमशक्यत्वात्स्यादवक्तव्यं, तथा कस्यचिदंशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षाया विवक्षितत्वात्कस्यचिच्चांशस्य परद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यादस्ति च स्यान्नास्ति चेति, तथैकस्यांशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया परस्य तु सामस्त्येन स्वपरद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात्स्यादस्ति चावक्तव्यं चेति, तथैकस्यांशस्य परद्रव्याद्यपेक्षया परस्य तु सामस्त्येन स्वद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यान्नास्ति चावक्तव्यं चेति, तथैकस्यांशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया परस्य तु परद्रव्याद्यपेक्षयाऽन्यस्य तु यौगपद्येन स्वपरद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात्स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं चेति, इयं च सप्तभङ्गी यथायोगमुत्तरत्रापि योजनीयेति ॥ १० ॥ ११ ॥ तदेवं सामान्येन सर्वस्यैव वस्तुनो भेदाभेदौ प्रतिपाद्याधुना सर्वशून्यवादिमतनिरासेन लोकालोकयोः प्रविभागेनास्तित्वं प्रतिपादयितुकाम आह–यदिवा 'सर्वत्र वीर्यमस्ति नास्ति सर्वत्र वीर्य'मित्यनेन सामान्येन वस्त्वस्तित्वमुक्तं, तथाहि–सर्वत्र वस्तुनो 'वीर्यं'–शक्तिरर्थक्रियासामर्थ्यमन्तशः स्वविषयज्ञानोत्पादनं, तच्चैकान्तेनात्यन्ताभावाच्छशविषाणादेरप्यस्तीत्येवं संज्ञां न निवेशयत्, सर्वत्र वीर्यं नास्तीति नो एवं संज्ञां निवेशयेदिति, अनेनाविशिष्टं वस्त्वस्तित्वं प्रसाधितम्, इदानीं तस्यैव वस्तुन ईषद्विशेषित-

सा० १ °र्थ्यं मनस प्र० । २ °भावाभावा प्र० । ३ सर्वत्र वीर्यमित्येवरूपा ।

स्तेन लोकालोकस्य तथाऽस्तित्वं प्रमाणयन्नाह—

णत्थि लोए अलोए वा, णेवं सन्नं निवेसए। अत्थि लोए अलोए वा, एवं सन्नं निवेसए ॥सू० १२॥

णत्थि जीवा अजीवा वा, णेवं सन्नं निवेसए। अत्थि जीवा अजीवा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥सू० १३॥

'लोकः'–चतुर्दशरज्ज्वात्मको धर्माधर्माकाशादिपञ्चास्तिकायात्मको वा तं नाऽस्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्। तथाऽऽकाशास्तिकायमात्रस्त्वलोकः स च न विद्यते एवेत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् तदभावप्रतिपत्तिनिबन्धनं स्तित्व, तथा–प्रतिभासमानं वस्त्ववयवद्वारेण वा प्रतिभासेतावयविद्वारेण वा ?, तत्र न तावदवयवद्वारेण प्रतिभासनमुत्पद्यते, निरंशपरमाणूनां प्रतिभासनासम्भवात्, सर्वारातीयभागस्य च परमाण्वात्मकत्वात्तेषां च उपलब्धिलक्षणेन ग्रहणमशक्यत्वात्, तथा चोक्तम्–" पाश्चात्त्यस्य परस्यापत्तिभागः स च न दृश्यते। निरंशस्य च भागस्य, नास्ति उपरयदर्शनम् ॥ १ ॥" इत्यादि, नाप्यवयविद्वारेण, विकल्प्यमानस्यावयविन प्रमाणाभावात्, तथाहि–असौ स्वावयवेषु प्रत्येकं सामस्त्येन वा वर्तेत ? अंशांशिभावेन वा ?, न सामस्त्येनावयवि बहुत्वप्रसङ्गात्, नाप्यंशेन पूर्वविकल्पानतिक्रमेणानवस्थाप्रसङ्गात्, तस्माद्विचार्यमाणं न कथञ्चिद्वस्त्वात्मलाभं लभते, ततः स्वप्नेन्द्रजालमरीचिकाविज्ञानसदृशं, तथा चोक्तम्–" यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, विविच्यन्ते तथा तथा। यद्येते (तत्) स्वयमर्थेभ्यो, रोचन्ते (ते) तत्र के वयम् ? ॥ १ ॥" इत्यादि। तदेवं वस्त्वभावे गतिस्थितिनिमित्तधर्माधर्माभावात् सिद्ध एवेत्यतो नो संज्ञां निवेशयेत्। किन्त्वस्ति लोकः ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्रूपो वैशाखस्थान

स्थितकटिन्यस्तकरयुग्मपुरुषसदृशः पञ्चास्तिकायात्मको वा, तद्व्यतिरिक्तश्चालोकोऽप्यस्ति, संबन्धिशब्दत्वात्, लोकव्यवस्थाऽन्यथाऽनुपपत्तेरिति भावः, युक्तिश्चात्र–यदि सर्वं नास्ति तत सर्वान्तःपातित्वात्प्रतिषेधकोऽपि नास्तीत्यतस्तदभावात्प्रतिषेधाभावः, अपि च–सति परमार्थभूते वस्तुनि मायास्वप्नेन्द्रजालादिव्यवस्था, अन्यथा किमाश्रित्य को वा मायादिकं व्यवस्थापयेदिति १। अपि च–" सर्वाभावो यथाऽभीष्टो, युक्त्यभावे न सिद्ध्यति। साऽस्ति चेत्सैव नस्तत्त्वं, तत्सिद्धौ सर्वमस्तु सद् ॥ १ ॥ " इत्यादि । यदप्यवयवावयविविभागकल्पनया दूषणमभिधीयते तदप्यार्हतमतानभिज्ञेन, तन्मतं त्वेवंभूतं, तद्यथा–नैकान्तेनावयवा एव नाप्यवयव्येव चेत्यतः स्याद्वादाश्रयणात्पूर्वोक्तविकल्पदोषानुपपत्तिरित्यतः कथञ्चिल्लोकोऽस्त्येवमलोकोऽपीति स्थितम् ॥ १२ ॥ तदेवं लोकालोकास्तित्वं प्रतिपाद्याधुना तद्विशेषभूतयोर्जीवाजीवयोरस्तित्वप्रतिपादनायाह–' णत्थि जीवा अजीवे 'त्यादि, जीवा उपयोगलक्षणाः संसारिणो मुक्ता वा ते न विद्यन्ते, तथा अजीवाश्च धर्माधर्माकाशपुद्गलकालात्मका गतिस्थित्यवगाहदानच्छायातपोद्योतादिवर्त्तनालक्षणा न विद्यन्त इत्येवं संज्ञां–परिज्ञानं नो निवेशयेत्, नास्तित्वनिबन्धनं त्विदं–प्रत्यक्षेणानुपलभ्यमानत्वाज्जीवा न विद्यन्ते, कायाकारपरिणतानि भूतान्येव धावनवल्गनादिकां क्रियां कुर्वन्तीति । तथाऽऽत्माद्वैतवादमताभिप्रायेण ' पुरुष एवेदं ग्निं सर्वं[1] यद्भूतं यच्च भाव्य 'मित्यागमात् तथा[2] अजीवा न विद्यन्ते सर्वस्यैव चेतनाचेतनरूपस्यात्ममात्रविवर्त्तत्वात्[3] नो एवं संज्ञां निवेशयेत्, किंत्वस्ति जीवः सर्वस्यास्य

सा० १ सर्वं वस्तु प्र० । २ पक्षाभ्युच्चये । ३ विवर्त्ति० प्र० ।

मुमद्द मारेर्निष भनभूतः स्वसंविसिसिद्धोऽप्रस्यपप्राक्षा, तथा तद्व्यतिरिक्ता धर्माधर्माकाशपुद्गलादयश्च विद्यन्ते, मकलप्रमाणज्येष्ठेन प्रत्यक्षेणानुभूयमानत्वाघट्टणानां, भूतचैतन्यवादी च वाच्यः—किं तानि भवदभिमेतानि भूतानि नित्यान्युतानित्यानि ?, यदि नित्यानि ततोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वात्स कायाकारपरिणतिः, नापि प्राग विद्यमानस्य चैतन्यस्य सद्भावो, नित्यत्वहानेः । अथानित्यानि किं तेष्वविद्यमानमेव चैतन्यमुत्पद्यते आहो स्विद्विद्यमानं ?, न तावदविद्यमानमतिप्रसङ्गात्, अभ्युपेतागमलोपाच्च, अथ विद्यमानमेव सिद्ध तर्हि जीवत्वम् । तथाऽद्वैतवाद्यपि वाच्यः—यदि पुरुषमात्रमेवेदं सर्वं कथं घटपटादिषु चैतन्यं नोपलभ्यते ?, तथा तदेकत्वेऽभेद निष धनानां पक्षहेतुदृष्टान्तानामभावात्साध्यसाधनाभावः, तस्मान्नैकान्तेन जीवाजीवयोरभावः, अपितु सर्वपदार्थानां स्याद्वादाश्रयणाज्जीवः स्याज्जीवः स्यादजीवः अजीवोऽपि च स्यादजीवः स्याज्जीव इति, एवञ्च स्याद्वादाश्रयण जीवपुद्गलयोरन्योऽन्यानुगतयोः शरीरप्रत्यक्षतयाऽप्यक्षेणैवोपलम्भाद्द्रष्टव्यमिति ॥ १३ ॥ जीवास्तित्वे च सिद्धे धर्मिक धनयोः सदसत्क्रियाधाराधारयोर्धर्माधर्मयोरस्तित्वप्रतिपादनायाह—

णत्थि धम्मे अधम्मे वा, णेव सन्न निवेसए । अत्थि धम्मे अधम्मे वा, एवं सन्न निवेसए ॥ १४ ॥

णत्थि बंधे व मोक्खे वा, णेव सन्नं निवेसए । अत्थि बंधे व मोक्खे वा, एव सन्न निवेसए ॥ सू० १५ ॥

'धर्मः'—श्रुतचारित्रात्मको जीवस्यात्मपरिणामः कर्मक्षयकारणम्, एवमधर्मोऽपि मिथ्यात्वाविरतिप्रमाद

ख० १ भवन्न न । २ भमेदधिकिनिवनवानां । भेदविवक्षायामिति भेद भेदकानामित्यर्थः ।

कषाययोगरूपः कर्मबन्धकारणमात्मपरिणाम एव, तावेवंभूतौ धर्माधर्मौ कालस्वभावनियतीश्वरादिमतेन न विद्येते इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्–कालादय एवास्य सर्वस्य जगद्वैचित्र्यस्य धर्माधर्मव्यतिरेकेणैकान्ततः कारणमित्येवम- मिप्रायं न कुर्याद्, यतः त एवैकका न कारणमपि तु समुदिता एवेति, तथा चोक्तम्–" न हि कालादीहिंतो केवलएहिंतो जायए किंचि । इह मुग्गरंधणाइवि ता सव्वे समुदिया हेऊ ॥ १ ॥ " इत्यादि । यतो धर्माधर्मान्तरेण संसारवैचित्र्यं न घटामियर्त्यतोऽस्ति धर्मः–सम्यग्दर्शनादिकोऽधर्मश्च–मिथ्यात्वादिक इत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ १४ ॥ सतोश्च धर्माधर्मयोर्बन्धमोक्षसद्भाव इत्येतद्दर्शयितुमाह–बन्धः–प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशात्मकतया कर्म- पुद्गलानां जीवेन स्वव्यापारतः स्वीकरणं, स चामूर्तस्यात्मनो गगनस्येव न विद्यत इत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत्, तथा तदभावाच्च मोक्षस्याप्यभाव इत्येवमपि संज्ञां नो निवेशयेत् । कथं तर्हि संज्ञां निवेशयेदित्युत्तरार्द्धेन दर्शयति– अस्ति बन्धः कर्मपुद्गलैर्जीवस्येत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति, यत्तूच्यते–अमूर्तस्य मूर्तिमता संबन्धो न युज्यत इति, तदयुक्तम्, आकाशस्य सर्वव्यापितया पुद्गलैरपि संबन्धो दुर्निवार्यः, तदभावे तद्व्यापित्वमेव न स्याद्, अन्यच्च अस्य विज्ञानस्य हृत्पूरमदिरादिना विकारः समुपलभ्यते न चासौ संबन्धमृते अतो यत्किञ्चिदेतत् । अपिच– संसारिणामसुमतां सदा तैजसकार्मणशरीरसद्भावादात्यन्तिकममूर्तत्वं न भवतीति । तथा तत्प्रतिपक्षभूतो

सा० १ नैव कालादिभ्य केवलेभ्यो जायते किञ्चिदपि । इह मुद्गरन्धनाद्यपि तत सर्वे समुदिता हेतु ॥ १ ॥ २ नारकत्वादिविशि- ष्टजीवनिबन्धनयोः बहुव्रीहिर्वा । ३ मूर्तस्यामूर्तिमता प्र० ।

मोक्षोऽप्यस्ति, तदभावे च बन्धस्याप्यभावः स्यादित्यतोऽशेषबन्धनापगमस्वभावो मोक्षोऽस्तीत्येवं च संज्ञां निवेशयेदिति ॥ १५ ॥ बन्धसद्भावे चावश्यं भावी पुण्यपापसद्भाव इत्यतस्तद्भाव निषेधद्वारेणाह—

णत्थि पुण्णे व पावे वा, णेवं सन्नं निवेसए । अत्थि पुण्णे व पावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥सू० १६॥

णत्थि आसवे संवरे वा, णेवं सन्नं निवेसए । अत्थि आसवे संवरे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥सू० १७॥

'नास्ति'—न विद्यते, 'पुण्यं' शुभकर्मप्रकृतिलक्षणं, तथा 'पापं'—तद्विपर्ययलक्षणं, 'नास्ति'—न विद्यत इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । तदभावप्रतिपत्तिनिबन्धनं त्विदम्—एके केषाञ्चिन्नास्ति पुण्यं, पापमेव ह्युत्कर्षावस्थं सत्सुखदुःखनिबन्धनं, तथा परेषां पापं नास्ति, पुण्यमेवापचीयमानं पापकार्यं कुर्यादिति, अन्येषां तूभयमपि नास्ति, संसारवैचित्र्यं तु नियतिस्वभावादिकृतं, तदेतदयुक्तं, यतः पुण्यपापशब्दौ सम्बन्धिशब्दौ संबन्धिशब्दानामेकाभावस्य मताऽपरलक्षणानान्तरीयका अतो नैकतरस्य सत्त्वेऽपि, नाप्युभयाभावः शक्यते वक्तुं, निर्निबन्धनस्य जगद्वैचित्र्यस्याभावात्, न हि कारणमन्तरेण कस्यचित्कार्यस्योत्पत्तिर्दृष्टा, नियतिस्वभावादिवादस्तु नटोत्तराणां पादप्रसारिका प्रायः अपि च—सद्वादेऽभ्युपगम्यमाने सकलक्रियावैयर्थ्यं तत एव सकलकार्योत्पत्तेरित्यतोऽस्ति पुण्यं पापं चेत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । पुण्यपापे चैकरूपे, तथा—" पुद्गलकर्म शुभं यत्तत्पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम् । यदशुभमथ तत्पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम् ॥ १ ॥" इति ॥ १६ ॥ न कारणमन्तरेण कार्यस्योत्पत्तिरतः पुण्यपापयोः

पा० १ [illegible] । २ संबन्धिशब्दत्वात् ।

प्रागुक्तयोः कारणभूतावाश्रवसंवरौ तत्प्रतिषेधनिषेधद्वारेण दर्शयितुकाम—आश्रवति—प्रविशति कर्म येन स प्राणातिपातादिरूप आश्रवः—कर्मोपादानकारणं, तथा तन्निरोधः संवरः, एतौ द्वावपि न स्त इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, तदभावप्रतिपत्त्याशङ्काकारणं त्विदं—कायवाङ्मनःकर्म योगः, स आश्रव इति, यथेदमुक्तं तथेदमप्युक्तमेव—'उच्चालियंमि पाए'इत्यादि, ततश्च कायादिव्यापारेण कर्मबन्धो न भवतीति, युक्तिरपि—किमयमाश्रव आत्मनो भिन्न उताभिन्नः ?, यदि भिन्नो नासावाश्रवो घटादिवद्, अभेदेऽपि नाश्रवत्वं, सिद्धात्मनामपि आश्रवप्रसङ्गात्, तदभावे च तन्निरोधलक्षणस्य संवरस्याप्यभावः सिद्ध एवेत्येवमात्मकमध्यवसायं न कुर्यात् । यतो यत्तदैकान्तिकत्वं कायव्यापारस्य 'उच्चालयंमि पाए'इत्यादिनोक्तं तदस्माकमपि संमतमेव, यतो न ह्यस्माभिरप्युपयुक्तस्य कर्मबन्धोऽभ्युपगम्यते, निरुपयुक्तस्य त्वस्त्येव कर्मबन्धः, तथा भेदाभेदोभयपक्षसमाश्रयणात्तदेकपक्षाश्रितदोषाभाव इत्यस्त्याश्रवसद्भावः, तन्निरोधश्च संवर इति, उक्तं च—"योगः शुद्धः पुण्याश्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः । वाक्कायमनोगुप्तिर्निराश्रवः संवरस्तूक्तः ॥ १ ॥" इत्यतोऽस्त्याश्रवस्तथा संवरश्चेत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ १७ ॥ आश्रवसंवरसद्भावे चावश्यंभावी वेदना[2]निर्जरासद्भाव इत्यतस्तं (तत्) प्रतिषेधनिषेध[3]द्वारेणाह—

सा० १ उच्चालिते पादे ईरियासमियस्स सकमट्ठाए । वावज्जिज्ज कुलिंगी मरिज्ज त जोगमासज्ज ॥ १ ॥ न य तस्स तण्णिमित्तो वधो सुहुमोऽवि देसिओ समए । अणवज्जो उ पओगेण सा उ पमादोत्ति निद्दिट्ठा ॥२॥ २ आश्रवे बन्धात् ततो वेदना सवरात्तपस्ततो निर्जराया अस्तित्व । ३ निषेधद्वारेण प्र० ।

णत्थि वेयणा णिज्जरा वा,णेव सन्नं निवेसए। अत्थि वेयणा णिज्जरा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥सू० १८॥
णत्थि किरिया अकिरिया वा, णेवं सन्नं निवेसए। अत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ सू० १९ ॥

वेदना—कर्मानुभवलक्षणा, तथा निर्जरा—कर्मपुद्गलशाटनलक्षणा एते द्वे अपि न विद्येते इत्येवं नो संज्ञां निवेशयत्। तदभावं प्रत्याशङ्काकारणमिद, तद्यथा—पल्योपमसागरोपमशतानुभवनीय कर्मान्तर्मुहूर्तेनैव क्षयमुप पातीत्यभ्युपगमात्, तदुक्तम्—"जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं। तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमित्तेण ॥१॥" इत्यादि, तथा क्षपकश्रेण्यां च झटित्येव कर्मणो भस्मीकरणाद्यथाक्रमबद्धस्य चानुभवनाभावे वेदनाया अभावः तदभावाच्च निर्जराया अपीत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत्। किमिति ?, यतः कस्यचिदेव कर्मण एवमनन्तरोक्तया नीत्या क्षपणात्तपसा प्रदेशानुभवेन च अपरस्य तूदयोदीरणाभ्यामनुभवनमित्यतोऽस्ति वेदना, अत आगमोऽप्येवंभूत एव, तद्यथा—'पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं कम्माणं वेइत्ता मोक्खो, णत्थि अवेइत्ता" इत्यादि, वेदनासिद्धौ च निर्जराऽपि सिद्धेत्यतोऽस्ति वेदना निर्जरा चेत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ १८ ॥ वेदना

पा० १ जतो बहुत्वं तथा च क्षेत्रक्षेत्र्याऽनुभवमेवमितिस्यात् तत्र क्षपकेऽपि च वेदनाऽस्तीति हेतुवर्णनात्। २ यदज्ञानी कर्म क्षपयति बहुभिर्वर्षकोटीभिः। तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥ १ ॥ ३ पूर्वं दुश्चीर्णानां दुष्प्रतिक्रान्तानां कर्मणां वेदयित्वा मोक्षो नास्त्यवेदयित्वा।

निर्जरे च क्रियाऽक्रियायत्ते, ततस्तत्सद्भावं प्रतिषेधनिषेधपूर्वकं दर्शयितुमाह–क्रिया–परिस्पन्दलक्षणा तद्विपर्यस्ता त्वक्रिया, ते द्वे अपि 'न स्तो' न विद्येते, तथाहि–सांख्यानां सर्वव्यापित्वादात्मन आकाशस्येव परिस्पन्दात्मिका क्रिया न विद्यते, शाक्यानां तु क्षणिकत्वात्सर्वपदार्थानां प्रतिसमयमन्यथा चान्यथा चोत्पत्तेः पदार्थसत्तैव, न तद्व्यतिरिक्ता काचित्क्रियाऽस्ति, तथा चोक्तम्–"भूतिर्यैषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यते" इत्यादि, तथा सर्वपदार्थानां प्रतिक्षणमवस्थान्तरगमनात्सक्रियत्वमतोऽक्रिया न विद्यते इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, किं तर्हि ?, अस्ति क्रिया अक्रिया चेत्येवं संज्ञां निवेशयेत्, तथाहि–शरीरात्मनोर्देशाद्देशान्तरावाप्तिनिमित्ता परिस्पन्दात्मिका क्रिया प्रत्यक्षेणवोपलभ्यते, सर्वथा निष्क्रियत्वे चात्मनोऽभ्युपगम्यमाने गगनस्येव बन्धमोक्षाद्यभावः, स च दृष्टेष्टबाधितः, तथा शाक्यानामपि प्रतिक्षणोत्पत्तिरेव क्रियेत्यतः कथं क्रियाया अभावः ?, अपि च–एकान्तेन क्रियाऽभावे संसारमोक्षाभावः स्यादित्यतोऽस्ति क्रिया, तद्विपक्षभूता चाक्रियेत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ १९ ॥ तदेवं सक्रियात्मनि सति क्रोधादिसद्भाव इत्येतद्दर्शयितुमाह—

णत्थि कोहे व माणे वा, णेवं सन्नं निवेसए। अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥सू० २०॥
णत्थि माया व लोभे वा, णेवं सन्नं निवेसए। अत्थि माया व लोभे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥सू० २१॥
णत्थि पेज्जे व दोसे वा, णेवं सन्नं निवेसए। अत्थि पेज्जे व दोसे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥सू० २२॥

स्वपरात्मनोरप्रीतिलक्षणः क्रोधः, स चानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनभेदेन चतुर्धाऽ-

उपमे पल्लवे, उपेतामन्तेन एष मानो गर्वः, यतौ द्वावपि 'न स्तो' न विद्येते, तथाहि—क्रोधः केषांचिन्मतेन मानांश एव अभिमानग्रहगृहीतस्य तेत्कृतापरपन्त्वक्रोधोदयदर्शनात्, क्षपकश्रेण्यां च भेदेन क्षपणोनभ्युपगमात्, तथा किमयमात्मधर्म आहोस्वित्कर्मण उतान्यस्येति ?, तत्रात्मधर्मत्वे सिद्धानामपि क्रोधोदयप्रसङ्गः, अथ कर्मण स्तमन्द् एकशापोदयेऽपि तदुदयप्रसङ्गात् मूर्तत्वाच्च कर्मणो घटस्येव तदाकारोपलब्धिः स्यात्, अन्यधर्मत्वे त्वकिञ्चित्करत्वमतो नास्ति क्रोध इत्येवं मानाभावोऽपि वाच्य इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, यतः कषायकर्मो दयवर्ती दष्टोष्ठः कृतभृकुटीभङ्गो रक्तवदनो गलत्स्वेदबिन्दुसमाकुलः क्रोधाध्मातः समुपलभ्यते, न चासौ मानांशः, तत्कार्यकरत्वात् तथा परनिमित्तोत्पादितत्वाच्चेति, तथा जीवकर्मणोरुभयोरप्ययं धर्मः, तद्धर्मत्वे च प्रत्येकविकल्प दोषानुपपत्तिः, अनभ्युपगमात्, संसारात्मना कर्मणा सार्द्धं पृथग्भवनाभावादुभयस्य च नरसिंहवद्वस्त्वन्तर त्वादित्यतोऽस्ति क्रोधो मानश्चेत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २० ॥ साम्प्रतं मायालोभयोरस्तित्वं दर्शयितुमाह—अत्रापि प्राग्वन्मायालोभयोरभाववादिनं निराकृत्यास्तित्वं प्रतिपादनीयमिति ॥ २१ ॥ साम्प्रतमेषामेव क्रोधादीनां समासेनास्तित्वं प्रतिपादयन्नाह—प्रीतिलक्षणं प्रेम—पुत्रकलत्रधनधान्यादावात्मीयेषु रागस्तद्विपरीतस्त्वात्मीयोप घातकारिणि द्वेषः, तावेतौ द्वावपि न विद्येते, तथाहि—केषांचिदभिप्रायो यथा—मायालोभावेवाभ्यवसौ विद्येते, न

वा० १ मानक्रियायां मानक्रियायां वा । २ ... दुपपत्त्यभावात् ... प्रेमेव तस्माद् । ३ धर्ममूलभावस्य ... । ४ ... प्र० ।

तत्समुदायरूपो रागोऽवयव्यस्ति, तथा क्रोधमानावेव स्तः न तत्समुदायरूपोऽवयवी द्वेष इति, तथाहि—अवयवेभ्यो यद्यभिन्नोऽवयवी तर्हि तदभेदात्त एव नासौ अथ भिन्नः पृथगुपलम्भः स्याद् घटपटवदित्येवमसद्विकल्पमूढतया नो संज्ञां निवेशयेत्, यतोऽवयवावयविनोः कथञ्चिद्भेद इत्येवं भेदाभेदाख्यतृतीयपक्षसमाश्रयणात्प्रत्येकपक्षाश्रितदोषानुपपत्तिरिति, एवं चास्ति प्रीतिलक्षणं प्रेमाप्रीतिलक्षणश्च द्वेष इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २२ ॥ साम्प्रतं कषायसद्भावे सिद्धे सति तत्कार्यभूतोऽवश्यंभावी संसारसद्भाव इत्येतत्प्रतिषेधनिषेधद्वारेण प्रतिपादयितुमाह—

णत्थि चाउरंते संसारे, णेवं सन्नं निवेसए। अत्थि चाउरंते संसारे, एवं सन्नं निवेसए ॥ सू० २३ ॥
णत्थि देवो व देवी वा, णेवं सन्नं निवेसए। अत्थि देवो व देवी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ सू० २४ ॥

चत्वारोऽन्ता—गतिभेदा नरकतिर्यङ्नरामरलक्षणा यस्य संसारस्यासौ चतुरन्तः संसार एव कान्तारो भयैकहेतुत्वात्, स च चतुर्विधोऽपि न विद्यते, अपि तु सर्वेषां संसृतिरूपत्वात्कर्मबन्धात्मकतया च दुःखैकहेतुत्वादेकविध एव, अथवा नारकदेवयोरनुपलभ्यमानत्वात्तिर्यङ्मनुष्ययोरेव सुखदुःखोत्कर्षतया तद्व्यवस्थानाद् द्विविधः संसारः, पर्यायनयाश्रयणात्त्वनेकविधः, अतश्चातुर्विध्यं न कथञ्चिद् घटत इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेद्, अपि तु अस्ति चतुरन्तः संसार इत्येवं संज्ञां निवेशयेत्। यत्तूक्तम्—एकविधः संसारः, तन्नोपपद्यते, यतोऽध्यक्षेण तिर्यङ्मनुष्ययोर्भेदः समुपलभ्यते, न चासावेकविधत्वे संसारस्य घटते, तथा संभवानुमानेन नारकदेवानामप्यस्तित्वाभ्युपगमाद्

द्वैविध्यमपि न विद्यते, संभवानुमान तु—सन्ति पुण्यपापयोः प्रकृष्टफलभुजः, तन्मध्यफलभुजां तिर्यङ्मनुष्याणां दर्शनात्, अतः संभाव्यन्ते प्रकृष्टफलभुजो, ज्योतिषां प्रत्यक्षेणैव दर्शनात्, अथ तद्विमानानामुपलम्भः, एवमपि तदधिष्ठातृभिः कैश्चिद्भवितव्यमित्यनुमानेन गम्यन्ते, प्रकृष्टीतवरप्रदानादिना च तदस्तित्वानुमितिः, तदस्तित्वे तु प्रकृष्टपुण्यफलभुज इव प्रकृष्टपापफलभुग्भिरपि भाव्यमित्यतोऽस्ति चातुर्विध्यं संसारस्य, पर्यायनयाश्रयणे तु चतुरनेकविधत्वमुच्यते तदयुक्तं, यतः सप्तपृथिव्याश्रिता अपि नारकाः समानजातीयाश्रयणादेकप्रकारा एव, तथा तिर्यञ्चोऽपि पृथिव्यादयः स्थावरास्तथा द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाश्च द्विपष्टियोनिलक्षप्रमाणाः सर्वेऽप्येकविधा एव, तथा मनुष्या अपि कर्मभूमिजाकर्मभूमिजान्तरद्वीपकसंमूर्छनजात्मकभेदमनादृत्यैकविधत्वेनैवाभिहिताः, तथा देवा अपि भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकभेदेन भिन्ना एकविधत्वेनैव गृहीताः, तदेवं सामान्यविशेषाश्रयणाच्चातुर्विध्य संसारस्य व्यवस्थितं नैकविधत्वं, संसारवैचित्र्यदर्शनात्, नाप्यनेकविधत्वं सर्वेषां नारकादीनां स्वजात्यनति क्रमादिति ॥ २२ ॥ २४ ॥ सर्वभावानां सप्रतिपक्षत्वात्संसारसद्भावे सति अवश्यं तद्विमुक्तिलक्षणया सिद्ध्यापि भवितव्यमित्यतोऽधुना समतिपक्षां सिद्धिं दर्शयितुमाह—

णत्थि सिद्धी असिद्धी वा, णेवं सन्नं निवेसए। अत्थि सिद्धी असिद्धी वा, एवं सन्नं निवेसए॥सू० २५॥

णत्थि सिद्धी निय ठाणं, णेव सन्नं निवेसए। अत्थि सिद्धी निय ठाणं, एवं सन्नं निवेसए ॥सू० २६॥

सिद्धिः अशेषकर्मच्युतिलक्षणा तद्विपर्यस्ता चासिद्धिर्नास्तीत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत्, अपि त्वसिद्धेः—संसार

लक्षणायाश्चातुर्विध्येनानन्तरमेव प्रसाधिताया अविगानेनास्तित्वं प्रसिद्धं, तद्विपर्ययेण सिद्धेरप्यस्तित्वमनिवारितमित्यतोऽस्ति सिद्धिरसिद्धिर्वेत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति स्थितम्, इदमुक्तं भवति-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकस्य मोक्षमार्गस्य सद्भावात्कर्मक्षयस्य च पीडोपशमादिनाऽध्यक्षेण दर्शनादतः कस्यचिदात्यन्तिककर्महानिसिद्धेरस्ति सिद्धिरिति, तथा चोक्तम्-" दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषाऽस्त्यतिशायिनी । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो, बहिरन्तर्मलक्षयः ॥ १ ॥ " इत्यादि, एवं सर्वज्ञसद्भावोऽपि सम्भवानुमानाद्द्रष्टव्यः, तथाहि-अभ्यस्यमानायाः प्रज्ञाया व्याकरणादि[ना] शास्त्रसंस्कारेणोत्तरोत्तरवृद्ध्या प्रज्ञातिशयो दृष्टः, तत्र कस्यचिदत्यन्तातिशयप्राप्तेः सर्वज्ञत्वं स्यादिति संभवानुमानं, न चैतदाशङ्कनीयं, तद्यथा-ताप्यमानमुदकमत्यन्तोष्णतामियान्नाग्निसाद्भवेत्, तथा ' दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति । न योजनमसौ गन्तुं, शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥ १ ॥ " इति, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यात्, तथाहि-ताप्यमानं जलं प्रतिक्षणं क्षयं गच्छेत् प्रज्ञा तु विवर्द्धते, यदिवा स्नेहोपलब्धेरव्याहतमग्नित्वं, तथा प्लवनविषयेऽपि पूर्वमर्यादाया अनतिक्रमाद्योजनोत्प्लवनाभावः, तत्परित्यागे चोत्तरोत्तरं वृद्ध्या प्रज्ञाप्रकर्षगमनवद्योजनशतमपि गच्छेदित्यतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यादेतन्नाशङ्कनीयमिति स्थितम्, प्रज्ञावृद्धेश्च बाधकप्रमाणाभावादस्ति सर्वज्ञत्वप्राप्तिरिति । यदिवा अञ्जनभृतसमुद्गकदृष्टान्तेन जीवाकुलत्वाजगतो हिंसाया दुर्निवारत्वात्सिद्ध्यभावः, तथा चोक्तम्-" जले जीवाः स्थले जीवा, आकाशे जीवमालिनि । जीवमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः ? ॥ १ ॥" इत्यादि, तदेवं सर्वस्यैव हिंसकत्वात्सिद्ध्यभाव इति, तदेतद-

युक्त, यथापि-महोपयुक्तस्य पिहिताश्रवद्वारस्य पञ्चसमितिसमितस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य सर्वथा निरवद्यानुष्ठायिनो द्विचत्वारिंशद्दोषरहितभिक्षाशुद्ध ईर्यासमितस्य कदाचिद्द्रव्यतः प्राणिव्यपरोपणेऽपि तत्कृतबन्धाभावः, सर्वथा तस्यानवद्यत्वात्, तथा चोक्तम्-"उच्चालियंमि पाए," इत्यादि प्रतीत, तदेव कर्मबन्धाभावात्सिद्धेः सद्भावोऽप्या रतः, मामप्यमात्रादमितिदिमद्भावोऽपीति ॥ २५ ॥ साम्प्रतं सिद्धानां स्थाननिरूपणायाह-'णत्थि सिद्धी'त्यादि, सिद्ध-अशेषकर्मच्युतिलक्षणाया निज स्थान-ईषत्प्राग्भारारख्यं व्यवहारतो निश्चयतस्तु तदुपरि योजनक्रोशषड्भागः, तदनिवारकप्रमाणाभावात्स नास्तीत्येव संज्ञां नो निवेशयेत्, यतो बाधकप्रमाणाभावात्साधकस्य चागमस्य सद्भावात्तत्सत्ता दुर्निवारेति । अपि च-अपगताशेषकर्मणां सिद्धानां केनचिद्विशिष्टेन स्थानेन भाव्य, यच्चतुर्दश रज्ज्वात्मकस्य लोकस्याग्रभूत द्रव्यं, न च शक्यते वक्तुमाकाशवत्सर्वव्यापिनः सिद्धा इति, यतो लोकालोक-व्याप्याकाश, न चालोकप्रदेशस्य संभवः, तस्याकाशमात्ररूपत्वात्, लोकमात्रव्यापित्वमपि नास्ति, विकल्पानु पपत्तेः, तथाहि-सिद्धावस्थायां तेषां व्यापित्वमभ्युपगतमुत प्रागपि ?, न तावत्सिद्धावस्थायां, तद्व्यापित्वभवने निमित्ताभावात्, नापि प्रागवस्थायां, तद्भावे सर्वसंसारिणां प्रतिनियतसुखदुःखानुभवो न स्यात्, न च शरीरा द्बहिरात्मास्तित्वे प्रमाणमस्ति, तस्यचानिबन्धनस्य प्रमाणस्याभावात्, अतः सर्वव्यापित्वं विचार्यमाण न कथञ्चित् घटते, तदभावे च मोक्षमेव सिद्धानां स्थानं, तद्गतिश्च 'कर्मविमुक्तस्योर्ध्वं गति'रितिकृत्वा भवति, तथा

चोक्तम्-" लाउ एरंडफले अग्गी धूमे य उसु धणुविमुक्के । गइ पुव्वपओगेणं एवं सिद्धाणवि गईओ ॥ १ ॥" इत्यादि । तदेवमस्ति सिद्धिस्तस्याश्च निजं स्थानमित्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ २६ ॥ साम्प्रतं सिद्धेः साधकानां साधूनां तत्प्रतिपक्षभूतानामसाधूनां चास्तित्व प्रतिपिपादयिषुः पूर्वपक्षमाह—

णत्थि साहू असाहू वा, णेवं सन्नं निवेसए। अत्थि साहू असाहू वा, एवं सन्नं निवेसए ॥सू० २७॥
णत्थि कल्लाण पावे वा, णेवं सन्नं निवेसए । अत्थि कल्लाण पावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥सू० २८॥

'नास्ति'-न विद्यते, ज्ञानदर्शनचारित्रक्रियोपेतो मोक्षमार्गव्यवस्थितः साधुः, संपूर्णस्य रत्नत्रयानुष्ठानस्याभावात्, तदभावाच्च तत्प्रतिपक्षभूतस्यासाधोरप्यभावः, परस्परापेक्षित्वादेतद्व्यवस्थानस्यैकतराभावे द्वितीयस्याप्यभाव इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, अपि तु अस्ति साधुः, सिद्धेः प्राक्साधितत्वात्, सिद्धिसत्ता च न साधुमन्तरेण, अतः साधुसिद्धिः, तत्प्रतिपक्षभूतस्य चासाधोरिति । यश्च संपूर्णरत्नत्रयानुष्ठानाभावः प्रागाशङ्कितः स सिद्धान्ताभिप्रायमबुद्ध्वैव, तथाहि-सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्यारक्तद्विष्टस्य सत्संयमवतः श्रुतानुसारेणाऽऽहारादिकं शुद्धबुद्ध्या गृह्णतः क्वचिदज्ञानादनेषणीयग्रहणसंभवेऽपि सततोपयुक्ततया संपूर्णमेव रत्नत्रयानुष्ठानमिति, यश्च भक्ष्यमिदमिदं चाभक्ष्यं गम्यमिदमिदं चागम्यं प्रासुकमेषणीयमिदमिदं च विपरीतमित्येवं रागद्वेषसंभवेन समभावरूपस्य सामायिकस्याभावः कैश्चिच्चोद्यते तत्तेषां चोदनमज्ञानविजृम्भणात्, तथाहि-न तेषां सामायिक-

सा० १ अलाबुकैरण्डफलाग्निधूमेषु धनुर्मुक्ते इषौ पूर्वप्रयोगेण गतिरेवं सिद्धानामपि गतय ॥ १ ॥

यतो साधूनां रागद्वेषवता भक्ष्याभक्ष्यादिविवेकः, अपि तु प्रधानमोक्षाङ्गस्य सच्चारित्रस्य साधनार्थम्, अपि च-उपकारापकारयोः समभावतया सामायिकं न पुनर्भक्ष्याभक्ष्ययोः समप्रवृत्त्येति ॥ २७ ॥ तदेवं मुक्तिमार्गप्रवृत्तस्य साधुत्वमितरस्य चासाधुत्वं प्रदर्श्याधुना च सामान्येन कल्याणपापवतोः सद्भाव प्रतिषेधनिषेधद्वारेणाह-'णत्थि कल्लाण पावे वा' इत्यादि यथेष्टार्थफलसंप्राप्तिः कल्याणं तच्च विद्यते, सर्वाशुचितया निरात्मकत्वाच्च सर्वपदार्थानां बौद्धाभिप्रायेण, तथा तदभावे कल्याणवांश्च न कश्चिद्विद्यते, तथाऽऽत्माद्वैतवादाभिप्रायेण 'पुरुष एवेदं सर्व'-मितिकृत्वा पापं पापवान् वा न कश्चिद्विद्यते, तदेवमुभयोरप्यभावः, तथा चोक्तम्-"विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १ ॥" इत्येवमेव कल्याणपापकाभावरूपां संज्ञां नो निवेशयेत्, अपि त्वस्ति कल्याणं कल्याणवांश्च विद्यते, तद्विपर्यस्तं पापं तद्वांश्च विद्यते इत्येवं संज्ञां निवेशयेत्, तथाहि-नैकान्तेन कल्याणाभावो यो बौद्धैरभिहितः, सर्वपदार्थानामशुचित्वासंभवात्, सर्वाशुचित्वे च बुद्धस्याप्यशुचित्वप्राप्तेः, नापि निरात्मानः स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया सर्वपदार्थानां विद्यमानत्वात् परद्रव्यादिभिस्तु न विद्यन्ते, सदसदात्मकत्वाद्वस्तुनः, तदुक्तम्- 'स्वपरसत्ताव्युदासोपादानापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्व"-मिति। तथाऽऽत्माद्वैतभावाभावात्पापाभावोऽपि नास्ति, अद्वैतभावे हि सुखी दुःखी सरोगो नीरोगः सुरूपः कुरूपो दुर्भगः सुभगोऽर्थवान् दरिद्रस्तथाऽयमन्तिकोऽयं तु दवीयान् इत्येवमादिको जगद्वैचित्र्यभावोऽप्यवसितोऽपि न स्यात्। यच्च समदर्शित्वमुच्यते ब्राह्मणचाण्डालादिषु तदपि समानपीडोत्पादनतो प्रष्टव्य, न पुनः

कर्मपापादितवैचित्र्यभावोऽपि तेषां ब्राह्मणचाण्डालादीनां नास्तीति, तदेवं कथञ्चित्कल्याणमस्ति तद्विपर्यस्तं तु पापकमिति । न चैकान्तेन कल्याणं कल्याणमेव, यतः केवलिनां प्रक्षीणघनघातिकर्मचतुष्टयानां सातासातोदय-सद्भावात्तथा नारकाणामपि पञ्चेन्द्रियत्वविशिष्टज्ञानादिसद्भावान्नैकान्तेन तेऽपि पापवन्त इति तस्मात्कथञ्चित्क-ल्याणं कथञ्चित्पापमिति स्थितम् ॥ २८ ॥ तदेवं कल्याणपापयोरनेकान्तरूपत्वं प्रसाध्यैकान्तं दूषयितुमाह—

कल्लाणे पावए वावि, ववहारो ण विज्जइ । जं वेरं तं न जाणंति, समणा बाल पंडिया ॥सू०-२९॥
असेसं अक्खयं वावि,सव्वदुक्खेति वा पुणो । वज्झा पाणा न वज्झत्ति,इति वायं न नीसरे ॥सू० ३०॥
दीसंति समियायारा, भिक्खुणो साहुजीविणो । एए मिच्छोवजीवंति इति दिट्ठिं न धारए॥सू०-३१॥

कल्यं-सुखमारोग्यं शोभनत्वं वा तदणतीति कल्याणं तदस्यास्तीति कल्याणो मत्वर्थीयाच्प्रत्ययान्तोऽर्शआ-दिभ्योऽजित्यनेन, कल्याणवानिति यावत् । एवं पापकशब्दोऽपि मत्वर्थीयाच्प्रत्ययान्तो द्रष्टव्यः । तदेवं सर्वथा कल्याणवानेवायं तथा पापवानेवायमित्येवम्भूतो व्यवहारो न विद्यते, तदेकान्तभूतस्यैवाभावात्, तदभावस्य च सर्ववस्तूनामनेकान्ताश्रयणेन प्राक्प्रसाधितत्वादिति । एतच्च व्यवहाराभावाश्रयणं सर्वत्र प्रागपि योजनीयं, तद्यथा— सर्वत्र-वीर्यमस्ति नास्ति वा सर्वत्र वीर्यमित्येवंभूत एकान्तिको व्यवहारो न विद्यते, तथा नास्ति लोकोऽलोको वा तथा न सन्ति जीवा अजीवा इति चेत्येवंभूतो व्यवहारो न विद्यत इति सर्वत्र संबन्धनीयं । तथा वैरं-वज्रं तद्वत्कर्म वैरं विरोधो वा वैरं तद्येन परोपघातादिनैकान्तपक्षसमाश्रयणेन वा भवति तत्ते 'श्रमणाः' तीर्थिका बाला

सतां साधूनां रागद्वेषतया भक्ष्याभक्ष्यादिविवेका, अपि तु प्रधानमोक्षाङ्गस्य सच्चारित्रस्य साधनार्थम्, अपि च–उपकारापकारयोः समभावतया सामायिकं न पुनर्भक्ष्याभक्ष्ययोः समप्रवृत्त्येति ॥ २७ ॥ तदेव मुक्तिमार्गप्रवृत्तस्य साधुत्वमितरस्य चासाधुत्वं प्रदर्श्याधुना च सामान्येन कल्याणपापवतोः सद्भाव प्रतिषेधनिषेधद्वारेणाह–'णत्थि कल्लाण पावे वा' इत्यादि यथेष्टार्थफलसंप्राप्तिः कल्याणं तच्च विद्यते, सर्वाशुचितया निरात्मकल्याणं सर्वपदार्थानां बौद्धाभिप्रायेण, तथा तदभावे कल्याणवांश्च न कश्चिद्विद्यते, तथाऽऽत्माद्वैतवाद्यभिप्रायेण 'पुरुष एवेदं सर्व'–मितिकृत्वा पापं पापवान् वा न कश्चिद्विद्यते, तदेवमुभयोरप्यभावः, तथा चोक्तम्–"विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १ ॥" इत्येवमेव कल्याणपापकाभावरूपां संज्ञां नो निवेशयेत्, अपि त्वस्ति कल्याणं कल्याणवांश्च विद्यते, तद्विपर्यस्तं पापं तद्वांश्च विद्यते इत्येवं संज्ञां निवेशयेत्, तथाहि–नैकान्तेन कल्याणाभावो यो बौद्धैरभिहितः, सर्वपदार्थानामशुचित्वासंभवात्, सर्वाशुचित्वे च बुद्धस्याप्यशुचित्वप्राप्तेः, नापि निरात्मानः स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया सर्वपदार्थानां विद्यमानत्वात् परद्रव्यादिभिस्तु न विद्यन्ते, सदसदात्मकत्वाद्वस्तुनः, तदुक्तम्– ' स्वपरसत्ताव्युदासोपादानापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्व"–मिति। तथाऽऽत्माद्वैतभावाभावात्पापाभावोऽपि नास्ति, अद्वैतभावे हि सुखी दुःखी सरोगो नीरोगः सुरूपः कुरूपो दुर्भगः सुभगोऽर्थवान् दरिद्रस्तथाऽयमन्तिकोऽयं तु दवीयान् इत्येवमादिको जगद्वैचित्र्यभावोऽध्यवसितोऽपि न स्यात् । यच्च समदर्शित्वमुच्यते ब्राह्मणचाण्डालादिषु तदपि समानपीडोत्पादनतो द्रष्टव्य, न पुनः

निसृजेत्, तथा हि सिंहव्याघ्रमार्जारादीन्परसत्त्वव्यापादनपरायणान् दृष्ट्वा माध्यस्थ्यमवलम्बयेत्, तथा चोक्तम्–"मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेष्वि"ति. (तत्त्वा० अ० ७, सू० ६) एवमन्योऽपि वाक्संयमो द्रष्टव्यः, तद्यथा–अमी गवादयो वाह्या न वाह्या वा तथाऽमी वृक्षादयश्छेद्या न छेद्या वेत्यादिकं वचो न वाच्यं साधुनेति ॥ ३० ॥ अयमपरो वाक्संयमप्रकारोऽन्तःकरणशुद्धिसमाश्रितः प्रदर्श्यते–'दीसंती'-त्यादि, 'दृश्यन्ते' समुपलभ्यन्ते स्वशास्त्रोक्तेन विधिना निभृतः–संयत आत्मा येषां ते निभृतात्मानः, क्वचित्पाठः 'समियाचार' त्ति सम्यक्–स्वशास्त्रविहितानुष्ठानादविपरीत आचारः–अनुष्ठानं येषां ते सम्यगाचाराः, सम्यग्वा–इतो व्यवस्थित आचारो येषां ते समिताचाराः, के ते ?–भिक्षणशीला भिक्षवो–भिक्षामात्रवृत्तयः, तथा साधुना विधिना जीवितुं शीलं येषां ते साधुजीविनः, तथाहि–ते न कस्यचिदुपरोधविधानेन जीवन्ति, तथा क्षान्ता दान्ता जितक्रोधाः सत्यसंधा दृढव्रता युगान्तरमात्रदृष्टयः परिमितोदकपायिनो मौनिनः सदा तायिनो विविक्तैकान्तध्यानाध्यासिनः अकौकुच्यास्तानेवंभूतानवधार्यापि 'सरागा अपि वीतरागा इव चेष्टन्ते' इति मत्वैते मिथ्यात्वोपजीविन इत्येवं दृष्टिं न धारयेत्–नैवंभूतमध्यवसायं कुर्यान्नाप्येवंभूतां वाचं निसृजेद् यथैते मिथ्योपचारप्रवृत्ता मायाविन इति, छद्मस्थेन ह्यर्वाग्दर्शिनैवंभूतस्य निश्चयस्य कर्तुमशक्यत्वादित्यभिप्रायः, ते च स्वयूथ्या वा भवेयुस्तीर्थान्तरीया वा, तावुभावपि न वक्तव्यौ साधुना, यत उक्तम्–"यावत्परगुणपरदोषकीर्तने

१ एवमर्थप्रतिवाक्ये समुच्चये इतिवचनात्समुच्चये न वाचं निसृजेत् माध्यस्थ्यं च अवलम्बयेत् इति ।

इव रागद्वेषकलिताः 'पण्डिताः' पण्डिताभिमानिनः शुष्कतर्कदर्पाध्माता न जानन्ति, परमार्थभूतस्याहिंसालक्षणस्य धर्मस्यानेकान्तपक्षस्य चाऽनाश्रयणादिति । यदिवा पदैरैः सर्वे श्रमणा बालाः पण्डिता वा न जानन्तीत्येव वाच न निसृजेदित्युत्तरेण सम्बन्धः, किमिति न निसृजेत् ?, यतस्तेऽपि किञ्चिज्जानन्त्येव । अपिच तेषां तथि मिथ्योत्सवेः, पर्वेवंभूत वचस्तस्य वाच्य, यत उक्तम्-" अप्पत्तियं जेण सिया, आसु कुप्पिज्ज वा परो । सव्वसो तं न भासेज्जा, भासं अहियगामिणिं ॥ १ ॥" इत्यादि ॥ २९ ॥ अपरमपि वाक्संयममधिकृत्याह-'असेसं'-मित्यादि, अक्षेप-कृत्स्नं वस्तुकथाभिप्रायेण अक्षय-नित्यमित्येव न ब्रूयात्, प्रत्ययं प्रतिसमयं चान्यथाऽन्यथा भावदर्शनात् स एवायमित्येवंभूतस्यैकत्वसाधकस्य प्रत्यभिज्ञानस्य लूनपुनर्जातेषु केशनखादिष्वपि प्रवर्तनात्, तथा अपिशब्दादेकान्तेन क्षणिकमित्येवमपि वाच न निसृजेत्, सर्वथा क्षणिकत्वे पूर्वस्य सर्वथा विनष्टत्वादुत्तरस्य निर्हेतुक उत्पादः स्यात्, तथा च सति 'नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणा'दिति तथा सर्वं जगद्दुःखात्मक मित्येवमपि न ब्रूयात्, सुखात्मकस्यापि सम्यग्दर्शनादिभावेन दर्शनात्, तथा चोक्तम्-" तणसंथारनिसण्णोऽवि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो । जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टीवि ? ॥ १ ॥" इत्यादि, तथा वध्यावध्यपारदा रिकादयोऽवध्या वा तत्कर्मानुमतिप्रसङ्गादित्येवंभूतां वाच स्वानुष्ठानपरायणः साधुः परव्यापारनिरपेक्षो न

1 अप्रीतिकं यया स्यादाशु कुप्येद्वा परः सर्वथा तां न भाषेत भाषामहितगामिनीं ॥ 2 तृणसंस्तारकनिषण्णोऽपि मुनिवरो भ्रष्टरागमदमोहः । यत्प्राप्नोति मुक्तिसुखं कुतस्तत् चक्रवर्त्यपि ॥ 1 ॥ 3 वध्यत्वे हिंसादिकर्मणां अवध्यत्वने चौर्यादिकर्मणाम् ।

निसृजेत्, तथा हि सिंहव्याघ्रमार्जारादीन्परसत्त्वव्यापादनपरायणान् दृष्ट्वा माध्यस्थ्यमवलम्बयेत्, तथा चोक्तम्— "मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु "ति. (तत्त्वा० अ० ७, सू० ६) एवमन्योऽपि वाक्संयमो द्रष्टव्यः, तद्यथा—अमी गवादयो वाह्या न वाह्या वा तथाऽमी वृक्षादयश्छेद्या न छेद्या वेत्यादिकं वचो न वाच्यं साधुनेति ॥ ३० ॥ अयमपरो वाक्संयमप्रकारोऽन्तःकरणशुद्धिसमाश्रितः प्रदर्श्यते—'दीसंती'-त्यादि, 'दृश्यन्ते' समुपलभ्यन्ते स्वशास्त्रोक्तेन विधिना निभृतः—संयत आत्मा येषां ते निभृतात्मानः, क्वचित्पाठः 'समियाचार' त्ति सम्यक्—स्वशास्त्रविहितानुष्ठानादविपरीत आचारः—अनुष्ठानं येषां ते सम्यगाचाराः, सम्यग्वा—इतो व्यवस्थित आचारो येषां ते समिताचाराः, के ते ?—भिक्षणशीला भिक्षवो—भिक्षामात्रवृत्तयः, तथा साधुना विधिना जीवितुं शीलं येषां ते साधुजीविनः, तथाहि—ते न कस्यचिदुपरोधविधानेन जीवन्ति. तथा क्षान्ता दान्ता जितक्रोधाः सत्यसंधा दृढव्रता युगान्तरमात्रदृष्टयः परिमितोदकपायिनो मौनिनः सदा तायिनो विविक्तैकान्तध्यानाध्यासिनः अकौकुच्यास्तानेवंभूतानवधार्यापि 'सरागा अपि वीतरागा इव चेष्टन्ते' इति मत्वैते मिथ्यात्वोपजीविन इत्येवं दृष्टिं न धारयेत्—नैवंभूतमध्यवसायं कुर्यान्नाप्येवंभूतां वाचं निसृजेद् यथैते मिथ्योपचारप्रवृत्ता मायाविन इति, छद्मस्थेन ह्यर्वाग्दर्शिनैवंभूतस्य निश्चयस्य कर्तुमशक्यत्वादित्यभिप्रायः, ते च स्वयूथ्या वा भवेयुस्तीर्थान्तरीया वा, तावुभावपि न वक्तव्यौ साधुना, यत उक्तम्—" यावत्परगुणपरदोषकीर्तने

१ एवमर्थप्रतिवाक्ये समुच्चये इतिवचनात्समुच्चये न वाचं निसृजेत् माध्यस्थ्यं च अवलम्बयेत् इति ।

ध्यातुं मनो भवति । तावदरं विशुद्धे ध्याने व्यग्रं मनः कर्तुम् ॥ १ ” इत्यादि ॥ ३१ ॥ किञ्चान्यत्—
दक्खिणाए पडिलम्भो, अत्थि वा णत्थि वा पुणो । ण वियागरेज्ज मेहावी, सन्तिमग्गं च बूहए ॥३२॥
इच्चेएहिं ठाणेहिं जिणदिट्ठेहिं संजए । धारयन्ते उ अप्पाणं, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥ ३३ ॥
त्ति बेमि ॥ सूत्रम् ॥

इति बीयसुयक्खन्धस्स अणायारणाम पञ्चममज्झयणं समत्तं ॥

दानं दक्षिणा तस्याः प्रतिलम्भ¹-प्राप्तिः स दानलाभोऽस्माद्गृहस्थादेः सकाशादस्ति नास्ति वेत्येवं न व्यागृणीयात् मेधावी-मर्यादाव्यवस्थितः । यदिवा स्वयूथ्यस्य तीर्थान्तरीयस्य वा दानं ग्रहणं वा प्रति यो लाभः स एकान्तेनास्ति-संभवति नास्ति वेत्येवं न ब्रूयादेकान्तेन, तद्दानग्रहणनिषेधे दोषोत्पत्तिसंभवात्, तथाहि-तद्दाननिषेधेऽन्तरायसम्भवस्तद्दैन्यं च, तद्दानानुमतावप्यधिकरणोद्भव इत्यतोऽस्ति दानं नास्ति वेत्येवमेकान्तेन न ब्रूयात् । कथं तर्हि ब्रूयादिति दर्शयति-शान्तिः-मोक्षस्तस्य मार्गः-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकस्तमुपबृंहयेद्-वर्धयेत्, यथा मोक्षमार्गाभिवृद्धिर्भवति तथा ब्रूयादित्यर्थः, एतदुक्तं भवति-पृष्टः केनचिद्विधिप्रतिषेधमन्तरेण देयप्रतिग्राहकविषयं निरवद्यमेव ब्रूयादित्येवमादिकमन्यदपि विधिधर्मदेशनावसरे भाष्यं, तथा चोक्तम्-'सावज्जणवज्जाणं वयणाणं जो न जाणइ विसेसं' इत्यादि ॥ ३२ ॥ साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्षुराह-'इच्चेएहिं' मित्यादि,

१ [illegible]

इत्येतैरेकान्तनिषेधद्वारेणानेकान्तविधायिभिः स्थानैर्वाक्संयमप्रधानैः समस्ताध्ययनोक्तै रागद्वेषरहितैर्जिनैर्दृष्टैः- उपलब्धैर्न स्वमतिविकल्पोत्थापितैः संयतः-सत्संयमवानात्मानं धारयन्-एभिः स्थानैरात्मानं वर्तयन्नामोक्षाय- अशेषकर्मक्षयाख्यं मोक्षं यावत्परिः-समन्तात्संयमानुष्ठाने व्रजेः गच्छेस्त्वमिति विधेयस्योपदेशः। इति परिस- माप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत्। नया अभिहिताः अभिधास्यमानलक्षणाश्चेति ॥ ३३ ॥ समाप्तमनाचारश्रुताख्यं पञ्चममध्ययनमिति ॥

॥ इति श्रीसूत्रकृताङ्गे द्वितीयश्रुतस्कन्धे पञ्चममनाचाराध्ययनं समाप्तम् ॥

卐

अथ श्रीआर्द्रकाख्यषष्ठमध्ययनम् ॥

卐

उक्तं पञ्चममध्ययनं, साम्प्रतं षष्ठमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः-इहानन्तराध्ययने आचारः प्रतिपादितोऽनाचारपरिहारश्च, स च येनाचीर्णः परिहृतश्चासावधुना प्रतिपाद्यते, यदिवाऽनन्तराध्ययने स्वरूपमाचारानाचारयोः प्रतिपादितं, तच्चाशक्यानुष्ठानं न भवत्यतस्तदासेवको दृष्टान्तभूत आर्द्रकः प्रतिपाद्यत इति, अथवाऽनाचारफलं ज्ञात्वा सदाचारे प्रयत्नः कार्यो यथाऽऽर्द्रककुमारेण कृत इत्येतद्दर्शनार्थमिदमध्ययनम्। अस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराण्युपक्रमादीनि वाच्यानि, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा-आर्द्रककुमारवक्तव्यता,

पयाऽसाय मयकुमारअविमाम्पति करात्मतिबुद्धः तथाऽत्र सर्वं प्रतिपाद्यत इति। निक्षेपस्त्रिधा–तत्रौघनिष्पन्ने निक्षेपेऽध्ययन, नामनिष्पन्ने निक्षेपे स्वाद्रकीयं, तत्रार्द्रपदनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

नामठवणाअद्द दव्वद्दे चेव होइ भावद्द। एसो खलु अद्दस्से उ निक्खेवो चउविहो होइ ॥ १८४ ॥
उदगद्द सारद्द छवियद्द वसद्द तहा सिलेसद्दे। एय दव्वद्द खलु भावेणं होइ रागद्द ॥ १८५ ॥
एगभवियबद्धाउए य अभिमुहए य नामगोए य। एते तिन्नि पगारा दव्वद्दे होंति नायव्वा॥१८६॥
अद्दपुरे अद्दसुतो नामेण अद्दओत्ति अणगारो। तत्तो समुट्ठियमिणं अज्झयणं अद्दइज्जंति ॥१८७॥
काम दुवालसंग जिणवयणं सासयं महाभाग। सव्वज्झयणाइ तहा सव्वक्खरसन्निवाया य॥१८८॥
तहवि य कोई अत्थो उप्पज्जति तम्मि तम्मि समयम्मि। पुव्वभणिओ अणुमतो अ होइ इसिभासिएसु जहा ॥ १८९ ॥

नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्धाऽऽर्द्रकस्य निक्षेपो द्रष्टव्यः, तत्र नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यार्द्रप्रतिपादनार्थमाह–तत्र द्रव्यार्द्र द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः 'अनुपयोगो द्रव्य'मितिकृत्वा

१ दव्वे दव्वे ? ब ... दव्वेद्दे' मा. । २ अद्दम्मि अ । ३ छविअद्द ब खा । ४ तहा पया ब खा । ५ माविय उ भावेण ए ब । ६ भविए ब खा. । ७ अहि मुहिय ब खा । ८ तिन्नि पयारा दव्वंमि ब खा । ९ अद्द के होति ब च्य । १ ... पुर ब खा. । ११ 'वति ब खा. । १२ दव्वरव ब खा । १३ ज्जाइ ब खा. १४ मवित्र ब खा १५ तहा अनुमवव ब खा

नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं यदुदकेन मृत्तिकादिकं द्रव्यमार्द्रीकृतं तदुदकार्द्रं, सारार्द्रं तु यद्बहिः-शुष्काकारमप्यन्तर्मध्ये सार्द्रमास्ते, यथा श्रीपर्णीसोवर्चलादिकं 'छविअद्दं' तु यत् स्निग्धत्वग्द्रव्यं मुक्ताफलरक्ताशोकादिकं तदभिधीयते, वसयोपलिप्तं वसार्द्रं, तथा श्लेषार्द्रं वज्रलेपाद्युपलिप्तं स्तम्भकुड्यादिकं यद्द्रव्यं तत्स्निग्धाकारतया श्लेषार्द्रमित्यभिधीयते, एतत्सर्वमप्युदकार्द्रादिकं द्रव्यार्द्रमेवाभिधीयते, खलुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्। भावार्द्रं तु पुनः रागः-स्नेहोऽभिष्वङ्गस्तेनार्द्रं यज्जीवद्रव्यं तद्भावार्द्रमित्यभिधीयते। साम्प्रतमार्द्रककुमारमधिकृत्यान्यथा द्रव्यार्द्रं प्रतिपादयितुमाह-एकेन भवेन यो जीवः स्वर्गादेरागत्यार्द्रककुमारत्वेनोत्पत्स्यते तथा ततोऽप्यासन्नतरो बद्धायुष्कः तथा ततोऽप्यासन्नतमोऽभिमुखनामगोत्रो-योऽनन्तरसमयमेवार्द्रकत्वेन समुत्पत्स्यते, एते च त्रयोऽपि प्रकारा द्रव्यार्द्रके द्रष्टव्या इति। साम्प्रतं भावार्द्रकमधिकृत्याह-आर्द्रकायुष्कनामगोत्राण्यनुभवन् भावार्द्रो भवति, यद्यपि शृङ्गवेरादीनामप्यार्द्रकसंज्ञाव्यवहारोऽस्ति तथापि नेदमध्ययनं तेभ्यः समुत्थितमतो न तैरिहाधिकारः, किंत्वार्द्रककुमारानगारात्समुत्थितमतस्तेनैवेहाधिकार इतिकृत्वा तद्वक्तव्यताऽभिधीयते। एतदेव निर्युक्तिकृदाह-अस्याः समासेनायमर्थः-आर्द्रकपुरे नगरे आर्द्रको नाम राजा, तत्सुतोऽप्यार्द्रकाभिधानः कुमारः, तद्वंशजाः किल सर्वेऽप्यार्द्रकाभिधाना एव भवन्तीतिकृत्वा, स चानगारः संवृत्तः, तस्य च श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिसमवसरणावसरे गोशालकेन सार्द्धं हस्तितापसैश्च वादोऽभूत्, तेन च ते एतदध्ययनार्थोपन्यासेन पराजिता अत इदमभिधीयते-'ततः' तस्मादार्द्रकात्समुत्थितमिदमध्ययनमार्द्रकीयमिति गाथासमासार्थः।

व्याख्यार्थं तु स्वत एव निर्युक्तिकृदार्द्रकपूर्वभवोपन्यासेनोत्तरत्र कथयिष्यतीति । ननु च शाश्वतमिदं द्वादशाङ्गमपि गणिपिटकम् आर्द्रककथानकं तु श्रीवर्धमानतीर्थावसरे तत्कथमस्य शाश्वतत्वमित्याशङ्क्याह—'काम'मित्येतदभ्युपगमे इष्टमेवैतदस्माकं, तद्यथा—द्वादशाङ्गमपि जिनवचनं नित्यं शाश्वतं 'महाभाग' महानुभावमामर्षौषध्यादिऋद्धिसमन्वितत्वात् न केवलमिदं सर्वाण्यप्यध्ययनान्येवम्भूतानि, तथा सर्वाक्षरसन्निपाताश्च—मेलापका द्रव्यार्थादेशादित्या एवेति । ननु च महानुभावानाम निग्रहस्थान भवत इत्याशङ्क्याह—'जइवि' यद्यपि सर्वमपीदं द्रव्यार्थतः शाश्वतं तथाऽपि कोऽप्ययमस्तस्मिन्समये यथा थेरे च कृतमिदार्द्रकादेः प्रकाशादार्द्रकीयमाख्यातमिति स तेन व्यपदिश्यते । तथा पूर्वमप्यसावर्थोऽन्यमुद्दिश्योक्तोऽनुमतश्च भवति, ऋषिभाषितेषूत्तराध्ययनादिषु यथेति । साम्प्रतं विशिष्टतरमध्ययनोत्थानमाह—

अज्जद्दएण गोसालभिक्खुबंभवतीतिदंडीणं । जह हत्थितावसाणं कहियं इणमो तहा वुच्छं ॥ १९० ॥
गामे वसंतपुरए सामइओ घरणिसहिओ निक्खंतो । भिक्खायरियादिट्ठा ओहासिय भत्तवेहासं ॥ १९१ ॥
संवेगसमावन्नो माई भत्तं चइत्तु दियलोए । चइऊणं अद्दपुरे अद्दसुओ अद्दओ जाओ ॥ १९२ ॥
पीती य दोण्ह दूओ पुच्छणमभयस्स पट्ठवे सोऽवि । तेणावि सम्मदिट्ठित्ति होज्ज पडिमा रहम्मि गया ॥ १९३ ॥

---

१ यात्वं ब आ. २ सामइए ब आ. ३ साहिट ब आ ४ भत्ते ब. ५ अद्दसुठ ब आ ६ अदय चाद ब, चा ७ ह ब आ. मूलो. ८ न अभयस्स ब आ. ९ होज ब आ

को अन्नो ? ॥१९४॥
दट्ठुं संबुद्धो रक्खिओ[1] य आसाण वाहण पलातो[2]। पव्वावंतो[3] घरितो रज्जं न करेति[5] को अन्नो ? ॥१९४॥
दट्ठुं संबुद्धो रक्खिओ य आसाण वाहण पलातो। पव्वावंतो घरितो रज्जं न करेति को अन्नो ?
अगणिंतो[6] निक्खंतो विहरइ पडिमाइ[7] दारिगा वरिओ[8]। सुवण्णवसुहाराओ रन्नो कहणं च देवीए ।१९५।
तं नेइ पिता[9] तीसे पुच्छणं[10] कहणं च वरण दोवारे। जाणाहि[11] पायबिंबं आगमणं कहण निग्गमणं ॥१९६॥
पडिमागतस्स[12] समीवे सप्परीवारा[13] अभिक्ख पडिवयणं। भोगा सुता[14] ण पुच्छण सुतबंध पुण्णे य निग्गमणं
रायगिहागम चोरा रायभयाकहण[15] तेसि दिक्खा य। गोसालभिक्खुबंभी तिदंडिया[16] तावसेहिं सह वादो
वादे पराइइत्ता सव्वेविय सरणमब्भुवगता[17] ते। अद्दगसहिया सव्वे जिणवीरसगासे[19] निक्खंता ॥१९९॥
णं दुक्करं वा णरपासमोयणं[20], गयस्स मत्तस्स वणंमि रायं ! । जहा उ वत्तावलिएण[21] तंतुणा, सुदुक्करं मे पडिहाइ मोयणं ॥ २०० ॥[22]

आर्यार्द्रकेण समवसरणाभिमुखमुच्चलितेन गोशालकभिक्षोस्तथा ब्रह्मव्रतिनां त्रिदण्डिनां यथा हस्तितापसानां च कथितमिदमध्ययनार्थजातं तथा वक्ष्ये सूत्रेणेति ॥ साम्प्रतं सपूर्वभवमार्द्रककथानकं गाथाभिरेव निर्यु-

१ तेणवि अ आ. २ रक्खिउ अ आ ३ पलाउ अ. आ. ४ पव्वायतो अ आ ५ करेइ अ आ ६ अगणेंतो णि० अ आ. ७ पडिमाए अ आ दारिय पईक अ आ. ८ सुयरण वसुधाराउ अ आ. ९ पि पिया अ आ. १० पुच्छणं आ. ११ जाणाहिं अ. १२ °गयस्स° अ. आ १३ °वारो अ. आ १४ सुत अ. आ. १५ तया कहण अ. च भया कहण य १६ तिउतिए अ. आ १७ याएय राइया अ आ १८ °गया उ अ आ १९ जिणवर सकासे अ २० नदु० अ आ २१ नवारण अ आ. २२ अद्दइस्सा निज्जुत्ती समत्ता। अ आं

किञ्चान्यत्-'गामे' इत्यादि गाथाष्टकं, आसां चार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदं-मगधाजनपदे वसन्तपुरको ग्रामः, तत्र सामायिको नाम कुटुम्बी प्रतिवसति, स च संसारभयोद्विग्नो धर्मघोषाचार्यान्तिके धर्मं श्रुत्वा सपत्नीकः प्रव्रजितः, स च सदाचाररतः संविग्नैः साधुभिः सार्द्धं विहरति, इतरापि साध्वीभिः सहेति । कदाचिचासावेकस्मिन्नगरे भिक्षार्थमटन्तीं दृष्ट्वा तामसौ तथाविधकर्मोदयात्पूर्वरतानुस्मरणेन तस्यामध्युपपन्नः, तेन चात्मीयोऽभिप्रायो द्वितीयस्य साधोर्निवेदितः, तेनापि च तत्प्रवर्तिन्याः, तयाऽपि तस्याः, तयाऽपि चाभिहितं-न मम देशान्तरे एकाकिन्या गमनं युज्यते, न चासौ तत्राप्यनुबन्धं त्यक्ष्यतीत्यतो ममास्मिन्नवसरे भक्तप्रत्याख्यानमेव श्रेयो न पुनर्व्रतविलोपनमित्यतस्तया भक्तप्रत्याख्यानपूर्वकमात्मोद्बन्धनमकारि, मृता चासौ गता देवलोकं । श्रुत्वा चैनं व्यतिकरमसौ परं संवेगमुपगतश्चिन्तितं च तेन-तया महमहद्भयादिदमनुष्ठितं मम त्वसौ संजात एवेत्यतोऽहमपि भक्तप्रत्याख्यानं करोमीत्याचार्यस्यानिवेद्यैवासौ मायावी अयं च परमसंवेगापन्नः असावपि भक्तं प्रत्याख्याय दिवं गतः, ततोऽपि च प्रत्यागत्यार्द्रपुरे नगरे आर्द्रकसुत आर्द्रकाभिधानो जातः, साऽपि च देवलोकाच्युता वसन्तपुरे नगरे श्रेष्ठिकुले दारिका जाता । इतरोऽपि च परमरूपसंपन्नो यौवनस्थः संवृत्तः, अन्यदाऽस्यार्द्रकपिता राजगृहे नगरे श्रेणिकस्य राज्ञः स्नेहाविष्करणार्थं परमप्राभृतोपेतं महत्तमं प्रेषयति, आर्द्रककुमारेणासौ पृष्टो यथा-कस्यैतानि महार्हाण्यत्यद्भुतानि प्राभृतानि मत्पित्रा प्रेषितानि यास्यन्तीति, असावकथयत्-यथा आर्यदेशे तव पितुः परममित्रं श्रेणिको महाराजः तस्यैतानीति, आर्द्रककुमारेणाप्यभाणि-किं तस्यास्ति कश्चिद्योग्यः पुत्रः ?, अस्ती

त्याह, यद्येवं मत्प्रहितानि प्राभृतानि भवता तस्य समर्पणीयानीति भणित्वा महार्हाणि प्राभृतानि समर्प्याभिहितं वक्तव्योऽसौ मद्वचनात् यथाऽऽर्द्रककुमारस्त्वयि नितरां स्निह्यतीति, स च महत्तमो गृहीतोभयप्राभृतो राजगृहमगात्, गत्वा च राजद्वारपालनिवेदितो राजकुलं प्रविष्टो, दृष्टश्च श्रेणिकः, प्रणामपूर्वकं निवेदितानि प्राभृतानि, कथितं च यथासंदिष्टं, तेनाप्यासनाशनताम्बूलादिना यथार्हप्रतिपत्त्या सन्मानितः, द्वितीये चाह्न्यार्द्रककुमारसत्कानि प्राभृतान्यभयकुमारस्य समर्पितानि, कथितानि च तत्प्रीत्युत्पादकानि तत्संदिष्टवचनानि, अभयकुमारेणापि पारिणामिक्या बुद्ध्या परिणामितं–नूनमसौ भव्यः समासन्नमुक्तिगमनश्च तेन मया सार्द्धं प्रीतिमिच्छतीति, तदिदमत्र प्राप्तकालं यदादितीर्थकरप्रतिमासंदर्शनेन तस्यानुग्रहः क्रियत इति मत्वा तथैव कृतं, महार्हाणि च प्रेषितानि प्राभृतानीति, उक्तश्चासौ महत्तमो यथा–मत्प्रहितप्राभृतमेतदेकान्ते निरूपणीयं, तेनापि तथैव प्रतिपन्नं, गतश्चासावार्द्रकपुरं, समर्पितं च प्राभृतं राज्ञः, द्वितीये चाह्न्यार्द्रककुमारस्येति, कथितं च यथासंदिष्टं, तेनाप्येकान्ते स्थित्वा निरूपिता प्रतिमा, तां च निरूपयत ईहापोहविमर्शनेन समुत्पन्नं जातिस्मरणं, चिन्तितं च तेन यथा–ममाभयकुमारेण महानुपकारोऽकारि सद्धर्मप्रतिबोधत इति, ततोऽसावार्द्रकः संजातजातिस्मरणोऽचिन्तयत्–यस्य मम देवलोकभोगैर्यथेप्सितं संपद्यमानैस्तृप्तिर्नाभूत् तस्यामीभिस्तुच्छैर्मानुषैः स्वल्पकालीनैः कामभोगैस्तृप्तिर्भविष्यतीति कुतस्त्यमिति, एतत्परिगणय्य निर्विण्णकामभोगो यथोचितं परिभोगमकुर्वन् राज्ञा संजातभयेन मा क्वचिद्यास्यति अतः पञ्चभिः शतै राजपुत्राणां रक्षयितुमारेभे, आर्द्रककुमारोऽप्यश्ववाहनिकया विनिर्गतः

प्रधानाश्वेन प्रपलायितः । ततश्च प्रव्रज्यां गृह्णन् देवतया सोपसर्गं भवतोऽद्यापीति भणित्वा निवारितोऽप्यसावा-र्द्रको राज्यं शासत् करोति कोऽन्यो मां विहाय प्रव्रज्यां ग्रहीष्यतीत्यभिसन्धाय तां देवतामवगणय्य प्रव्रजितः । विहरन्नन्यदाऽन्यतरप्रतिमाप्रतिपन्नः कायोत्सर्गव्यवस्थितो वसन्तपुरे तया देवलोकच्युतया श्रेष्ठिदुहित्राऽपरदारि कामध्यगतया रमन्त्यै(रममाणयै)ष मम भर्तेत्येवमुक्ते सत्यनन्तरमेव तत्सन्निहितदेवतयाऽर्द्धत्रयोदशकोटिपरिमाणा दोसमं श्रुतमनयेति भणित्वा हिरण्यवृष्टिर्मुक्ता, तां च हिरण्यवृष्टिं राजा गृह्णन् देवतया सर्पाद्युत्थानतो विघ्नतोऽ मिहितं च तया यथा-एतद्धिरण्यजातमस्या दारिकायाः नान्यस्य कस्यचिदित्यतस्तत्पित्रा सर्वं संगोपितम्, मार्द्रककुमारोऽप्यनुकूलोपसर्गं इति मत्वाऽन्यत्रैवान्यत्र गतः, गच्छति च काले दारिकाया वरकाः समागच्छन्ति पृष्टौ च पितरौ तया-किमेषामागमनप्रयोजनं ?, कथितं च ताभ्यां यथैते तव वरका इति, ततस्तयोक्त-तात ! सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते नानेकशः, तथा चाहं तस्मै यत्संबन्धि हिरण्यजातं भवद्भिर्गृहीतं, ततः सा पित्राऽभाणि-किं त्वं तं जानीषे ?, तयोक्त-तत्पादगताभिज्ञानदर्शनतो जानामीति, तदेवमसौ तत्परिज्ञानार्थं सर्वस्य भिक्षा पिनो भिक्षां दापयितुं निरूपिता, ततो द्वादशभिर्वर्षैर्गतः कदाचिच्चासौ भवितव्यतानियोगेन तत्रैव विहरन् समा यातः, प्रत्यभिज्ञातश्च तया तत्पादचिह्नदर्शनतः, ततोऽसौ दारिका सपरिवारा तत्पृष्ठतो जगाम, मार्द्रककुमारोऽपि देवतावचनं स्मरंस्तथाविधकर्मोदयात्प्रत्यक्षभाविभवितव्यतानियोगेन च प्रतिभग्नस्तया सार्द्धं भुनक्ति भोगान्, पुत्रश्चोत्पन्नः, पुनरार्द्रककुमारेणासावभिहिता-साम्प्रतं ते पुत्रो द्वितीयः अहं च स्वकार्यमनुतिष्ठामि, तया सुतस्य

त्पादनार्थं कर्पासकर्त्तनमारब्धं, पृष्टा चासौ बालकेन–किमम्बैतद्भवत्या प्रारब्धमितरजनाचरितं ?, ततोऽसावत्रोचद्–
यथा तव पिता प्रव्रजितुकामः त्वं चाद्यापि शिशुरसमर्थोऽर्थार्जने ततोऽहमनाथा स्त्रीजनोचितेनानिन्द्येन विधिना-
ऽऽत्मानं भवन्तं च किल पालयिष्यामीत्येतदालोच्येदमारब्धमिति । तेनापि बालकेनोत्पन्नप्रतिभया तत्कर्त्तितसूत्रे-
णैव कायं मद्बद्धो यास्यतीति मन्मनभाषिणोपविष्ट एवासौ पिता परिवेष्टितः, तेनापि चिन्तितं–यावन्तोऽमी बाल-
ककृतवेष्टनतन्तवस्तावन्त्येव वर्षाणि मया गृहे स्थातव्यमिति, निरूपिताश्च तन्तवो यावद् द्वादश तावन्त्येव वर्षा-
ण्यसौ गृहवासे व्यवस्थितः, पूर्णेषु च द्वादशसु संवत्सरेषु गृहान्निर्गतः प्रव्रजितश्चेति । ततोऽसौ सूत्रार्थनिष्पन्न एका-
किविहारेण विहरन् राजगृहाभिमुखं प्रस्थितः, तदन्तराले च तद्रक्षणार्थं यानि प्राक् पित्रा निरूपितानि पञ्च राज-
पुत्रशतानि तस्मिन्नश्वेन नष्टे राजभयाद्वैलक्ष्याच्च न राजान्तिकं जग्मुः, तत्राटवीदुर्गे चौर्येण वृत्तिं कल्पितवन्तः,
तैश्चासौ दृष्टः प्रत्यभिज्ञातश्च, ते च तेन पृष्टाः–किमिति भवद्भिरेवंभूतं कर्माश्रितं ?, तैश्च सर्वं राजभयादिकं
कथितम्, आर्द्रककुमारवचनाच्च संबुद्धाः प्रव्रजिताश्च । तथा राजगृहनगरप्रवेशे गोशालको हस्तितापसाः ब्रह्मणाश्च
वादे पराजिताः । तथाऽऽर्द्रककुमारदर्शनादेव हस्ती बन्धनाद्विमुक्तः, ते च हस्तितापसादय आर्द्रककुमारधर्म-
कथाक्षिप्ता जिनवीरसमवसरणे निष्क्रान्ताः । राज्ञा च विदितवृत्तान्तेन महाकुतूहलापूरितहृदयेन पृष्टो–भगवन् !
कथं त्वद्दर्शनतो हस्ती निरर्गलः संवृत्त इति ?, महान् भगवतः प्रभाव इत्येवमभिहितः सन्नार्द्रककुमारोऽब्रवीत् नवम-
गाथयोत्तरं–न दुष्करमेतद्यन्नरपाशैर्बद्धमत्तवारणस्य विमोचनं वने राजन् ! एतत्तु मे प्रतिभाति दुष्करं यत्तत्रावलितेन

तन्तुना पटस्य मम प्रतिमोचनमिति । स्नेहतन्तवो हि जन्तूनां दुरुच्छेदा भवन्तीति भावः । गतमार्द्रककथानकम्, नामनिष्पन्ननिक्षेपश्च । तदनन्तरं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

पुराकडं अद्द ! इमं सुणेह, मेगंतयारी समणे पुरासी । से भिक्खुणो उवणेत्ता अणेगे, आइक्खतिण्हिं पुढो वित्थरेणं ॥ १ ॥ साऽऽजीविया पट्ठविताऽथिरेणं, सभागओ गणओ भिक्खुमज्झे । आइक्खमाणो बहुजन्नमत्थं, न संधयाती अवरेण पुव्वं ॥ २ ॥ एगंतमेव अदुवा वि इण्हिं, दोऽवण्णमन्नं न समेति जम्हा । सूत्रं—

यथा गोशालकेन सार्धं वादोऽभूदार्द्रककुमारस्य तथाऽनेनाध्ययनेनोपदिश्यते, तं च राजपुत्रकमार्द्रककुमारं प्रत्येकबुद्धं भगवत्समीपमागच्छन्तं गोशालकोऽब्रवीत्—यथा हे आर्द्रक ! यदहं ब्रवीमि तच्छृणु—'पुरा' पूर्वं यदनेन भवत्तीर्थकृता कृतं, तच्चेदमिति दर्शयति—एकान्ते जनरहिते—प्रदेशे चरितुं शीलमस्येत्येकान्तचारी, तथा श्राम्यतीति श्रमणः पुराऽऽसीत्तपश्चरणोद्युक्तः, साम्प्रतं तूग्रैस्तपश्चरणविशेषैर्निर्भर्त्सितो मां विहाय देवादिमध्ये गतोऽसौ धर्मं किल कथयति, तथा 'भिक्षून्'—भिक्षून्, 'उपनीय'—प्रभूतशिष्यपरिकरं कृत्वा भवद्विधानां च मुग्धजनानामिदानीं पृथक् पृथग्विस्तरेणाचष्टे धर्ममिति शेषः ॥ १ ॥ पुनरपि गोशालक एव 'साऽऽजीविए'त्यादि, येयं बहुजनमध्यगतेन धर्मदेशना युष्मद्गुरुणाऽऽरब्धा साऽऽजीविका प्रकर्षेण स्थापिता प्रस्थापिता, एकाकी विहरँल्लोकैः परिभूयत इतिमत्वा लोकपङ्क्तिनिमित्तं महान् परिकरः कृतः, तथा चोच्यते—" छत्रं छात्रं पात्रं वस्त्रं

यष्टिं च चर्चयति भिक्षुः। वेषेण परिकरेण च कियताऽपि विना न भिक्षापि ॥ १ ॥" तदनेन दम्भप्रधानेन जीविकार्थमिदमारब्धं। किंभूतेन ?–अस्थिरेण, पूर्वं ह्ययं मया सार्द्धमेकाक्यन्तप्रान्ताशनेन शून्यारामदेवकुलादौ वृत्तिं कल्पितवात्, न च तथाभूतमनुष्ठानं सिकताकवलवन्निरास्वादं यावज्जीवं कर्तुमलम् अतो मां विहायायं बहून् शिष्यान् प्रतार्यैवंभूतेन स्फटाटोपेन विहरतीत्यतः कर्तव्ये 'अस्थिरः'–चपलः, पूर्वचर्यापरित्यागेनापरकल्पसमाश्रयात्, एतदेव दर्शयति—'सभायां गतः' सदेवमनुजपर्षदि व्यवस्थितो 'गणओ'त्ति गणशो बहुशोऽनेकश इतियावत् भिक्षूणां मध्ये 'गतो'–व्यवस्थितः आचक्षाणो बहुजनेभ्यो हितः अर्थो बहुजन्योऽर्थस्तमर्थं बहुजनहितं कथयन् विहरति, एतच्चास्यानुष्ठानं पूर्वापरेण न संधत्ते, तथाहि–यदि साम्प्रतीयं वृत्तं प्राकारत्रयसिंहासनाशोकवृक्षभामण्डलचामरादिकं मोक्षाङ्गमभविष्यत्ततो या प्राक्तन्येकचर्या क्लेशबहुलाऽनेन कृता सा क्लेशाय केवलमस्येति, यदि सा कर्मनिर्जरणहेतुका परमार्थभूता ततः साम्प्रतावस्था परप्रतारकत्वाद्दम्भकल्पेत्यतः पूर्वोत्तरयोरनुष्ठानयोः–मौनव्रतिकधर्मदेशनारूपयोः परस्परतो विरोध इति ॥ २ ॥ अपि च–यद्येकान्तचारित्वमेव शोभनं पूर्वमाश्रितत्वात् ततः सर्वदाऽन्यनिरपेक्षैस्तदेव कर्तव्यम्, अथ चेदं साम्प्रतं महापरिवारवृत्तं साधुं मन्यसे ततस्तदेवादावप्याचरणीयमासीद्, अपिच द्वे अप्येते छायातपवदत्यन्तविरोधिनी वृत्ते नैकत्र समवायं गच्छतः, तथा यदि मौनेन धर्मस्ततः किमियं महता प्रबन्धेन धर्मदेशना ?, अथानयैव धर्मस्ततः किमिति पूर्वं मौनव्रतमनेनालम्बे ?, यस्मादेवं तस्मात्पूर्वोत्तरव्याहतिः। तदेवं गोशालकेन पर्यनुयुक्त आर्द्रककुमारः श्लोक-

पश्चार्द्धेनोत्तरदानायाह—

पुव्विं च इण्हिं च अणागतं वा, एगंतमेवं पडिसंधयाति ॥ २ ॥ समिच्च लोगं तसथावराणं, खेमंकरे समणे माहणे वा। आइक्खमाणोवि सहस्समज्झे, एगंतयं सारयती तहच्चे ॥ ४ ॥ धम्मं कहंतस्स उ णत्थि दोसो, खंतस्स दंतस्स जितिंदियस्स। भासाय दोसे य विवज्जगस्स, गुणे य भासाय णिसेवगस्स ॥ ५ ॥ महव्वए पंच अणुव्वए य, तहेव पंचासव संवरे य। विरतिं इह स्सामणियंमि पन्ने, लवावसक्की समणे त्ति बेमि ॥ ६ ॥ सूत्र—

'पूर्वं' पूर्वस्मिन्काले यन्मौनव्रतिकत्वं या चैकचर्या छद्मस्थत्वात् घातिकर्मचतुष्टयक्षयाय, साम्प्रतं यन्म हाजनपरिवृतस्य धर्मदेशना विधानं तत्प्रागुपात्तभवोपग्राहिकर्मचतुष्टयक्षपणोद्यतस्य विशेषतस्तीर्थकरनाम्नो वेदनार्थ मपरासां चोच्चैर्गोत्रशुभायुर्नामादीनां शुभप्रकृतीनामिति। यदिवा पूर्वं साम्प्रतमनागते च काले रागद्वेषरहितत्वा देकत्वभावनानतिक्रमणादेकत्वमेवानुचरति भगवानशेषजनहितं धर्मं कथयन् प्रतिसंदधाति, न तस्य पूर्वोत्तर योरवस्थयोरासंसारहितत्वाद्भेदोऽस्ति, अतो यदुच्यते भवता-पूर्वोत्तरयोरवस्थयोरसाङ्गत्यं तत् प्रेमत इति ॥ ३ ॥ स्यादेतत्-धर्मदेशनया प्राणिनां कश्चिदुपकारो भवत्युत नेति ?, भवतीत्याह-'समिच्च लोए'मित्यादि, सम्यग्- यथावस्थितं 'लोकं'-षड्द्रव्यात्मकं, 'मत्वा'-अवगम्य केवलालोकेन परिच्छिद्य त्रस्यन्तीति त्रसाः-त्रसनाम कर्मोदयात् द्वीन्द्रियादयः, तथा तिष्ठन्तीति स्थावराः-स्थावरनामकर्मोदयात्स्थावराः पृथिव्यादयस्तेषामुभयेषामपि

जन्तूनां 'क्षेमं' शान्तिः रक्षा तत्करणशीलः क्षेमंकरः श्राम्यतीति श्रमणो–द्वादशप्रकारतपोनिष्टप्तदेहः, तथा मा हणत्ति प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनो ब्राह्मणो वा स एवंभूतो 'निर्ममो' रागद्वेषरहितः प्राणिहितार्थं न लाभपूजाख्यात्यर्थं धर्ममाचक्षाणोऽपि प्राग्वत् छद्मस्थावस्थायां मौनव्रतिक इव वाक्संयत एव, उत्पन्नदिव्यज्ञानत्वाद्भाषागुणदोषविवेकज्ञतया भाषणेनैव गुणावाप्तेः, अनुत्पन्नदिव्यज्ञानस्य तु मौनव्रतिकत्वेनेति, तथा देवासुरनरतिर्यक्सहस्रमध्येऽपि व्यवस्थितः पङ्काधारपङ्कजवत्तद्दोषव्यासङ्गाभावान्ममत्वविरहादाशंसादोषविकलत्वादेकान्तमेवासौ 'सारयति' प्रख्यातिं नयति साधयतीति यावत्। ननु चैकाकिपरिकरोपेतावस्थयोरस्ति विशेषः, प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यमानत्वात्, सत्यम्, अस्ति विशेषो बाह्यतो न त्वान्तरतोऽपि, दर्शयति–'तथा' प्राग्वदर्चा–लेश्या शुक्लध्यानाख्यायस्य स तथार्चः, यदिवा अर्चा–शरीरं तच्च प्राग्वद्यस्य स तथार्चः, तथाहि–असावशोकाद्यष्टप्रातिहार्योपेतोऽपि नोत्सेकं याति, नापि शरीरं संस्कारायत्तं विदधाति, स हि भगवानात्यन्तिकरागद्वेषप्रहाणादेकाक्यपि जनपरिवृत्तोऽप्येकाकी, न तस्य तयोरवस्थयोः कश्चिद्विशेषोऽस्ति, तथा चोक्तम्–"रागद्वेषौ विनिर्जित्य, किमरण्ये करिष्यसि ?। अथ नो निर्जितावेतौ किमरण्ये करिष्यसि ? ॥ १ ॥" इत्यतो बाह्यमनङ्गमान्तरमेव कषायजयादिकं प्रधानं कारणमिति स्थितम् ॥ ४ ॥ अपगतरागद्वेषस्य प्रभाषमाणस्यापि दोषाभावं दर्शयितुमाह–तस्य भगवतोऽपगतघनघातिकलङ्कस्योत्पन्नसकलपदार्थाविर्भाविज्ञानस्य जगदभ्युद्धरणप्रवृत्तस्यैकान्तपरहितप्रवृत्तस्य स्वकार्यनिरपेक्षस्य धर्मं कथयतोऽपि तुशब्दस्यापिशब्दार्थत्वात् नास्ति कश्चिद्दोषः। किंभूतस्येत्याह—क्षान्तस्य क्षान्तिसंपन्नस्यानेन क्रोधनिरासमाह, तथा

'दान्तस्य' उपशान्तस्यानेन तु मानम्युदासं, तथा जितानि स्वविषयप्रवृत्तिनिषेधेनेन्द्रियाणि येन स जितेन्द्रियो
वश्येन्द्रियोऽनेन तु लोभनिरासमाचष्टे, मायायास्तु लोभनिरासादेव निरासो द्रष्टव्यः, तन्मूलत्वात्तस्याः, मायाया
दोषा–असत्यास्त्याग्रूपाक्रोशासत्यश्लोकारणादयस्त्विदं कर्मकस्य–तत्परिहर्तुस्तया मायाया ये गुणा–हितमित
देशकालार्थविग्रभाषणादयस्तद्विपेधकस्य सतो छुवतोऽपि नास्ति दोषः, छद्मस्थस्य हि वाडुल्येन मौनव्रतमेव
मेयः, समुत्पन्नकेवलस्य तु भाषणमपि गुणायेति ॥ ५ ॥ किंभूत धर्ममसौ कथयतीत्याह–' महव्वए पंचे 'त्यादि, ९
महान्ति च तानि व्रतानि–प्राणातिपातनिरमणादीनि तानि च साधूनां प्रज्ञापितवान्, पश्चापि तदपेक्षयाऽणूनि–
रूपाणि व्रतानि अणुव्रतानि पञ्चैव तानि श्रावकानुद्दिश्य प्रज्ञापितवान्, पञ्चाश्रवान्–प्राणातिपातादिरूपान् कर्मणः
प्रवेशद्वारभूतान् तत्संवरं च सप्तदशप्रकार संयम प्रतिपादितवान्, संवरवतो हि विरतिर्भवतीत्यतो विरतिं च प्रति
पादितवान् चशब्दात्तत्फलभूतौ निर्जरामोक्षौ च 'इह'–अस्मिन्प्रवचने लोके वा श्रमणभावः श्रामण्यं–सम्पूर्णसंयम
स्तस्मिन् वा विधेये मूलगुणान्–महाव्रताणुव्रतरूपान् तथोत्तरगुणान्–संयतविरत्यादिरूपान् 'पूर्णे'–कृत्स्ने संयमे
विधातव्ये 'प्राज्ञ' इति वा क्वचित्पाठः, प्रज्ञावानेतत्प्रतिपादितवानिति । किंभूतोऽसौ ?–लव–कर्म तस्मात् 'अव १०
सक्क'त्ति अवसर्पणशीलोऽवसर्पी श्राम्यतीति श्रमणः–तपश्चरणयुक्त इत्येतदहं ब्रवीमि, स्वयमेव च भगवान्पञ्च
महाव्रतोपपन्न इन्द्रियनोइन्द्रियगुप्तो विरतश्चासौ लवावसर्पी सन् स्वतोऽन्येषामपि तथाभूतमुपदेशं दत्तवानित्येतद्
ब्रवीमीति । यदिवाऽर्द्रककुमारवचनमाकर्ण्यासौ गोशालकस्तत्प्रतिपक्षभूतं अर्थं वक्तुकाम इदमाह–इत्येतदृत्यमाशं

यदहं ब्रवीमि तच्छृणु ! त्वमिति ॥ ६ ॥ यथाप्रतिज्ञातमेवाह गोशालकः—

एगंतचारिस्सिह अम्ह धम्मे,
सीओदगं सेवउ बीयकायं, आहायकम्मं तह इत्थियाओ। तवस्सिणो णाभिसमेति पावं ॥ ७ ॥ सीतोदगं वा तह बीयकायं, आहायकम्मं तह इत्थियाओ। एयाइं जाणं पडिसेवमाणा, अगारिणो अस्समणा भवंति ॥ ८ ॥ सिया य बीओदग इत्थियाओ। पडिसेवमाणा समणा भवंतु। अगारिणोऽवी समणा भवंतु, सेवंति उ तंऽवि तहप्पगारं ॥ ९ ॥ जे यावि बीओदगभोति भिक्खू, भिक्खं विहं जायति जीवियट्ठी। ते णातिसंजोगमविप्पहाय, कायोवगा णंतकरा भवंति ॥ १० ॥

भवतेदमुद्ग्राहितं–परार्थं प्रवृत्तस्याशोकादिप्रातिहार्यपरिग्रहस्तथा शिष्यादिपरिकरो धर्मदेशना च न दोषायेति यथा तथाऽस्माकमपि सिद्धान्ते यदेतद्वक्ष्यमाणं तन्न दोषायेति। शीतं च तदुदकं च शीतोदकम्–अप्रासुकोदकं तत्सेवनं–परिभोगं करोतु, तथा बीजकायोपभोगमाधाकर्माश्रयणं स्त्रीप्रसङ्गं च विदधातु, अनेन च स्वपरोपकारः कृतो भवतीत्यस्मदीये धर्मे प्रवृत्तस्य 'एकान्तचारिणः'–आरामोद्यानादिष्वेकाकिविहारोद्यतस्य तपस्विनो 'नाभिसमेति'–न संबन्धमुपयाति, 'पापम्'–अशुभकर्मेति, इदमुक्तं भवति–एतानि शीतोदकादीनि यद्यपीषत्कर्मबन्धाय तथापि धर्माधारं शरीरं प्रतिपालयत एकान्तचारिणस्तपस्विनो बन्धाय न भवन्तीति ॥ ७ ॥ एतत्परिहर्तुकाम आह–'सीतोदग'मित्यादि, 'एतानि' प्रागुपन्यस्तानि अप्रासुकोदकपरिभोगादीनि प्रतिसेवन्तोऽगारिणो–गृह-

स्यास्ते भवन्ति श्रमणाश्च-श्रमणस्थिताश्चैव जानीहि, यतः-'अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमलुब्धता' इत्येतच्छ्रमण लक्षणं, तदेषां बीजोदकबीजाऽऽधाकर्मस्त्रीपरिभोगवतां नास्तीत्यतस्ते नामाकाराभ्यां श्रमणा न परमार्थानुष्ठानत इति ॥ ८ ॥ पुनरप्यार्द्रक एवैतद्दूषणायाह-स्यादेतद्भवदीयं मतं-यथा ते एकान्तचारिणः क्षुत्पिपासादिप्रधानत पश्चरणपीडिताश्च तत्कथं ते न तपस्विन इत्येतदाशङ्क्याऽऽर्द्रक आह-यदि बीजाद्युपभोगिनोऽपि श्रमणा इत्येवं भवता ऽभ्युपगम्यते एवं तर्हि गारिणोऽपि-गृहस्थाः श्रमणा भवन्तु, तेषामपि देशिकावस्थायामाशंसावतामपि निष्किञ्चन तयैकाकिविहारित्वं क्षुत्पिपासादिपीडनं च संभाव्यते। अत आह-'सेवंति उ'-तुरवधारणे सेवन्त्येव, 'तेऽपि'- गृहस्थास्तथाप्रकारमेकाकिविहारादिकमिति ॥ ९ ॥ पुनरप्यार्द्रको बीजोदकादिभोजिनां दोषाभिधित्सयाऽऽह- 'जे यावी'त्यादि, ये चापि 'भिक्षवः' प्रव्रजिता बीजोदकभोजिनः सन्तो द्रव्यतो ब्रह्मचारिणोऽपि भिक्षां चाटन्ति जीवितार्थिनस्ते तथाभूता-'ज्ञातिसंयोगं' स्वजनसंबन्धं, 'विप्रहाय'-त्यक्त्वा, कायान् कायेषु वोपगच्छन्तीति कायोपगास्तदुपमर्दकारम्भप्रवृत्तत्वात् संसारस्यानन्तकरा भवन्तीति, इदमुक्तं भवति-केवलं स्त्रीपरिभोग एव तैः परित्यक्तोऽसावपि द्रव्यतः, शेषेण तु बीजोदकाद्युपभोगेन गृहस्थकल्पा एव ते, यत्तु भिक्षाटनादिकमुपन्यस्तं तेषां तद्गृहस्थानामपि केषाञ्चित्संभाव्यते, नैतावता श्रमणभाव इति ॥ १० ॥ अधुनैतदाकर्ण्य गोशालकोऽपरमुत्तरं दातुमसमर्थोऽन्यतीर्थिकान्सहायान् विधाय सोत्प्रासमसारं वक्तुकाम आह-

इमं वयं तु तुम पाउकुव्वं, पावाइणो गरिहसि सव्व एव। पावाइणो पुढो किट्टयंता, सय

सयं दिट्ठि करेंति पाउ ॥११॥ ते अन्नमन्नस्स उ गरहमाणा, अक्खंति भो समणा माहणा य।
सतो य अत्थी असतो य णत्थी, गरहामो दिट्ठिं ण गरहामो किंचि ॥ १२ ॥ ण किंचि रूवेणऽ-
भिधारयामो, सदिट्ठिमग्गं तु करेमु पाउं। मग्गे इमे किट्टिए आरिएहिं, अणुत्तरे सप्पुरिसेहिं
अंजू ॥ १३ ॥ उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा। भूयाहिसंकाभि दुगुं-
छमाणा, णो गरहती वुसिमं किंचि लोए ॥ १४ ॥ सू० ॥

'इमां'-पूर्वोक्तां वाचं, तुशब्दो विशेषणार्थः त्वं 'प्रादुष्कुर्वन्'-प्रकाशयन् सर्वानपि प्रावादुकान् 'गर्हसि'-जुगुप्ससे, यस्मात्सर्वेऽपि तीर्थिका बीजोदकादिभोजिनोऽपि संसारोच्छित्तये प्रवर्त्तन्ते, ते तु भवता नाभ्युपगम्यन्ते, ते तु प्रावादुकाः पृथक् पृथक् स्वीयां स्वीयां दृष्टिं-प्रत्येकं स्वदर्शनं कीर्तयन्तः 'प्रादुष्कुर्वन्ति'-प्रकाशयन्ति। यदिवा श्लोकपश्चार्द्धमार्द्रककुमार आह-सर्वेऽपि प्रावादुका यथावस्थितं स्वदर्शनं प्रादुष्कुर्वन्ति, तत्प्रामाण्याच्च वयमपि स्वदर्शनाविर्भावनं कुर्मः, तथाहि-अप्रासुकेन बीजोदकादिपरिभोगेन कर्मबन्ध एव केवलं न संसारोच्छेद इतीद-मस्मदीयं दर्शनम्, एवं व्यवस्थिते काऽत्र परनिन्दा को वाऽऽत्मोत्कर्ष इति ॥११॥ किं च-'ते अण्णमण्णस्से'-त्यादि, 'ते'-प्रावादुकाः, 'अन्योऽन्यस्य'-परस्परेण तु स्वदर्शनप्रतिष्ठाशया परदर्शनं गर्हमाणाः स्वदर्शनगुणाना-चक्षते, तुशब्दात्परस्परतो व्याहतमनुष्ठानं चानुतिष्ठन्ति, ते च 'श्रमणा':-निर्ग्रन्थादयो, 'ब्राह्मणा':-द्विजातयः, सर्वेऽप्येते स्वकं पक्षं समर्थयन्ति परकीयं च दूषयन्ति। तदेव पश्चार्द्धेन दर्शयति-'स्वत' इति स्वकीये पक्षे स्वाभ्यु-

पममेऽस्ति पुण्य तत्कार्यं च स्वर्गापवर्गादिकमस्ति, अस्वतश्च–पराभ्युपगमाच्च नास्ति पुण्यादिकमित्येव सर्वेऽपि तीर्थिकाः परस्परव्याघातेन प्रवृत्ताः, अतो वयमपि यथावस्थिततत्त्वप्ररूपणतो युक्तिविकलत्वादेकान्तदृष्टिं 'गर्हामो' जुगुप्सामो–न चासावेकान्तो यथावस्थिततत्त्वाविर्भावको भवतीति, एवं च व्यवस्थिते तत्त्वस्वरूप वयमाचक्षाणा न कंचिद्गर्हामः काणकुण्टोद्घट्टनादिप्रकारेण, केवलं स्वपरस्वरूपाविर्भावनं कुर्मो, न च वस्तुस्वरूपाविर्भावने पराप वादः, तथा चोक्तम्–'नेत्रैर्निरीक्ष्य विलकण्टककीटसर्पान्, सम्यक् पथा व्रजति तान्परिहृत्य सर्वान्। कुज्ञानकु श्रुतिकुमार्गकुदृष्टिदोषान्, सम्यग्विचारयत कोऽत्र परापवादः ?॥ १॥" इत्यादि। यदिवैकान्तवादिनामेव–अस्त्येव नास्त्येव नित्यमेवानित्यमेव सामान्यमेव विशेषा एवेत्याद्यभ्युपगमवतामय–परस्परगर्हाख्यो दोषो, नास्माकमनेकान्तवादिनां, सर्वस्यापि सदसदादेः कथंचिदभ्युपगमात्। एतदेव लोकपथार्थेन दर्शयति–'स्वत' इति, स्वद्रव्य क्षेत्रकालभावैरस्ति तथा 'परत' इति परद्रव्यादिभिर्नास्तीत्येवं पराभ्युपगमं ब्रुवन्तो गर्हामोऽन्यानेकान्तवादिनः, तत्स्वरूपनिरूपणतस्तु रागद्वेषविरहाच्च किंचिद्गर्हाम इति स्थितम् ॥ १२ ॥ एतदेव स्पष्टतरमाह–न कञ्चन श्रमणं ब्राह्मण वा स्वरूपेण–जुगुप्सिताङ्गावयवोद्घट्टनेन वाऽस्या तल्लिङ्गग्रहणोद्घट्टनेन वा 'अभिधारयामो' गर्हणाबुद्ध्योद्घट्टयामः, केवल 'स्वदृष्टिमार्गं'–तदभ्युपगतं दर्शनं, 'प्रादुष्कुर्मः'–प्रकाशयामः, तद्यथा–" ब्रह्मा लूनशिरा हरिर्दृशि सरुग्व्यालुप्तशिश्नो हरः, सूर्योऽप्युल्लिखितोऽनलोऽप्यखिलभुक् सोमः कलङ्काङ्कितः। स्वर्नाथोऽपि विसंस्थुलः

१ मनुष्य प्र क्रियाऽभिन्नमतरे ब्राह्मणा। २ अन्यत्रापि।

खलु वपुःसंस्थैरुपस्थैः कृतः, सन्मार्गस्खलनाद्भवन्ति विपदः प्रायः प्रभूणामपि ॥ १ ” इत्यादि एतच्च तैरेव स्वागमे पापठ्यते वयं तु श्रोतारः केवलमिति । आर्द्रककुमार एव परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षसाधनार्थं श्लोकपश्चार्द्धेनाह–अयं 'मार्गः' पन्थाः सम्यग्दर्शनादिकः 'कीर्त्तितो'–व्यावर्णितः, कैः ?– 'आर्यैः'–सर्वज्ञैस्त्याज्यधर्मदूरवर्तिभिः, किंभूतो धर्मो ?–नास्मादुत्तरः–प्रधानो विद्यत इत्यनुत्तरः पूर्वापराव्याहतत्वाद्यथावस्थितजीवादिपदार्थस्वरूपनिरूपणाच्च, किंभूतैरार्यैः ?–सन्तश्च ते पुरुषाश्च सत्पुरुषास्तैश्चतुस्त्रिंशदतिशयोपेतैराविर्भूतसमस्तपदार्थाविर्भावकदिव्यज्ञानैः, किंभूतो मार्गो ?–'अंजू'–व्यक्तः निर्दोषत्वात्प्रकटः ऋजुर्वा वक्रैकान्तपरित्यागादकुटिल इति ॥ १३ ॥ पुनरपि सद्धर्मस्वरूपनिरूपणायाह–'उड्ढं अहेय'मित्यादि, ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्ष्वेवं सर्वास्वपि दिक्षु प्रज्ञापकापेक्षया भावदिगपेक्षया वा तासु ये त्रसा ये च स्थावराः प्राणिनः चशब्दौ स्वगतानेकभेदसंसूचकौ, 'भूतं'–सद्भूतं तथ्यं तत्राभिशङ्कया–तथ्यनिर्णयेन प्राणातिपातादिकं पातकं जुगुप्समानो गर्हमाणो वा यदिवा भूताभिशङ्कया प्राण्युपमर्दशङ्कया सर्वसावद्यमनुष्ठानं जुगुप्समानो नैवापरलोकं कञ्चन 'गर्हति'–निन्दति, 'वुसिमं'ति–संयमवानिति । तदेवं रागद्वेषवियुक्तस्य वस्तुस्वरूपाविर्भावने न काचिद्गर्हेति, अथ तत्रापि गर्हा भवति न तर्ह्युष्णोऽग्निः शीतमुदकं विषं मारणात्मकमित्येवमादि किञ्चिद्वस्तुरूपमाविर्भावनीयमिति ॥ १४ ॥ स एवं गोशालकमतानुसारी त्रैराशिको निराकृतो पुनरन्येन प्रकारेणाह—

आगंतगारे आरामगारे, समणे उ भीते ण उवेति वासं । दक्खा हु संती बहवे मणुस्सा,

ऊणातिरित्ता य लवालवा य ॥ १५ ॥ मेहाविणो सिक्खिय बुद्धिमंता, सुत्तेहि अत्थेहि य णिच्छयन्ना। पुच्छिंसु मा णे अणगार अन्ने, इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥ १६ ॥ णो कामकिच्चा, ण य बालकिच्चा रायाभिओगेण कुओ भएणं। वियागरेज्ज पसिणं नवावि, सकामकिच्चेणिह आरियाणं ॥ १७ ॥ गंता च तत्था अदुवा अगंता, वियागरेज्जा समियासुपन्ने। अणारिया दंसणओ परित्ता, इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥ १८ ॥ सू० ॥

स विप्रतिपन्नः सन्नार्द्रकमेवमाह—योऽसौ भवत्सम्बन्धी तीर्थंकरः स रागद्वेषभययुक्तः, तथाहि—असावागन्तुकानां—कार्पटिकादीनामगारमागन्त्वागारं तथाऽऽरामेऽगारमारामागारं तत्रासौ 'श्रमणो' भवत्तीर्थंकरः, तुशब्द एवकारार्थे, भीत एवासौ तदपध्वंसनभयात् 'तत्र'—आगन्त्वागारादौ, 'न वासमुपैति'—न तत्रासनस्थानशयनादिकाः क्रियाः कुरुते। किं तत्र भयकारणमिति चेदाह—'दक्षाः'—निपुणाः, प्रभूतशास्त्रविशारदाः, हुशब्दो यस्मादर्थे, यस्माद्बहवः सन्ति मनुष्याः तस्मादसौ तद्भीतो न वासं तत्र समुपैति—न तत्र वासमातिष्ठते। किंभूताः ?—'न्यूनाः'—सर्वेऽवमा हीना वाग्मिनोऽतिरिक्ता वा ताभ्यां पराजितस्य महांश्छायाभ्रंश इति। तानेव विशिनष्टि—लपन्तीति लपा—वाचालाः घोषितानकतर्कविचित्रदण्डकाः तथा अलपा—मौनव्रतिका निष्ठितयोगाः गुटिकादियुक्ता वा पद्मासनमिवोपविष्टा वागेव न प्रवर्तते तदाशङ्कयेनासौ युष्मत्तीर्थकृदागन्त्वागारादौ नैव व्रजतीति ॥ १५ ॥ पुनरपि गोशालक एवाह—'मेहाविणो' इत्यादि, मेधा विद्यते येषां ते मेधाविनो—ग्रहणधारणसमर्थाः,

तथाऽऽचार्यादेः समीपे शिक्षां ग्राहिताः शिक्षिताः तथौत्पत्तिक्यादिचतुर्विधबुद्धयुपेता बुद्धिमन्तः, तथा 'सूत्रे'–सूत्रविषये विनिश्चयज्ञाः तथा अर्थविषये च निश्चयज्ञा यथावस्थितसूत्रार्थवेदिन इत्यर्थः। ते चैवम्भूताः सूत्रार्थविषयं मा प्रश्नं कार्षुरन्येऽनगारा एके केचनेत्येवमसौ शङ्कमानः–तेषां बिभ्यन्न 'तत्र'–तन्मध्ये उपैति–उपगच्छतीति, ततश्च न ऋजुमार्गः, इति भययुक्तत्वात्तस्य, तथा म्लेच्छविषयं गत्वा न कदाचिद्धर्मदेशनां च करोति, आर्यदेशेऽपि न सर्वत्र अपितु क्वचिदेवेत्यतो विषमदृष्टित्वाद्रागद्वेषवर्त्यसाविति ॥ १६ ॥ एतद्गोशालकमतं परिहर्तुकाम आर्द्रक आह—स हि भगवान्प्रेक्षापूर्वकारितया नाकामकृत्यो भवति, कमनं कामः–इच्छा न कामोऽकामस्तेन कृत्यं–कर्तव्यं यस्यासावकामकृत्यः, स एवंभूतो न भवति, अनिच्छाकारी न भवतीत्यर्थः. यो ह्यप्रेक्षापूर्वकारितया वर्तते सोऽनिष्टमपि स्वपरात्मनोर्निरर्थकमपि कृत्यं कुर्वीत, भगवांस्तु सर्वज्ञः सर्वदर्शी परहितैकरतः कथं स्वपरात्मनोर्निरुपकारकमेवं कुर्यात्, तथा च बालस्येव कृत्यं यस्य स बालकृत्यो, न चासौ बालवदनालोचितकारी, न परानुरोधान्नापि गौरवाद्धर्मदेशनादिकं विधत्ते अपितु यदि कस्यचिद्भव्यसत्त्वस्योपकाराय तद्भाषितं भवति ततः प्रवृत्तिर्भवति, नान्यथा, तथा न राजाभियोगेनासौ धर्मदेशनादौ कथञ्चित्प्रवर्तते, ततः कुतस्तस्य भयेन प्रवृत्तिः स्यादित्येवं व्यवस्थिते केनचित्क्वचित्संशयकृतं प्रश्नं व्यागृणीयाद् यदि तस्योपकारो भवति, उपकारमन्तरेण 'न च'–नैव व्यागृणीयाद्, यदिवाऽनुत्तरसुराणां मनःपर्यायज्ञानिनां च द्रव्यमनसैव तन्निर्णयसंभवादतो न व्यागृणीयादित्युच्यते। यदप्युच्यते भवता–यदि वीतरागोऽसौ किमिति धर्मकथां करोतीति चेदि-

स्याद्यथाह–'स्वकामकृत्येन'–स्वेच्छाचारितयाऽसावपि तीर्थकृन्नामकर्मणः क्षपणाय न यथाकथंचिद्, अतोऽप्यावस्थानः 'इह'–अस्मिन्संसारे आर्यक्षेत्रे चोपकारयोग्ये, भाषाणां सर्वहेयधर्मदूरवर्तिनां सदुपकाराय धर्मदेशनां व्यागृणीयादसाविति ॥ १७ ॥ किंचान्यत्–'गंता'स्यादि, स हि भगवान् परहितैकरतो गत्वापि विनयासम्पन्नतयाऽप्यगत्वा यथा यथा भव्यसत्त्वोपकारो भवति तथा तथा भगवन्तोऽर्हन्तो धर्मदेशनां विदधति, उपकारे सति गत्वाऽपि कथयन्त्यसति तु स्थिता अपि न कथयन्तीत्यतो न तेषां रागद्वेषसंभव इति, केवल माशुप्रज्ञ–सर्वज्ञः 'समतया'–समदृष्टितया चक्रवर्तिद्रमकादिषु पृष्टोऽपृष्टो वा धर्मं व्यागृणीयात् 'जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ' इति वचनादित्यतो न रागद्वेषसद्भावस्तस्येति । यत्पुनरनार्यदेशमसौ न व्रजति तत्रेदमाह–अनार्याः क्षेत्रभाषाकर्मभिर्बहिष्कृता दर्शनतोऽपि परि–समन्तादितः–भ्रष्टाः भ्रष्टा इति–यावत् । तदे वमसौ भगवानित्येतेषु सम्यग्दर्शनमात्रमपि कथंचित भवतीत्याशङ्कमानस्तत्र न व्रजतीति । यदिवा–असिपरीत दर्शनाः–साम्प्रतेक्षिणो दीर्घदर्शिनो न भवन्त्यनार्याः शककयवनादयः, ते हि वर्तमानसुखमेकैकमङ्गीकृत्य प्रवर्तन्ते न पारलौकिकमङ्गीकुर्वन्त्यतः सद्धर्मपराङ्मुखेषु तेषु भगवान्न याति, न पुनस्तद्द्वेषादिबुद्ध्येति । यदप्युच्यते त्वया–'यथाऽन्यकलासविशारदगुरिकासिद्धविद्यासिद्धादितीर्थिकपराभवभयेन न तत्समाजे गच्छती'त्येतदपि बालप्रल पितप्राय, यतः सर्वज्ञस्य भगवतः समस्तैरपि प्रावादुकैर्मुखमप्यवलोकयितुं न शक्यते भावस्तु दूरोत्सादित एवे त्यतः कुतस्तत्पराभवः ?, भगवांस्तु केवलालोकेन यत्रैव स्वपरोपकारं पश्यति तत्रैव गत्वाऽपि धर्मदेशनां विधत्त

इति ॥ १८ ॥ पुनरन्येन प्रकारेण गोशालक आह—

पन्नं जहा वणिए उदयट्ठी, आयस्स हेउं पगरेति संगं। तऊवमे समणे नायपुत्ते, इच्चेव मे होति मती वियक्का ॥ १९ ॥ नवं न कुज्जा विहुणे पुराणं, चिच्चाऽमइं ताइ य साह एवं। एतोवया बंभवतित्ति वुत्ता, तस्सोदयट्ठी समणे त्ति बेमि ॥ २० ॥ समारभंते वणिया भूयगामं, परिग्गहं चेव ममायमाणा। ते णातिसंजोगमविप्पहाय, आयस्स हेउं पगरंति संगं ॥ २१ ॥ वित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा, ते भोयणट्ठा वणिया वयंति ॥ वयं तु कामेसु अज्झोववन्ना, अणारिया पेम्मरसेसु गिद्धा ॥ २२ ॥ आरंभगं चेव परिग्गहं च, अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा। तेसिं च से उदए जं वयासी, चउरंतणंताय दुहाय णेह ॥ २३ ॥ णेगंत णच्चंतिव ओदए सो, वयंति ते दो विगुणोदयंमि। से उदए सातिमणंतपत्ते, तमुदयं साहयइ ताइ णाई ॥ २४ ॥ अहिंसयं सव्वपयाणुकंपी, धम्मे ठियं कम्मविवेगहेउं। तमायदंडेहिं समायरंता, अबोहीए ते पडिरूवमेयं ॥ २५ ॥

यथा वणिक् कश्चिद् 'उदयार्थी'–लाभार्थी, 'पण्यं'–व्यवहारयोग्यं भाण्डं कर्पूरागरुकस्तूरिकाम्बरादिकं गृहीत्वा देशान्तरं गत्वा विक्रीणाति, तथा 'आयस्य'–लाभस्य 'हेतोः'–कारणान्महाजनसङ्गं विधत्ते, तदुपमोऽयमपि भवत्तीर्थङ्करः श्रमणो ज्ञातपुत्र इत्येवं 'मे' मम मतिर्भवति, वितर्को–मीमांसा वेति ॥ १९ ॥ एवमुक्ते गोशालकेनार्द्रक आह–'नवं न कुज्जा' इत्यादि, योऽयं भवता दृष्टान्त प्रदर्शितः स किं सर्वसाधर्म्येणोत

देवता !, यदि देवतस्ततो न नः कश्चिमावहति, यतो यथ्यिग्वत् यथैवोपचयं पश्यति तत्रैव क्रियां व्यापारयति न यथाकथश्चिदित्येतावता साधर्म्यमस्त्येव, अथ सर्वसाधर्म्येण तन्न युज्यते, यतो भगवान् विविक्तवेषतया सावद्यानुष्ठानरहितो ' मर्च '–मस्यम्न कर्म न कुर्यात्, तथा ' विधूनयति '–अपनयति पुरातनं पङ्कोपमादि कर्म बद्धं, तथा त्यक्त्वा ' अमर्ति '–विमर्ति ' त्रायी '–भगवान् सर्वस्य परित्राणशीलो, विमतिपरित्यागेन देवभूत एव भवतीति भावः, तायी वा मोक्षं प्रति, अयवयमयपयपयतयमय गतावित्यस्य रूप, स एव–भगवानेवाह–यथा विमतिपरित्यागेन मोक्षगमनशीलो भवतीत्येतावता च संदर्भेण ब्रह्मणो–मोक्षस्य व्रत मममतमित्येतदुक्तं, तस्मिन्मोक्षे तदर्थे चानुष्ठाने क्रियमाणे तस्योदयस्यार्थी–लाभार्थी अभय इति ब्रवीम्यहमिति ॥ २० ॥ न चैवभूता वणिज इत्येतदार्द्रककुमारो दर्शयितुमाह–ते हि वणिजश्चतुर्दशप्रकारमपि 'भूतग्रामं'–जन्तुसमूह 'समारभन्ते'–तदुपमर्दिकाः क्रियाः प्रवर्तयन्ति क्रयविक्रयार्थं शकटयानवाहनोष्ट्रमण्डलिकादिभिरनुष्ठानैरिति, तथा 'परिग्रह'–द्विपदचतुष्पदधनधान्यादिकं ' ममीकुर्वन्ति '–ममेदमित्येवं व्यवस्थापयन्ति, ते हि वणिजो ' ज्ञातिभिः '–स्वजनैः सह यः संयोगस्तम् ' अविप्रहाय '–अपरित्यज्य ' आयस्य '–लाभस्य ' हेतोः '–निमित्तादपरेण सार्द्धं ' सङ्ग ' संबन्धं कुर्वन्ति । भगवांस्तु षड्जीवरक्षापरोऽपरिग्रहस्त्यक्तस्वजनपक्षः सर्वत्राप्रतिबद्धो धर्मार्थं यद्य मन्वेषयन् तस्यापि धर्मदेशनां विधत्ते, अतो भगवतो वणिग्भिः सार्द्धं न सर्वसाधर्म्यमस्तीति ॥ २१ ॥ पुनरपि वणिजां दोषसद्भावमभ्याह–'वित्तेसिणो'इत्यादि, वित्त–द्रव्यं तदन्वेष्टुं शीलं येषां ते वित्तैषिणः, तथा 'मैथुने'–

'भोजनार्थम्'–आहारार्थं वणिज इतश्चेतश्च व्रजन्ति वदन्ति वा। स्त्रीसंपर्के 'संप्रगाढाः'–अध्युपपन्नाः, तथा ते 'भोजनार्थम्'–आहारार्थं वणिज इतश्चेतश्च व्रजन्ति वदन्ति वा। तांस्तु वणिजो वयमेवं ब्रूमो–यथैते कामेष्वध्युपपन्ना–गृद्धाः, अनार्यकर्मकारित्वादनार्या रसेषु च–सातागौरवादिषु गृद्धा–मूर्छिताः, न त्वेवंभूता भगवन्तोऽर्हन्तः, कथं तेषां तैः सह साधर्म्यमिति?, दूरत एव निरस्तैषा कथेति ॥ २२ ॥ किंचान्यत्–'आरम्भं'–सावद्यानुष्ठानं च तथा परिग्रहं च 'अव्युत्सृज्य'–अपरित्यज्य तस्मिन्नेवारम्भे क्रयविक्रयपचनपाचनादिके तथा परिग्रहे च–धनधान्यहिरण्यसुवर्णद्विपदचतुष्पदादिके निश्चयेन श्रिता–अवबद्धा निःश्रिता वणिजो भवन्ति, तथाऽऽत्मैव दण्डयतीति दण्डो येषां ते भवन्त्यात्मदण्डा असदाचारप्रवृत्तेरिति, भावोऽपि चैषां वणिजां परिग्रहारम्भवतां स उदयो लाभो यदर्थं ते प्रवृत्ताः यं च त्वं लाभं वदसि स तेषां 'चतुरन्तः'–चतुर्गतिको यः संसारोऽनन्तस्तस्मै–तदर्थं भवतीति, तथा दुःखाय च भवतीति, न चेहासावेकान्तेन तत्प्रवृत्तस्यापि भवतीति ॥ २३ ॥ एतदेव दर्शयितुमाह–'णेगंतिणच्चंति' इत्यादि, एकान्तेन भवतीत्येकान्तिकः, तथा न, लाभार्थं प्रवृत्तस्य विपर्ययस्यापि दर्शनात्, तथा नाप्यात्यन्तिकः सर्वकालभावी, तत्क्षयदर्शनात्, स तेषां उदयो–लाभोऽनैकान्तिकोऽनात्यन्तिकश्चेत्येवं तद्विदो वदन्ति। तौ च द्वावपि भावौ विगतगुणोदयौ भवतः, एतदुक्तं भवति–किं तेनोदयेन लाभरूपेण योऽनैकान्तिकोऽनात्यन्तिकश्च, यश्चानर्थायेति। यश्च भगवतः 'से'–तस्य दिव्यज्ञानप्राप्तिलक्षणः 'उदयो'–लाभो यो वा धर्मदेशनावाप्तनिर्जरालक्षणः स च सादिरनन्तश्च, तमेवं-भूतमुदयं प्राप्तो भगवानन्येषामपि तथाभूतमेवोदयं 'साधयति'–कथयति श्लाघते वा। किंभूतो भगवान्?–

'तायी अवयवपयमपचपतयमय मता 'वित्मस्य दण्डकधातोर्णिनिप्रत्यये रूप, मोक्षं प्रति गमनशील इत्यर्थः, त्रायी वा आसन्नभव्यानां त्राणकरणात्, तथा 'ज्ञाती'–ज्ञाताः–क्षत्रिया ज्ञात वा वस्तुजात विघत यस्य म ज्ञाती, विदितसमस्तवेद्य इत्यर्थः । तदेवभूतेन भगवता तेषां वणिजां निर्विवेकिनां कथ सर्वमाधर्म्यमिति ? ॥ २४ ॥ साम्प्रत देवकृतसमवसरणपद्मावलीदेवच्छन्दकसिंहासनाद्युपभोग कुर्वन्नप्याधाकर्मकृतवमतिनिषेवकसाधुवत्कथ तदनुमतिकृतेन कर्मणाऽसौ न लिप्यत इत्येतद्गोशालकमतमाशङ्क्याह–असौ भगवान् समवसरणाद्युपभोग कुर्वन्नप्यहिंसकः, स उपभोग करोति, एतदुक्त भवति–न हि तत्र भगवतो मनागप्याशंसा प्रतिबन्धो वा विद्यते, समतृणमणिमुक्ता लोष्टकाञ्चनतया तदुपभोग प्रति प्रवृत्तेः, देवानामपि प्रवचनोद्भिमात्रयिपूणां कथ नु नाम भव्यानां धर्माभिमुख प्रवृत्तिर्यथा स्यादित्येवमर्थमात्मलाभार्थं च प्रवर्तनात्ततोऽसौ भगवानहिंसकः, तथा सर्वेषां प्रमायन्त इति प्रज्ञा–वन्तस्वदनुकम्पी च तान्संसारे पर्यटतोऽनुकम्पते भगवान् तच्छीलश्च तमेवरूप 'धर्मे'–परमार्थभूते व्यवस्थित कर्मविवेकहेतुभूत भवद्विधा आत्मदण्डैः समाचरन्त–आत्मकल्प कुर्वन्ति वणिगादिभिरुदाहरणैः, एतदुक्तं भवति–अज्ञानस्य प्रतिरूप वर्तत, एकं तावदिदमज्ञान यत्स्वतः कुमार्गप्रवर्तन द्वितीय चैतत्प्रतिरूपमज्ञान यद्भगवतामपि जगद्वन्द्यानां सर्वातिशयनिधानभूतानामितरैः समत्वापादनमिति ॥ २५ ॥ साम्प्रतमार्द्रककुमारमपहस्तितगोशालकं ततो भगवदभिमुखं गच्छन्त तदन्तराले शाक्यपुत्रीया भिक्षव इदमूचुः—

1 आधाकर्मकृतवसतेर्निषेधो यस्य स आधाकर्मकृतवसतिनिषेवकः ।

पिन्नागपिंडीमवि विद्ध सूले, केइ पएज्जा पुरिसे इमेत्ति। अलाउयं वावि कुमारएत्ति, स लिप्पती पाणिवहेण अम्हं ॥ २६ ॥ अहवावि विद्धूण मिलक्खु सूले, पिन्नागबुद्धीइ नरं पएज्जा। कुमारगं वावि अलाबुयंति, न लिप्पइ पाणिवहेण अम्हं ॥ २७ ॥ पुरिसं च विद्धूण कुमारगं वा, सूलंमि केई पए जायतेए। पिन्नाय पिंडं सतिमारुहेत्ता, बुद्धाण तं कप्पति पारणाए ॥२८॥ सू० ॥

यदेतद्वणिग्दृष्टान्तदूषणेन बाह्यमनुष्ठानं दूषितं तच्छोभनं कृतं भवता यतोऽतिफल्गुप्रायं बाह्यमनुष्ठानं, आन्तरमेव त्वनुष्ठानं संसारमोक्षयोः प्रधानाङ्गम्, अस्मत्सिद्धांते चैतदेव व्यावर्ण्यते, इत्येतदार्द्रककुमार भो राजपुत्र! त्वमवहितः शृणु श्रुत्वा चावधारयेति भणित्वा ते भिक्षुका आन्तरानुष्ठानसमर्थकमात्मीयसिद्धान्ताविर्भावनायेद-माहुः-'पिन्नागे'त्यादि, 'पिण्याकः'-खलस्तस्य 'पिण्डिः'-भिन्नकं तदचेतनमपि सत् कश्चित् संभ्रमे म्लेच्छादिविषये केनचिन्नश्यता प्रावरणं खलोपरि प्रक्षिप्तं, तच्च म्लेच्छेनान्वेष्टुं प्रवृत्तेन पुरुषोऽयमिति मत्वा खलपिण्ड्या सह गृहीत, ततोऽसौ म्लेच्छो वस्त्रवेष्टितां तां खलपिण्डीं पुरुषबुद्ध्या शूले प्रोतां पावके पचेत्, तथा 'अलाबुकं'-तुम्बकं कुमारकोऽयमिति मत्वाऽग्नावेव पपाच, स चैवं चित्तस्य दुष्टत्वात्प्राणिवधजनितेन पातकेन लिप्यते अस्मत्सिद्धान्ते, चित्तमूलत्वाच्छुभाशुभबन्धस्येति, एवं तावदकुशलचित्तप्रामाण्यादकुर्वन्नपि प्राणातिपातं प्राणिघातफलेन युज्यते ॥ २६ ॥ अमुमेव दृष्टान्तं वैपरीत्येनाह-अथवापि सत्यपुरुषं खलबुद्ध्या कश्चिन्म्लेच्छः शूले प्रोतमग्नौ पचेत्, तथा कुमारकं च लाबुकबुध्याऽग्नावेव पचेत्, न चासौ प्राणिवधजनितेन पातकेन

स्फ्यतेऽस्माकमिति ॥ २७ ॥ किमन्यत्–'पुरिस'मित्यादि, पुरुषं वा कुमारकं वा विद्धा शूले कश्चित्पचेत् 'आसतेऽसि' यथानाम्ना खलपिण्डीयमिति मत्वा 'सती'–शोभनो, तदेतद्बुद्धानामपि 'पारणाय'–भोजनाय 'कल्पते'–योग्य भवति, किमुतापरेषाम् ?, एवं सर्वास्ववस्थास्वचिन्तित–मनसाऽसंकल्पितं कर्म बन्धं न गच्छत्यस्माकं सिद्धान्ते, तदुक्तम्–"अविज्ञानोपचितं परिज्ञानोपचितमीर्यापथिकं स्वप्नान्तिकं चेति कर्मोपचयं न याति" ॥ २८ ॥ पुनरपि शाक्य एव दानफलमधिकृत्याह–

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए भिक्खुयाणं । ते पुन्नखधं सुमहं जिणित्ता, भवंति आरोप्प महंतसत्ता ॥ २९ ॥ अजोगरूवं इह संजयाणं, पावं तु पाणाण पसज्झ काउं । अबोहिए दोण्हवि तं असाहु, वयंति जे यावि पडिस्सुणंति ॥ ३० ॥ उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, विन्नाय लिंगं तसथावराणं । भूयाभिसंकाइ दुगुंछमाणे, वदे करेज्जा व कुओ विहऽत्थी ? ॥ ३१ ॥ पुरिसेत्ति विन्नत्ति न एवमत्थि, अणारिए से पुरिसे तहा हु । को संभवो ? पिन्नगपिंडियाए, वायावि एसा बुइया असच्चा ॥ ३२ ॥ वायाभियोगेण जमावहेज्जा, णो तारिसं वायमुदाहरिज्जा । अट्ठाणमेयं वयणं गुणाणं, णो दिक्खिए बूय सुरालमेयं ॥ ३३ ॥ लद्धे अट्ठे अहो एव तुब्भे, जीवाणुभागे सुविचिंतिए व । पुव्वं समुद्दं अवरं च पुट्ठे, उलोइए पाणितले ठिए वा ॥ ३४ ॥ जीवाणुभागं सुविचिंतयंता, आहारिया अन्नविहीय सोहिं । न वियागरे छन्नपओपजीवि, एसोऽणुधम्मो इह

संजयाणं ॥ ३५ ॥ सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए नियए भिक्खुयाणं । असंजए लोहिय-
पाणि से ऊ, णियच्छति गरिहमिहेव लोए ॥ ३६ ॥

स्नातका-बोधिसत्त्वाः, तुशब्दात्पञ्चशिक्षापदिकादिपरिग्रहः, तेषां भिक्षुकाणां सहस्रद्वयं 'निजे' शाक्यपुत्रीये धर्मे व्यवस्थितः कश्चिदुपासकः पचनपाचनाद्यपि कृत्वा भोजयेत् समांसगुडदाडिमेनेष्टेन भोजनेन, ते पुरुषा महासत्त्वाः श्रद्धालवः पुण्यस्कन्धं महान्तं समावर्ज्य तेन च पुण्यस्कन्धेनारोप्याख्या देवा भवन्त्याकाशोपगाः(माः), सर्वोत्तमां देवगतिं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥ तदेवं बुद्धेन दानमूलः शीलमूलश्च धर्मः प्रवेदितः, तद् 'एहि' आगच्छ बौद्धसिद्धान्तं प्रतिपद्यस्वेत्येवं भिक्षुकैरभिहितः सन्नार्द्रकोऽनाकुलया दृष्ट्या तान्वीक्ष्योवाचेदं वक्ष्यमाणमित्याह—'अजोगरूव'मित्यादि, 'इह' अस्मिन् भवदीये शाक्यमते 'संयतानां'-भिक्षूणां यदुक्तं प्राक्तदत्यन्तेनायोग्यरूपम्-अघटमानकं, तथाहि-अहिंसार्थमुत्थितस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य पञ्चसमितिसमितस्य सतः प्रव्रजितस्य सम्यग्ज्ञानपूर्विकां क्रियां कुर्वतो भावशुद्धिः फलवती भवति, तद्विपर्यस्तमतेस्त्वज्ञानावृतस्य महामोहाकुलीकृतान्तरात्मतया खलपुरुषयोरपि विवेकमजानतः कुतस्त्या भावशुद्धिः ?, अतोऽत्यंतमसाम्प्रतमेतद्बुद्धमतानुसारिणां यत्खलबुद्ध्या पुरुषस्य शूलप्रोतनपचनादिकं, तथा बुद्धस्य पिन्नाकबुद्ध्या पिशितभक्षणानुमत्यादिकमिति । एतदेव दर्शयति-प्राणानाम्-इन्द्रियादीनामपगमेन तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्पापमेव कृत्वा रससातागौरवादिगृद्धास्तदभावं व्यावर्णयन्ति, एतच्च तेषां पापाभावव्यावर्णनम् 'अबोध्यै'-अबोधिलाभार्थं तयोर्द्वयोरपि

संपद्यत, अतोऽसावेवत् । कयोर्द्वयोरित्याह-य वदन्ति पिण्याकबुद्ध्या पुरुषपाकेऽपि पातकाभाव, ये च तेभ्यः शृण्वन्ति, एतयोर्द्वयोरपि वर्गयोरसाम्येवदिति । अपिच—नाज्ञानावृतमूढवने मात्रशुद्ध्या शुद्धिर्भवति, यदि च स्यात्तस्मारमोचकादीनामपि तर्हि कर्मविमोक्षः स्यात्, तथा भावशुद्धिमेव केवलामभ्युपगच्छतां मतरां शिर स्तुण्डमुण्डनपिण्डपातादिकं चैत्यकर्मादिक चानुष्ठानमनर्थकमापद्यते, तस्माभेवविधया भावशुद्ध्या शुद्धिरुपजायत इति स्थितम् ॥ ३० ॥ परपक्षं दूषयित्वाऽर्हकः स्वपक्षाविर्भावनायाह—ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु या दिशः प्रज्ञापकादि काम्नासु सर्वास्वपि दिक्षु त्रसानां स्थावराणां च जन्तूनां यत्त्रसस्थावरत्वेन जीवलिङ्ग—चलनस्पन्दनाङ्कुरोद्भवच्छे दम्लानादिक तद्विज्ञाय अतो 'भूताभिशङ्कया' जीवोपमर्दोऽत्र भविष्यतीत्येवंबुद्ध्या सर्वमनुष्ठान जुगुप्समानः- तदुपमर्दं परिहरन् वदेत् कुर्याद्यतः कुतोऽस्तीह—अस्मिमेवभूतेऽनुष्ठाने क्रियमाणे प्रोच्यमाने चाऽस्मत्पक्षे युष्मदापादितो दोष इति ॥ ३१ ॥ अधुना पिण्याक पुरुषबुद्ध्या असंभवमेव दर्शयितुमाह—'पुरिसे'त्यादि, तस्यां पिण्याकपिण्डयां पुरुषोऽयमित्येयमत्यन्तजडस्यापि विज्ञप्तिरव नास्ति, तस्माच एव वक्ति सोऽत्यन्त पुरुषस्तथा भ्युपगमेन दुःशब्दस्येवकारार्थत्वेन अनार्य एवासौ यः पुरुषमेव खलोऽयमितिमत्वा हतेऽपि नास्ति दोष इत्येव वदत्, तथाहि—कः संभवः पिण्याकपिण्ड्यां पुरुषबुद्धेरित्यतो वागपीयमीदृगसत्यति सत्त्वोपघातकत्वात्, ततश्च निःशङ्कप्रदर्पनालोचको निर्विवेकतया पच्यते, तस्मात्पिण्याककाष्ठादावपि प्रवर्तमानेन जीवोपमर्दभीरुणा साशङ्केन प्रवर्तितव्यमिति ॥ ३२ ॥ किञ्चान्यत्—वाचाऽभियोगो वागभियोगस्तेनापि 'यत्' यस्मादावहेत्पाप कर्म अतो

विवेकी भाषागुणदोषज्ञो न तादृशीं भाषामुदाहरेत्–नाभिदध्याद्, यत एवं ततोऽस्थानमेतद्वचनं गुणानां, न हि प्रव्रजितो यथावस्थितार्थाभिधायी एतद् 'उदारं'–सुष्ठु परिस्थूरं निःसारं निरुपपत्तिकं वचनं ब्रूयात्, तद्यथा–पिण्याकोऽपि पुरुषः पुरुषोऽपि पिण्याकः, तथाऽलाबुकमेव बालको बालक एव वाऽलाबुकमिति ॥ ३३ ॥ साम्प्रतमार्द्रककुमार एव तं भिक्षुकं युक्तिपराजितं सन्तं सोल्लुण्ठं बिभणिषुराह—'लद्धे'इत्यादि, अहो युष्माभिरथ–अनन्तरं एवंभूताभ्युपगमे सति लब्धोऽर्थो–विज्ञानं यथावस्थित तत्त्वमिति, तथाऽवगतः सुचिन्तितो भवद्भिर्जीवानामनुभागः–कर्मविपाकस्तत्पीडेति, तथैवंभूतेन–विज्ञानेन भवतां यशः पूर्वसमुद्रमपरं च स्पृष्टं, गतमित्यर्थः, तथा भवद्भिरेवंविधविज्ञानावलोकनेनावलोकितः पाणितलस्थ इवायं लोक इति अहो ! भवतां विज्ञानातिशयो यदुत–भवन्तः पिण्याकपुरुषयोर्बालालाबुकयोर्वा विशेषानभिज्ञतया पापस्य कर्मणो यथैतद्भावाभावं प्राकल्पितवन्त इति ॥ ३४ ॥ तदेवं परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षस्थापनायाह—मौनीन्द्रशासनप्रतिपन्नाः सर्वज्ञोक्तमार्गानुसारिणो जीवानामनुभागम्—अवस्थाविशेषं तदुपमर्दन पीडां वा सुष्ठु 'विचिन्तयन्तः'–पर्यालोचयन्तोऽन्नविधौ शुद्धिम् 'आहृतवन्तः' स्वीकृतवन्तो द्विचत्वारिंशद्दोषरहितेन शुद्धेनाहारेणाहारं कृतवन्तो न तु यथा भवतां पिशिताद्यपि पात्रपतितं न दोषायेति । तथा 'छन्नपदोपजीवी'–मातृस्थानोपजीवी सन् न व्यागृणीयाद् 'एषः'–अनन्तरोक्तोऽनु–पश्चाद्धर्मोऽनुधर्मस्तीर्थकरानुष्ठानादनन्तरं भवतीत्यनुना विशिष्यते, 'इह'–अस्मिन् जगति प्रवचने वा सम्यग्यतानां संयतानां–सत्साधूनां, न तु पुनरेवंविधो भिक्षूणामिति । यच्च भवद्भिरोदनादेरपि प्राण्यङ्गसमानतया

हेतुरूपतया मांसादिसाम्यस्य चोद्यते तदविज्ञाय लोकतीर्थान्तरीयमत, तथाहि—प्राण्यङ्गत्वे तुल्येऽपि किञ्चिन्मांसं किञ्चिदामांसमित्येवं व्यवह्रियते, यथा—गोक्षीररुधिरादेर्भक्ष्याभक्ष्यव्यवस्थितिः, तथा समानेऽपि स्त्रीत्वे भार्या स्वस्रादौ गम्यागम्यव्यवस्थितिरिति। तथा शुष्कतर्कदक्षा योऽयं प्राण्यङ्गत्वादिति हेतुर्भवद्भिरुपन्यस्यते तद्यथा—'भक्षणीय मभवेन्मांसं, प्राण्यङ्गत्वेन हेतुना। ओदनादिवदित्येवं, कश्चिदाहातितार्किकः ॥ १ ॥' सोऽसिद्धानैकान्तिकविरुद्ध दोषदुष्टत्वादपकर्णनीयः, तथाहि—निरंशत्वाद्वस्तुनस्तदेव मांसं तदेव च प्राण्यङ्गमिति प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धः, तद्यथा—नित्यः शब्दो नित्यत्वात्, अथ भिन्नं प्राण्यङ्गं ततः सुतरामसिद्धो व्यधिकरणत्वात्, यथा देवदत्तस्य गृहं काकस्य कार्ष्ण्यात्, तथाऽनैकान्तिकोऽपि श्वादिमांसस्याभक्ष्यत्वात्, अथ तदपि कश्चिदक्षदाविरकैयाश्चिक्रूरस्य भिति चेदेवं च सस्यस्थ्यादेरभक्ष्यत्वादनैकान्तिकत्व, तथा विरुद्धाव्यभिचार्यपि, यथाऽयं हेतुर्मांसस्य भक्ष्यत्व साधयत्येवं कुक्कुरास्थ्नामभक्ष्यत्वमपि। तथा लोकविरोधिनी चेयं प्रतिज्ञा, मांसौदनयोरसाम्याद्दृष्टान्तविरोधमत्येव व्यवस्थिते यदुक्तं प्राग् यथा कुक्कुरानामपि पारणाय कल्पत एतदिति, तदसाम्प्रतमिति स्थितम् ॥ २५ ॥ अन्यदपि भिक्षुलोकमार्गकुमारोऽन्त्य दूषयितुमाह—'सिणायगाणं तु' इत्यादि, 'स्नातकानां' बोधिसत्त्वकल्पानां भिक्षूणां नित्यं यः सहस्रद्वयं भोजयेदित्युक्तं प्राक् तद्दूषयति—असंयतः सन् रुधिरक्लिन्नपाणिरनार्य इव 'गर्हां' निन्दां जुगुप्साद्वीं साधुजनानामिहलोक एव नियमेन गच्छति परलोके चानार्यगम्यां गतिं यातीति ॥ २६ ॥ एवं तावत्सावद्यानुष्ठानानुमन्तृणामपात्रभूतानां पदान तत्कर्मबन्धायेत्युक्तं, किंचान्यत्—

थूलं उरब्भं इह मारियाणं, उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पएत्ता। तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता, सपिप्पलीयं पगरंति मंसं ॥ ३७ ॥ तं भुंजमाणा पिसितं पभूतं, णो उवलिप्पामो वयं रएणं। इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मा, अणारिया बाल रसेसु गिद्धा ॥ ३८ ॥ जे यावि भुंजंति तहप्पगारं, सेवंति ते पावमजाणमाणा। मणं न एयं कुसला करेंती, वायावि एसा बुइया उ मिच्छा ॥ ३९ ॥ सव्वेसि जीवाण दयट्ठयाए, सावज्जदोसं परिवज्जयंता। तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति ॥ ४० ॥ भूयाभिसंकाएँ दुगुंछमाणा, सव्वेसि पाणाण निहाय दंडं। तम्हा ण भुंजंति तहप्पगारं, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥ ४१ ॥ निग्गंथधम्मंमि इमं समाहिं, अस्सिं सुठिच्चा अणिहे चरेज्जा। बुद्धे मुणी सीलगुणोववेए, अच्चत्थतं(ओ) पाउणती सिलोगं ॥ ४२ ॥

आर्द्रकुमार एव तन्मतमाविष्कुर्वन्निदमाह, 'स्थूलं'—बृहत्कायमुपचितमांसशोणितमुरभ्रम्—ऊरणकमिह—शाक्यशासने भिक्षुकसंघोद्देशेन 'व्यापाद्य'—घातयित्वा तथोद्दिष्टभक्तं च प्रकल्पयित्वा-विकर्त्य वा तमुरभ्रं तन्मांसं च लवणतैलाभ्यामुपस्कृत्य पाचयित्वा सपिप्पलीकमपरसंस्कारकद्रव्यसमन्वितं प्रकर्षेण भक्षणयोग्यं मांसं कुर्वन्तीति ॥ ३७ ॥ संस्कृत्य च यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयितुमाह—'तं भुंजमाणा' इत्यादि, 'तत्'—पिशितं शुक्रशोणितसंभूतमनार्या इव भुञ्जाना अपि प्रभूतं तद्रजसा-पापेन कर्मणा न वयमुपलिप्यामह इत्येवं धार्ष्ट्योपेताः प्रोचुः अनार्याणामिव धर्मः-स्वभावो येषां ते तथा अनार्यकर्मकारित्वादनार्या बाला इव बाला विवेकरहितत्वाद्रसेषु

च—मांसादिकेषु 'गृद्धाः'—अभ्युपपन्नाः ॥१८॥ इत्येवञ्च तेषां महतेऽनर्थायेति दर्शयति—ये चापि रसगौरवगृद्धाः
शाक्योपदेशवर्तिनस्तथाप्रकारं स्थूलोरभ्रसंभूतं घृतलवणमरिचादिसंस्कृतं पिशितं 'भुञ्जते'—भक्षयन्ति तेऽनार्या
'पापं' कल्मषमजानाना निर्विवेकिनः सेवन्ते' आददते, तथा चोक्तम्—"हिंसामूलममेध्यमास्पदमलं ध्यानस्य
रौद्रस्य यद्बीभत्सं रुधिराविलं कृमिगृहं दुर्गन्धि पूयादिमम्। शुक्रासृक्प्रभवं नितान्तमलिनं सद्भिः सदा निन्दितं,
को भुङ्क्ते नरकाय राक्षससमो मांसं तदात्मद्रुहः ॥१॥" अपि च—"मां स भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं, प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ २ ॥" तथा। "योऽत्ति यस्य च तन्मांसमुभयोः पश्यतान्तरम्।
एकस्य क्षणिका तृप्तिरन्यः प्राणैर्वियुज्यते ॥ ३ ॥" (ग्रन्थाग्रं १२०००) तदेवं महादोषं मांसादनमिति मत्वा
यद्विधेयं तद्दर्शयति—तदेवंभूतं मांसादनाभिलाषरूपं मनः—अन्तःकरणं, 'कुशलाः'—निपुणाः, मांसाशित्वविपाक
वेदिनस्तदभिमुखविगुणाभिप्रायं न कुर्वन्ति, तदभिलाषात् मनो निवर्तयन्तीत्यर्थः, आस्तां तावद्भक्षणं, वागप्येषा
यथा 'न मांसभक्षणे दोषः' इत्यादिका भारत्यप्यभिहिता—उक्ता मिथ्या, तुशब्दान्मनोऽपि तदनुमत्यादौ न
विधेयमिति, तद्विरतौ चैहैवानुपमा श्लाघाऽमुत्र च स्वर्गापवर्गगमनमिति, तथा चोक्तम्—"श्रुत्वा दुःखपरम्परामति
घृणां मांसाशिनां दुर्गतिं, ये कुर्वन्ति शुभोदयेन विरतिं मांसादनस्यादरात्। सदीर्घायुरदूषितं गदरुजा संभाव्य
यास्यन्ति ते, मर्त्येषूद्भटभोगधर्ममतिषु स्वर्गापवर्गेषु च ॥ २ ॥" इत्यादि ॥ १९ ॥ न केवलं मांसादनमेव
परिहार्यम्, अन्यदपि मुमुक्षुणा परिहर्तव्यमिति दर्शयितुमाह—'सव्वेसिं'मित्यादि, सर्वेषां जीवानां

प्राणार्थिनां, न केवलं पञ्चेन्द्रियाणामेवेति सर्वग्रहणं, 'दयार्थतया'—दयानिमित्तं सावद्यमारम्भं महानयं दोष इत्येवं मत्वा तं परिवर्जयन्तः साधवस्तच्छंकिनो-दोषशङ्किनः 'ऋषयो'—महामुनयो, 'ज्ञातपुत्रीयाः'—श्रीमन्महावीरवर्द्धमानशिष्याः, 'उद्दिष्टं'—दानाय परिकल्पितं यद्भक्तपानादिकं तत्परिवर्जयन्ति ॥ ४० ॥ किञ्च-'भूतानां' जीवानां उपमर्दशङ्कया सावद्यमनुष्ठानं 'जुगुप्समानाः'—परिहरन्तः, तथा सर्वेषां प्राणिनां दण्डयतीति दण्डः-समुपतापस्तं 'निधाय'—परित्यज्य सम्यगुत्थानेनोत्थिताः सत्साधवो-यतयस्ततो न भुञ्जते तथाप्रकारमाहारमशुद्धजातीयम् एषोऽनुधर्मः 'इह'—अस्मिन् प्रवचने 'संयतानां'—यतीनां, तीर्थकराचरणादनु-पश्चाच्चर्यत इत्यनुना विशेष्यते, यदिवाऽणुरिति स्तोकेनाप्यतिचारेण बाध्यते शिरीषपुष्पमिव सुकुमार इत्यतोऽणुना विशेष्यत इति ॥ ४१ ॥ किंचान्यत्-'णिग्गंथधम्म'मित्यादि, नास्मिन्मौनीन्द्रधर्मे बाह्याभ्यन्तररूपो ग्रन्थोऽस्यास्तीति निर्ग्रन्थः स चासौ धर्मश्च निर्ग्रन्थधर्मः स च श्रुतचारित्राख्यः क्षान्त्यादिको वा सर्वज्ञोक्तस्तस्मिन्नेवंभूते धर्मे व्यवस्थितः 'इमं'—पूर्वोक्तं समाधिमनुप्राप्तः अस्मिंश्चाशुद्धाहारपरिहाररूपे समाधौ सुष्ठु-अतिशयेन स्थित्वा 'अनिहः'—अमायोऽथवा निहन्यत इति निहो न निहोऽनिहः-परीषहैरपीडितो यदिवा 'ष्णिह बंधने' अस्निह इति स्नेहरूपबन्धनरहितः संयमानुष्ठानं चरेत्, तथा बुद्धोऽवगततत्त्वो 'मुनिः'—कालत्रयवेदी, 'शीलेन'—क्रोधाद्युपशमरूपेण 'गुणैश्च'-मूलोत्तरगुणभूतैरुपपेतो-युक्त इत्येवं-गुणकलितोऽत्यर्थतां(तः)-सर्वगुणातिशायिनीं सर्वद्वन्द्वोपरमरूपां संतोषात्मिकां 'श्लाघां'—प्रशंसां लोके लोकोत्तरे वाऽऽप्नोति, तथा चोक्तम्-

" राजानं तृणतुल्यमेव मनुते शक्रोऽपि नैवादरो, वित्तोपार्जनरक्षणव्ययकृताः प्राप्नोति नो वेदनाः । संसारान्तरवर्त्यपीह लभते शं मुक्तवन्निर्भयः, संतोषात्पुरुषोऽमृतत्वमचिरात्यायात्सुरेन्द्रार्चितः ॥ १ ॥ " इत्यादि ॥ ४२ ॥

तदेवमार्द्रककुमारं निराकृतगोशालकाजीवकमतमभिसमीक्ष्य साम्प्रतं द्विजातयः प्रोचुः, तद्यथा-भो आर्द्रककुमार ! शोभनमकारि भवता यदेते वेदबाह्ये द्वे अपि मते निरस्ते, तत्साम्प्रतमेतदप्यार्हतं वेदबाह्यमेवातस्तदपि नाभ्युपगन्तुं भवद्विधानां, तथाहि-भवान् क्षत्रियवरः, क्षत्रियाणां च सर्ववर्णोत्तमा ब्राह्मणा एवोपास्या न शूद्राः, अतो यागादिविधिना ब्राह्मणस्यैव युक्तिमतीत्येतत्प्रतिपादनायाह—

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए माहणाणं । ते पुन्नखंधे सुमहऽज्जणित्ता, भवंति देवा इति वेयवाओ ॥ ४३ ॥ सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए कुलालयाणं । से गच्छति लोलुवसंपगाढे, तिव्वाभितावी णरगाभिसेवी ॥ ४४ ॥ दयावरं धम्म दुगंछमाणा, वहावहं धम्म पसंसमाणा । एगंपि जे भोययती असीलं, णिवो णिसं जाति कुओ सुरेहिं ? ॥४५॥ दुहओवि धम्ममि समुट्ठियामो, अस्सिं सुट्ठिच्चा तह एसकालं । आयारसीले वुइएह नाणी, ण संपरायंमि विसेसमत्थि ॥ ४६ ॥

तुशब्दो विशेषणार्थः, षट्कर्माभिरता वेदाध्यापका शौचाचारपरतया नित्यं स्नायिनो ब्रह्मचारिणः स्नातकास्तेषां सहस्रद्वयं नित्यं ये भोजयेयुः कामिकाहारेण ते समुपार्जितपुण्यस्कन्धाः सन्तो देवाः स्वर्गनिवासिनो

भवन्तीत्येवंभूतो वेदवाद इति ॥ ४३ ॥ अधुनाऽऽर्द्रककुमार एतद्दूषयितुमाह–'सिणायगाणं तु'इत्यादि, स्नातकानां सहस्रद्वयमपि नित्यं ये भोजयन्ति, किंभूतानां ?–कुलानि–गृहाण्यामिषान्वेषणार्थिनो नित्यं येऽटन्ति ते कुलाटाः–मार्जाराः कुलाटा इव कुलाटा ब्राह्मणाः, यदिवा–कुलानि–क्षत्रियादिगृहाणि तानि नित्यं पिण्डपातान्वेषिणां परतर्कुकाणामालयो येषां ते कुलालयास्तेषां–निन्द्यजीविकोपगतानामेवंभूतानां स्नातकानां यः सहस्रद्वयं भोजयेत्सोऽसत्पात्रनिक्षिप्तदानो गच्छति वहुवेदनासु गतिषु । किंभूतः सन् ?–'लोलुपैः' आमिषगृद्धै ९
रससातागौरवाद्युपपन्नैः जिह्वेन्द्रियवशगैः संप्रगाढो–व्याप्तो, यदिवा किंभूते नरके याति ?–लोलुपैः–आमिषगृध्नुभिरसुमद्भिर्व्याप्तो यो नरकस्तस्मिन्निति, किंभूतश्चासौ दाता नरकाभिसेवी भवति तद्दर्शयति–तीव्रः–असह्यो योऽभितापः–क्रकचपाटनकुम्भीपाकतप्तत्रपुपानशाल्मल्यालिङ्गनादिरूपः स विद्यते यस्यासौ स तीव्राभितापी·त्येवंभूतवेदनाभितप्तस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावदप्रतिष्ठाननरकाधिवासी भवतीति ॥ ४४ ॥ अपिच–दया–प्राणिषु कृपा तया वरः–प्रधानो यो धर्मस्तमेवंभूतं धर्मं 'जुगुप्समानो'–निन्दन् तथा वधं–प्राण्युपमर्दमावहतीति वधावहस्तं तथाभूतं धर्मं 'प्रशंसन्'–स्तुवन् एकमप्यशीलं–निश्शीलं निर्व्रतं षड्जीवकायोपमर्देन यो १०
भोजयेत्, किं पुनः प्रभूतान् ?, नृपो राजन्यो वा यः कश्चिन्मूढमतिर्धार्मिकं आत्मानं मन्यमानः, स वराको निशेव नित्यान्धकारत्वान्निशा–नरकभूमिस्तां याति, कुतस्तस्यासुरेष्वपि–अधमदेवेष्वपि प्राप्तिरिति ? । तथा कर्मवशादसुमतां विचित्रजातिगमनाज्जातेरशाश्वतत्वमतो न जातिमदो विधेय इति । यदपि कैश्चिदुच्यते–यथा

'ब्राह्मणा ब्रह्मणो मुखाद्विनिर्गता बाहुभ्यां क्षत्रिया ऊरुभ्यां वैश्याः पद्भ्यां शूद्राः' इत्येतदप्यप्रमाणत्वादतिफल्गुप्रायं, तदभ्युपगमे च न विशेषो वर्णानां स्यात्, एकस्मात्प्रसूतेर्वृक्षशाखाप्रतिशाखासम्भूतपनसोदुम्बरादिफलवत्, ब्रह्मणो वा मुखादेरवयवानां चातुर्वर्ण्यावाप्तिः स्यात्, न चैतदिष्यते भवद्भिः, तथा यदि ब्राह्मणादीनां ब्रह्मणो मुखादेरुद्भवः साम्प्रतं किं न जायते ?, अथ युगादावेतदिति एवं च सति दृष्टहानिरदृष्टकल्पना स्यादिति । तथा यदपि कैश्चिदभ्यधायि सर्वज्ञनिक्षेपावसरे, तद्यथा—सर्वज्ञरहितोऽतीतः कालः कालत्वाद्वर्तमानकालवत्, एवं च अस्त्वेतदपि वक्ष्यते यत्तु यथा—नातीतः कालो ब्रह्ममुखादिविनिर्गतचातुर्वर्ण्यसमन्वितः कालत्वाद्वर्तमानकालवत्, भवति च विशेषे पक्षीकृते सामान्य हेतुरित्यतः प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धता नाशङ्कनीयेति । जातेश्चानित्यत्व युष्मत्सिद्धान्त एवाभिहितं, तद्यथा—'शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते' इत्यादिना, तथा 'सद्यः पतति मांसेन, लाक्षया लवणेन च । त्र्यहेण शूद्रीभवति, ब्राह्मणः क्षीरविक्रयी ॥ १ ॥' इत्यादि, परलोके चावश्यभावी जातिपातः, यत उक्तम्—"कायिकैः कर्मणां दोषैर्याति स्थावरतां नरः । वाचिकैः पक्षिमृगतां, मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ १ ॥" इत्यादि, गुणैरप्येवंविधैर्न ब्राह्मणत्वं युज्यते, तद्यथा—" षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ १ ॥" इत्यादि, वेदोक्तत्वान्नायं दोष इति चेत् नन्विदमभिहितमेव—'न हिंस्यात्सर्वभूतानी'त्यतः पूर्वापरविरोधः, तथा "आततायिनमायान्तमपि वेदान्तगं रणे । जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥ १ ॥" तथा 'शूद्रं हत्वा प्राणायामं जपेत् जपहविषं वा कुर्यात् यत्किञ्चिद्दद्या

दद्यात्, ' तथा 'अनस्थिजन्तूनां शकटभरं मारयित्वा ब्राह्मणं भोजयेद्' इत्येवमादिका देशना विद्वज्जनमनांसि न रञ्जयतीत्यतोऽत्यर्थमसमञ्जसमिव लक्ष्यते युष्मद्दर्शनमिति । तदेवमार्द्रककुमारं निराकृतब्राह्मणविवादं भगवदन्तिकं गच्छन्तं दृष्ट्वा एकदण्डिनोऽन्तराले एवोचुः, तद्यथा—भो आर्द्रककुमार! शोभनं कृतं भवता यदेते सर्वारम्भप्रवृत्ता गृहस्थाः शब्दादिविषयपरायणाः पिशिताशनेन राक्षसकल्पा द्विजातयो निराकृताः, तत्साम्प्रतमस्मत्सिद्धान्तं शृणु श्रुत्वा चावधारय, तद्यथा—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थाप्रकृतिः, प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकस्तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि, तथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमित्येतच्चार्हतैरप्याश्रितम्, अतः पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानादेव मोक्षावाप्तिरित्यतोऽस्मत्सिद्धान्त एव श्रेयान्नापर इति ॥ ४५ ॥ तथा न युष्मत्सिद्धान्तोऽतिदूरेण भिद्यत इत्येद्दर्शयितुमाह—'दुहओऽवी'त्यादि, योऽयमस्मद्धर्मो भवदीयश्चार्हतः स उभयरूपोऽपि कथञ्चित्समानः, तथाहि—युष्माकमपि जीवास्तित्वे सति पुण्यपापबन्धमोक्षसद्भावो न लोकायतिकानामिव तदभावे प्रवृत्तिः नापि बौद्धानामिव सर्वाधारभूतस्यान्तरात्मन एवाभावः, तथाऽस्माकमपि पञ्च यमाः अहिंसादयो भवतां च त एव पञ्च महाव्रतरूपाः, तथेन्द्रियनोइन्द्रियनियमोऽप्यावयोस्तुल्य एव, तदेवमुभयस्मिन्नपि धर्मे बहुसमाने सम्यगुत्थानोत्थिता यूयं वयं च तस्माद्धर्मे सुष्ठु स्थिताः पूर्वस्मिन् काले वर्तमाने एष्ये च यथागृहीतप्रतिज्ञानिर्वोढारो, न पुनरन्ये, यथा व्रतेश्वरयागविधानेन प्रव्रज्यां मुक्तवन्तो मुञ्चन्ति मोक्षन्ति चेति, तथाऽऽचारप्रधानं शीलमुक्तं यमनियमलक्षणं न फल्गु कल्ककुहकाजीवनरूपम् अथानन्तरं ज्ञानं च मोक्षाङ्गतयाऽभिहितं, तच्च

श्रवमान केवलस्य च ययास्वभावयोर्दर्शने प्रसिद्ध तथा संपर्य्यन्ते—स्वकर्मभिर्भ्राम्यन्ते प्राणिनो यस्मिन्स संपरायः-संसारस्तस्मिन्भावयोर्न विशेषोऽस्ति, तथाहि—यथा भवतां कारणे कार्यं नैकान्तेनासदुत्पद्यते अस्माकमपि तथैव, द्रव्यात्मतया नित्यत्व भवद्भिरप्यभ्युपगतमेव, तयोत्पादविनाशावपि युष्मदभिप्रेतावाविर्भावतिरोभावाश्रयाद स्माकमपीति ॥ ४६ ॥ पुनरपि त एवैकदण्डिनः सांसारिकजीवपदार्थसाम्योपादनायाहुः—

अव्यत्तरूव पुरिस महत, सणातण अक्खयमव्वय च। सव्वेसु भूतेसुवि सव्वतो से, चंदो व ताराहिं समत्तरूवे ॥४७॥ एवं ण मिज्जति ण संसरती, ण माहणा खत्तिय वेस पेसा। कीडा य, पक्खी य, सरीसिवा य, नरा य सव्वे तह देवलोगा ॥ ४८ ॥

पुरि शयनात्पुरुषो—जीवस्त यथा भवन्तोऽभ्युपगतवन्तस्तथा वयमपि, तमेव विशिनष्टि—अमूर्तत्वादव्यक्त रूप—स्वरूपमस्याशावव्यक्तरूपः त, करचरणशिरोग्रीवाद्यवयवतया स्वतोऽनवस्थानात्, तथा 'महान्तं'—लोक व्यापिनं, तथा 'सनातनं'—शाश्वत द्रव्यार्थतया नित्य, नानाविधगतिसंभवेऽपि चैतन्यलक्षणात्मस्वरूपस्याप्रच्युतेः, तथा 'अक्षय'—केनचित्प्रदेशानां खण्डशः कर्तुमशक्यत्वात्, तथा 'अव्ययम्'—अनन्तेनापि कालेनैकस्यापि तत्प्रदेशस्य व्ययाभावात्, तथा सर्वेष्वपि भूतेषु कायाकारपरिणतेषु प्रतिशरीरं सर्वतः सामस्त्याभिसंबन्धाद सावात्मा सम्भवति, क इव?—'चन्द्र इव'—शशीव, 'ताराभिः'—अश्विन्यादिभिर्नक्षत्रैः यथा 'समस्तरूपः'—संपूर्णः

१ यदस्माकमव्यक्तं विशेषणं तदपेक्षया अभ्युपगमापेक्षया।

संबन्धमुपयाति एवमसावपि आत्मा प्रत्येकं शरीरैः सह संपूर्णः संबन्धमुपयाति । तदेवमेकदण्डिभिर्दर्शनसाम्यापादनेन सामवादपूर्वकं स्वदर्शनारोपणार्थमार्द्रककुमारोऽभिहितो, यत्रैतानि संपूर्णानि-निरुपचरितानि पूर्वोक्तानि विशेषणानि धर्मसंसारयोर्विद्यन्ते स एव पक्षः सश्रुतिकेन समाश्रयितव्यो भवति । एतानि चास्मदीय एव दर्शने यथोक्तानि सन्ति, नाऽऽर्हते, अतो भवताऽप्यस्मद्दर्शनमेवाभ्युपगन्तव्यमिति ॥ ४७ ॥ तदेवमभिहितः सन्नार्द्रककुमारस्तदुत्तरदानायाह-'एव'मित्यादि, यदिवा प्राक्तनः श्लोकः 'अव्वत्तरूव'मित्यादिको वेदान्तवाद्यात्माद्वैतमतेन व्याख्यातव्यः, तथाहि-ते एकमेवाव्यक्तं पुरुषम्-आत्मानं महान्तमाकाशमिव सर्वव्यापिनं सनातनम् अनन्तमक्षयमव्ययं सर्वेष्वपि भूतेषु-चेतनाचेतनेषु सर्वतः-सर्वात्मतयाऽसौ स्थित इत्येवमभ्युपगतवन्तो, यथा सर्वास्वपि तारास्वेक एव चन्द्रः संबन्धमुपयात्येवमसावपीति । अस्य चोत्तरदानायाह-'एव'मित्यादि, 'एव'मिति यथा भवतां दर्शने एकान्तेनैव नित्योऽविकार्यात्माऽभ्युपगम्यते इत्येवं पदार्थाः सर्वेऽपि नित्याः, तथा च सति कुतो बन्धमोक्षसद्भावः ?, बन्धाभावाच्च न नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणश्चतुर्गतिकः संसारः, मोक्षाभावाच्च निरर्थकं व्रतग्रहणं भवतां पञ्चरात्रोपदिष्टयमनियमप्रतिपत्तिश्चेति, एवं च यदुच्यते भवता-यथा 'आवयोस्तुल्यो धर्म' इति, तदयुक्तमुक्तं, तथा संसारान्तर्गतानां च पदार्थानां न साम्यं, तथाहि-भवतां द्रव्यैकत्ववादिनां सर्वस्य प्रधानाद् भिन्नत्वात्कारणमेवास्ति, कार्यं च कारणाभिन्नत्वात्सर्वात्मना तत्र विद्यते, अस्माकं च द्रव्यपर्यायोभयवादिनां कारणे कार्यं द्रव्यात्मतया विद्यते न पर्यायात्मकतया, अपि च-अस्माकमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमेव सदित्युच्यते,

भवतो तु धौम्यमुक्तमेव सदिति, यावच्चाविर्भावतिरोभावौ भवतोऽप्येते तावपि नोत्पादविनाशावन्तरेण भवितुमुत्सहेते, तदेवमैहिकामुष्मिकयोरपि न्यायाभावयोर्न कथञ्चित्साम्यं । किंच-सर्वव्यापित्वे सत्यात्मनामविकारित्वे चात्माद्वैते चाभ्युपगम्यमाने नारकतिर्यङ्नरामरभेदेन बालकुमारसुभगदुर्भगाढ्यदरिद्रादिभेदेन च न भीयेरन्-न परिच्छिद्येरन्, नापि स्वकर्मचोदिता नानागतिषु संसरन्ति, सर्वव्यापित्वादेकत्वाच्च, तथा न ब्राह्मणा न क्षत्रिया न वैश्या न प्रेष्या-न शूद्रा नापि कीटपक्षिसरीसृपाश्च भवेयुः, तथा नराश्च सर्वेऽपि देवलोकाभेस्येव नानागतिभेदेन न भिद्येरन् अतो न सर्वव्यापी आत्मा, नाप्यात्माद्वैतवादो न्यायान्, यतः प्रत्येकं सुखदुःखानुभवः समुपलभ्यते, तथा शरीरत्वक्पर्यन्तमात्र एवात्मा, तत्रैव तद्गुणविज्ञानोपलब्धेरिति स्थितम्, तदेवं व्यवस्थिते पुण्यपापमो यथार्थाभिधायी न भवति, असर्वज्ञप्रणीतत्वात्, असर्वज्ञप्रणीतस्य चैकान्तपक्षसमाश्रयणादिति ॥ ४९ ॥ एवमसर्वज्ञस्य मार्गोद्भावने दोषमाविर्भावयन्नाह—

लोयं अयाणित्तिह केवलेणं, कहंति जे धम्ममजाणमाणा । णासंति अप्पाण परं च णट्ठा, संसार घोरम्मि अणोरपारे ॥ ४९ ॥ लोयं विजाणंतिह केवलेण, पुन्नेण नाणेण समाहिजुत्ता । धम्मं समत्तं च कहंति जे उ, तारंति अप्पाण परं च तिन्ना ॥ ५० ॥

'लोकं' चतुर्दशरज्ज्वात्मकं चराचरं वा लोकमज्ञात्वा केवलेन दिव्यज्ञानावभासेन 'इह' अस्मिन् जगति ये तीर्थिका 'अजानाना' अविद्वांसो 'धर्मं' दुर्गतिगमनमार्गस्यार्गलाभूतं 'कथयन्ति' प्रतिपादयन्ति ते स्वतो नष्टा

अपरानपि नाशयन्ति, क ?–‘घोरे’ भयानके संसारसागरे ‘अणोरपारे’त्ति–अर्वाग्भागपरभागवर्जितेनाऽद्यनन्ते इति, एवंभूते संसारार्णवे आत्मानं प्रक्षिपन्तीति यावत् ॥ ४९ ॥ साम्प्रतं सम्यग्ज्ञानवतामुपदेष्टृणां गुणानाविर्भावयन्नाह–‘लोय’मित्यादि, ‘लोकं’–चतुर्दशरज्ज्वात्मकं केवलालोकेन केवलिनो विविधम्–अनेकप्रकारं जानन्ति विदन्तीह–अस्मिन् जगति, प्रकर्षेण जानाति प्रज्ञः, पुण्यहेतुत्वाद्वा पुण्यं, तेन तथाभूतेन ज्ञानेन समाधिना च युक्ताः समस्तं ‘धर्मं’–श्रुतचारित्ररूपं ये तु परहितैषिणः ‘कथयन्ति’–प्रतिपादयन्ति ते महापुरुषाः स्वतः संसारसागरं तीर्णाः, परं च तारयन्ति सदुपदेशदानत इति । केवलिनो लोकं जानन्तीत्युक्तेऽपि यत्पुनर्ज्ञानेनेत्युक्तं तद् बौधमतोच्छेदेन ज्ञानाधार आत्मा अस्तीति प्रतिपादनार्थमिति, एतदुक्तं भवति–यथा देशिकः सम्यग्मार्गज्ञ आत्मानं परं च तदुपदेशवर्तिनं महाकान्ताराद्विवक्षितदेशप्रापणेन निस्तारयति, एवं केवलिनोऽप्यात्मानं परं च संसारकान्तारान्निस्तारयन्तीति ॥ ५० ॥ पुनरप्यार्द्रककुमार एवमाह—

जे गरहियं ठाणमिहावसंति, जे यावि लोए चरणोववेया । उदाहडं तं समं मईए, अहाउसो विप्परियासमेव ॥ ५१ ॥ संवच्छरेणावि य एगमेगं, बाणेण मारेउ महागयं तु । सेसाण जीवाण दयट्ठयाए, वासं वयं वित्ति पकप्पयामो ॥ ५२ ॥

असर्वज्ञप्ररूपणमेवंभूतं भवति, तद्यथा–ये केचित्संसारान्तर्वर्तिनोऽशुभकर्मणोपपेताः–समन्वितास्तद्विपाकसहाया ‘गर्हितं’ निन्दितं जुगुप्सितं निर्विवेकिजनाचरितं ‘स्थानं’–पदं कर्मानुष्ठानरूपमिह–अस्मिन् जगत्या-

मतयो तु श्रौग्यपुरुमेव सन्निति, यावप्याविर्भावतिरोभावौ भवतोऽभ्येते तावपि नोत्पादविनाशावन्तरेण भवितुमर्हते, तदेवमैहिकामुष्मिकचिन्तायामावयोर्न कथञ्चित्साम्य। किञ्च—सर्वव्यापित्वे सत्यात्मनामविकारित्वे चात्माद्वैते चाभ्युपगम्यमाने नारकतिर्यङ्नरामरभेदेन बालकुमारसुभगदुर्भगाढ्यदरिद्रादिभेदेन वा न भिद्येरन्—न परिच्छिद्येरन्, नापि स्वकर्मचोदिता नानागतिषु संसरन्ति, सर्वव्यापित्वादेकत्वाद्वा, तथा न ब्राह्मणा न क्षत्रिया न वैश्या न प्रेष्या—न शूद्रा नापि कीटपक्षिसरीसृपाश्च भवेयुः, तथा नराश्च सर्वेऽपि देवलोकाभेस्थैव नानागतिभेदेन न भिद्येरन् अतो न सर्वव्यापी आत्मा, नाप्यात्माद्वैतवादो न्यायान्, यतः प्रत्येकं सुखदुःखानुभवः समुपलभ्यते, तथा शरीरत्वक्पर्यन्तमात्र एवात्मा, तत्रैव तद्गुणविज्ञानोपलब्धेरिति स्थितम्, तदेव व्यवस्थिते युष्मदागमो यथार्थाभिधायी न भवति, असर्वज्ञप्रणीतत्वात्, असर्वज्ञप्रणीतत्वं चैकान्तपक्षसमाश्रयणादिति ॥ ४९ ॥ एवमसर्वज्ञस्य मार्गोद्भावने दोषमाविर्भावयन्नाह—

लोयं अयाणित्तिह केवलेणं, कहंति जे धम्ममजाणमाणा। णासंति अप्पाण परं च णट्ठा, संसार घोरम्मि अणोरपारे ॥ ४९ ॥ लोयं विजाणंतिह केवलेणं, पुण्णेण नाणेण समाहिजुत्ता। धम्मं समत्तं च कहंति जे उ, तारंति अप्पाण परं च तिण्णा ॥ ५० ॥

'लोकं' चतुर्दशरज्ज्वात्मकं चराचरं वा लोकमज्ञात्वा केवलेन दिव्यज्ञानावभासेन 'इह' अस्मिन् जगति ये तीर्थिका 'अजानाना' अविद्वांसो 'धर्मं' दुर्गतिगमनमार्गस्यार्गलाभूतं 'कथयन्ति' प्रतिपादयन्ति ते स्वतो नष्टा

य थोवं गिहिणोऽवि तम्हा ॥ ५३ ॥ संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंता समणव्वएसु । आयाहिए से पुरिसे अणज्जे, ण तारिसे केवलिणो भवंति ॥ ५४ ॥ बुद्धस्स आणाएँ इमं समाहिं, अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण ताई । तरिउं समुद्दं व महाभवोघं, आयाणवं धम्ममुदाहरेज्जा ॥ ५५॥ त्ति बेमि, इति अद्दइज्जणाम छट्ठमज्झयणं समत्तं ।

संवत्सरेणैकैकं प्राणिनं घ्नतोऽपि प्राणातिपातादनिवृत्तदोषास्ते भवन्ति, आशंसादोषश्च भवतां पञ्चेन्द्रियमहाकायसत्त्ववधपरायणानामतिदुष्टो भवति, साधूनां तु सूर्यरश्मिप्रकाशितवीथिषु युगमात्रदृष्ट्या गच्छतामीर्यासमितिसमितानां द्विचत्वारिंशद्दोषरहितमाहारमन्वेषयतां लाभालाभसमवृत्तीनां कुतस्त्य आशंसादोषः पिपीलिकादिसत्त्वोपघातो वेत्यर्थः, स्तोकसत्त्वोपघातेनैवंभूतेन दोषाभावो भवताऽभ्युपगम्यते, तथा च सति गृहस्था अपि स्वारम्भदेशवर्तिन एव प्राणिनो घ्नन्ति शेषाणां च जन्तूनां क्षेत्रकालव्यवहितानां भवदभिप्रायेण वधे न प्रवृत्ताः, यत एवं तस्मात्कारणात्स्यादेवं 'स्तोक'मिति स्वल्पं यस्माद् घ्नन्ति ततस्तेऽपि दोषरहिता इति ॥ ५३ ॥ साम्प्रतमार्द्रककुमारो हस्तितापसान्दूषयित्वा तदुपदेष्टारं दूषयितुमाह–'संवच्छरेणे'त्यादि, श्रमणानां–यतीनां व्रतानि श्रमणव्रतानि तेष्वपि व्यवस्थिताः सन्त एकैकं संवत्सरेणापि ये घ्नन्ति ये चोपदिशन्ति तेऽनार्याः, असत्कर्मानुष्ठायित्वात्, तथा आत्मानं परेषां चाहितास्ते पुरुषाः, बहुवचनमार्षत्वात्, न तादृशाः केवलिनो भवन्ति, तथाहि–एकस्य प्राणिनः संवत्सरेणापि घाते येऽन्ये पिशिताश्रितास्तत्संस्कारे च क्रियमाणे स्थावरजङ्गमा विनाश-

सेव(सम)न्ति-जीविकाहेतुमाश्रयन्ति, तथा ये च सदुपदेशवर्तिनो लोकेऽस्मिन् 'चरणेन'-विरतिपरिणाम रूपेणोपपेताः-समन्विताः, तेषामुभयेषामपि यदनुष्ठानं-शोभनाशोभनस्वरूपमपि सत् तदसर्वज्ञैः-अर्वाग्दर्शिभिः 'सम'-सदृशं तुल्यमुदाहृत-उपन्यस्त 'स्वमत्या'-स्वाभिप्रायेण, न पुनर्यथावस्थितपदार्थनिरूपणेन, अथ वाऽऽयुष्मन् हे चक्रदण्डिन्! 'विपर्यासमेव'-विपर्ययमेवोदाहरेत् असर्वज्ञो-यदशोभन तच्छोभनत्वेनेतरस्त्वि तरथेति, यदिवा विपर्यास इति मद्योन्मत्तप्रलापवदित्युक्तं भवतीति ॥ ५१ ॥ तदेवमेकदण्डिनो निराकृत्यार्द्रक कुमारो यावद्भगवदन्तिकं व्रजति तावद्धस्तितापसाः परिवृत्य तस्थुरिदं च प्रोचुरित्याह-'संवच्छरेण' इत्यादि, हस्तिन व्यापाद्यात्मनो वृत्तिं कल्पयन्तीति हस्तितापसास्तेषां मध्ये कश्चिद्वृद्धतम एतदुवाच, तद्यथा-भो आर्द्र कुमार! सद्बुद्धिकेन सदाऽल्पबहुत्वमालोचनीय, तत्र ये अमी तापसाः कन्दमूलफलाशिनस्ते बहूनां सत्त्वानां स्थावराणां तदाश्रितानां चोदुम्बरादिषु जङ्गमानामुपघाते वर्तन्ते, येऽपि च भैक्ष्येणात्मान वर्तयन्ति तेऽप्याशंसा दोषदूषिता इतश्चेतश्चाटाट्यमानाः पिपीलिकादिजन्तूनां उपघाते वर्तन्ते, वय तु संवत्सरेणापि अपिशब्दात् षण्मा सेन चैकैकं हस्तिन महाकाय बाणप्रहारेण व्यापाद्य शेषसत्त्वानां दयार्थमात्मनो 'वृत्तिं'-वर्तन तदामिषेण वर्षमेक यापयामः, तदेवं वयमल्पसत्त्वोपघातेन प्रभूततरसत्त्वानां रक्षां कुर्म इति ॥ ५२ ॥ साम्प्रतमेतदेवार्द्रक कुमारो हस्तितापसमत दूषयितुमाह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं, बाणं हणंता अणियत्तदोसा। सेसाण जीवाण वहेण लग्गा, सिया

पाशमोचनं, एतच्च प्राङ्नियुक्तिगाथया प्रदर्शितं । सा चेय " ण दुकरं वा णरपासमोयणं, गयस्स मत्तस्स वणंमि रायं ! । जहा उ चत्तावलिएणं तंतुणा, सदुकरं मे पडिहाइ मोयणं ॥ १ ॥ " एवमार्द्रककुमारो राजानं प्रतिबोध्य तीर्थकरान्तिकं गत्वाऽभिवन्द्य च भगवन्तं भक्तिभरनिर्भर आसांचक्रे, भगवानपि तानि पञ्चापि शतानि प्रव्राज्य तच्छिष्यत्वेनोपनिन्य इति ॥ ५४ ॥ साम्प्रतं समस्ताध्ययनार्थोपसंहारार्थमाह–'बुद्धस्से'त्यादि, 'बुद्धः'–अवगततत्त्वः सर्वज्ञो वीरवर्द्धमानस्वामी तस्याज्ञया–तदागमेन इमं 'समाधिं'–सद्धर्मावाप्तिलक्षणं अवाप्यास्मिंश्च समाधौ सुष्ठु स्थित्वा मनोवाक्कायैः सुप्रणिहितेन्द्रियो न मिथ्यादृष्टिमनुमन्यते, केवलं तदावरणजुगुप्सां त्रिविधेनापि करणेन विधत्ते, स एवंभूत आत्मनः परेषां च त्रायी–त्राणशीलस्तायी वा गमनशीलो मोक्षं प्रति, स एवंभूतस्तरीतुम् अतिलङ्घ्य समुद्रमिव दुस्तरं महाभवौघं मोक्षार्थमादीयत इत्यादानं–सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपं तद्विद्यते यस्यासावादानवान्–साधुः, स च सम्यग्दर्शनेन सता परतीर्थिकतपःसमृद्ध्यादिदर्शनेन मौनीन्द्राद्दर्शनान्न प्रच्यवते, सम्यग्ज्ञानेन तु यथावस्थितवस्तुप्ररूपणतः समस्तप्रावादुकवादनिराकरणेनापरेषां यथावस्थितमोक्षमार्गमाविर्भावयतीति, सम्यक्चारित्रेण तु समस्तभूतग्रामहितैषितया निरुद्धाश्रवद्वारः सन् तपोविशेषाच्चानेकभवोपार्जितं कर्म निर्जरयति स्वतोऽन्येषां चैवंप्रकारमेव धर्ममुदाहरेद्–व्यागृणीयात् आविर्भावयेदित्यर्थः । इतिः–परिसमाप्त्यर्थे । ब्रवीमीति नयाश्च प्राग्वदेव वाच्याः, वक्ष्यन्ते चोत्तरत्र ॥ ५५ ॥ समाप्तं चेदमार्द्रकीयाख्यं षष्ठमध्ययनमिति ॥ ६ ॥

॥ इति श्रीसूत्रकृताङ्गे इदमार्द्रकीयाख्यं षष्ठमध्ययनं समाप्तम् ॥

मुपयान्ति ते तैः प्राणिवधोपदेष्टृभिर्न दृष्टाः, न च तैर्निरवद्योपायो मायुकर्णो दृष्या यो मवति स दृष्टः, अतस्ते न केवलमकेवलिनो विशिष्टविवेकरहितामेति । तदेवं हस्तितापसाभिराकृत्य भगवदन्तिकं गच्छन्तमार्द्रककुमारं महता कलकलेन लोकेनाभिष्टूयमानं त समुपलभ्य अभिनवगृहीतः सर्वलक्षणसंपूर्णो वनहस्ती समुत्पन्नतथाविधविवेकोऽचिन्तयत्–यथाऽयमार्द्रककुमारोऽपाकृताशेषतीर्थिको निष्प्रत्यूहं सर्वज्ञपादपद्मान्तिकं वन्दनाय व्रजति तथाऽहमपि यद्यपगताक्षेपबन्धनः स्यां तत एनं महापुरुषमार्द्रककुमारं प्रतिबुद्धवस्करपञ्चशतोपेतं तथा प्रतिबोधितानेकवादिगणसमन्वितं परमया भक्त्यैतदन्तिकं गत्वा वन्दामीत्येवं यावदसौ हस्ती कृतसंकल्पस्तावच्चटचटदिति त्रुटितसमस्तबन्धनः सन्नार्द्रककुमाराभिमुखं प्रदत्तकर्णतालस्तथोर्ध्वप्रसारितदीर्घकरः प्रधावितः, तदनन्तरं लोकेन कृतहाहारवगर्भकलकलेन पूत्कृतं–यथा धिक् कष्ट हतोऽयमार्द्रककुमारो महर्षिर्महापुरुषः, तदेवं प्रलपन्तो लोका इतश्चेतश्च प्रपलायमानाः (सन्ति), असावपि वनहस्ती समागत्यार्द्रककुमारसमीपं भक्तिसंभ्रमावनताग्रभागोऽवनामितोत्तमाङ्गो निश्चलकर्णतालश्च प्रदक्षिणीकृत्य निहितधरणीतलदन्ताग्रभागः स्पृष्टकराग्रतच्चरणयुगलः सुप्रणिहितमनाः प्रणिपत्य महर्षिं वनाभिमुखं ययाविति । तदेवमार्द्रककुमारतपोऽनुभावादन्यनोन्मुक्तं महागजमुपलभ्य सपौरजनपदः श्रेणिकराजस्तमार्द्रककुमारं महर्षिं तत्तपःप्रभावं चाभिनन्द्याभिवन्द्य च प्रोवाच–भगवन्नाश्चर्यमिदं यदसौ वनहस्ती सारशिलाश्छल्लाच्छेद्याच्छृङ्खलाबन्धनात्पुण्यतपःप्रभावान्मुक्त इत्येतदतिदुष्करमित्येवमभिहिते आर्द्रककुमारः प्रत्याह–भोः श्रेणिकमहाराज ! नेतद्दुष्करं यदसौ वनहस्ती च बन्धनान्मुक्तः, अपि त्वेतद्दुष्करं यत्स्नेह

निक्षेपं नदौ परित्यज्य कर्तुमाह—

णामअलं ठवणअलं दव्वअलं चेव होइ भावअलं। एसो अलसद्दंमिउ निक्खेवो चउविहो होइ ॥२०१॥
[3]पॅज्जत्तीभावे खलु पढमो बीऑ भवे अलंकारे। तॅतितो उ पडिसेहे अलसद्दो होइ नायव्वो ॥२०२॥
पडिसेहणगा[6]रॅस्सा इत्थिसद्देण चेव अलसद्दो। रायगिहे नयरंमी नालंदा होइ बाहिरिया ॥ २०३ ॥
नालंदाए समिवे मणोरहे भासि इंदभूइणा उ। अज्झयणं उदगस्स उ एयं नालंदइज्जं तु ॥ २०४ ॥

णाम अलं० इत्यादि, तंत्र अमानोनाः प्रतिषेधवाचकाः, तद्यथा—अगौः अघट इत्याद्यकारः प्रायो द्रव्यस्यैव प्रतिषेधवाचीत्यलंदानेन सहास्य प्रयोगाभावः, माकारस्त्वनागतक्रियाया निषेधं विधत्ते, तद्यथा—मा कार्षीस्त्वमकार्यं मा मंस्थाः सं[11]स्थां नो युष्मदधिष्ठितदिगेव वीतायेत्यादि, नोकारस्तु देशनिषेधे सर्वनिषेधे च वर्त्तते, तद्यथों—नो घटो घटैकदेशो घटैकदेश[12]निषेधेन, तथा हास्यादयो नोकषायाः कषायमोहनीयैकदेशभूताः, नकारस्तु समस्तद्रव्यक्रियाप्रतिषेधाभिधायी, तद्यथा—न द्रव्यं न कर्म न गुणोऽभावः, तथा [13]नोकार्पं न करोमि न करिष्यामीत्यादि, तथाऽन्यैरप्युक्तं—"न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्नवांशवत्। जहाति पूर्वं नोंधारमहो व्यसनसंततिः ॥ १ ॥"

---

१ नाम° अ आ। २ °संद्दमी अ आ। ३ निज्जुत्ती अ आ। ४ वीउ अ. आ। ५ तइउविय पडिसेहो अ. आ.। ६ गारस्स णकरस्स अ आ। ७ णगरम्मि अ. आ। ८ भूइणा अ आ। ९ ××× तत्र° सा° मु°। १० °×× सो मु°। ११ ×× नो घ° आ। १२ °शो घटैकनि° अ। १३ नाकार्य° अ। १४ ना मार° आ।

अथ सप्तम–नालन्दीयाध्ययनम् ।

व्याख्यातं षष्ठमध्ययनम्, अधुना सप्तममारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः–इह प्राग्व्याख्यातेनाखिलेनापि श्रुतस्कन्धेन स्वसमयपरसमयप्ररूपणाद्वारेण प्रायः साधूनामाचारोऽभिहितोऽनेन तु श्रावकगतो विधिरुच्यते, यदिवाऽनन्तराध्ययने परवादनिराकरणं कृत्वा साध्वाचारस्य च उपदेष्टा स उदाहरणद्वारेण प्रदर्शितः, इह तु श्रावकधर्मस्य च उपदेश स उदाहरणद्वारेणैव प्रदर्श्यते, यदि वाऽनन्तराध्ययने परतीर्थिकैः सह वाद इह तु स्वयूथ्यैरिति । अनेन संबन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराण्युपवर्णितव्यानि उपक्रमादीनि, तत्रापि नामनिष्पन्ने निक्षेपे नालन्दीयाभिधानमिदमध्ययनम्, इदं चैवं व्युत्पाद्यते–प्रतिषेधवाचिनो नकारस्य तदर्थस्यैव 'डुदाञ्–दाने' इत्येतस्य धातोर्मीलनेन नालं ददातीति नालंदा, इदमुक्तं भवति–प्रतिषेधप्रतिषेधेन धात्वर्थस्यैव प्रोक्तस्य गमनात् सदाऽर्थिभ्यो यथाऽभिलषितं ददातीति नालन्दा–राजगृहनगरबाहिरिका तस्यां भवं नालन्दीयमिदमध्ययनं, अनेन चाभिधानेन समस्तोऽप्युपोद्घात उपक्रमरूपं आवेदितो भवति, तत्स्वरूपं च पर्यन्ते स्वत एव निर्युक्तिकारः–'पासावच्चिज्जे' इत्यादिगाथया निवेदयिष्यतीति । साम्प्रतं सेभमिनमलशब्दस्य

१ उपदेश ख ब । २ xxxxxxx च क्रमा ब । ३ नाम xx त्रै बा । ४ तस्य च ब । ५ प्रकृतस्य ब । ६ बाधा ब. । ७ मिनरर्थि ब. । ८ संप्रति बा ।

पासितैरल वितर्काकुलकाहलैर्मतैः । अलं च मे कामगुणैर्निषेवितैर्भयंकरा ये हि परत्र चेह च ॥ १ ॥ " तदिह प्रतिषेधवाचिनाऽलंशब्देनाधिकार इत्येदर्शयितुमाह–सत्यप्यलंशब्दस्यार्थत्रये नकारस्य सान्निध्यात्प्रतिषेधविधाय्येवेह गृह्यते, ततश्च निरुक्तविधानादयमर्थः–नालं ददातीति नालन्दा, बाहिरिकायाः स्त्रियोद्देशकत्वेन वाचकत्वेन च नालन्दशब्दस्य स्त्रीलिंगता, सा च सदैहिकामुष्मिकसुखहेतुत्वेन सुखप्रदा राजगृहनगरबाहिरिका धनकनक समृद्धत्वेन सत्साध्वश्रयत्वेन च सर्वकामप्रदेति । साम्प्रतं प्रत्ययार्थं दर्शयितुकाम आह–नालन्दायाः[2] समीपे मनोरथाख्ये उद्याने इन्द्रभूतिना गणधरेणोदकाख्यनिर्ग्रन्थपृष्टेन तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्तस्यैव भाषितमिदमध्ययनं । नालन्दायां भवं नालन्दीयं नालन्दासमीपोद्यानकथनेन वा निर्वृत्तं नालन्दीयम् । यथा चेदमध्ययनं नालन्दायां संवृत्तं तथोत्तरत्र " पासावच्चिज्जे " इत्यादिकया सूत्रस्पर्शिकगाथयाऽऽविष्करिष्यते[3], साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदं—

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं[4] नयरे होत्था, रिद्धित्थिमितसमिद्धे वण्णओ जाव पडिरूवे, तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए, एत्थ णं नालंदानामं बाहिरिया होत्था, अणेगभवणसयसन्निविट्ठा जाव पडिरूवा ॥ सू० ६८ ॥ तत्थ णं नालंदाए

१ पडिसेहेत्यादि सत्यप्यल अ । २ नालंदाए इत्यादि नालदाया. अ० । ३ °विष्करिष्यति अ । ४ नाम नगरे । अ. । ५ °त्थि मिय । अ °त्थ मित आ । ६ XXX अ वण्णतो आ. । ७ XXX अ. ।

किञ्चान्यत्—"गतं न गम्यते तावदगतं नैव गम्यते। गतागतविनिर्मुक्तं, गम्यमानं तु गम्यते ॥" इत्यादि। तदेवमत्र नकारः प्रतिषेधविषयोऽभ्युपायः, अलशब्दोऽपि यद्यपि 'अलं पर्याप्ति 'वारणभूषणेष्वपी'ति त्रिष्वर्थेषु पठ्यते, तथाऽपीह प्रतिषेधवाचकेन नञा साहचर्यात्प्रतिषेधार्थ एव गृह्यते, तत्र चालशब्दे नामस्थापनाद्रव्यभाव-भेदाच्चतुर्विधो निक्षेपो भवति, तत्र नामालं यस्य चेतनस्य अचेतनस्य वाऽलमिति नाम क्रियते स्थापनालं तु यत्र कपिचित्रपुस्तकादौ पापनिषेधं कुर्वन्साधुः स्थाप्यते, द्रव्यनिषेधस्तु नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यस्य चौराद्याहृतस्यैहिकापायभीरुणा यो निषेधः क्रियते स द्रव्यनिषेधः, एवं द्रव्येण द्रव्याद् द्रव्ये वा निषेधः, भावनिषेधं तु स्वत एव निर्युक्तिकारोऽलशब्दस्य संभविनमर्थं दर्शयन्निभणिषुराह—पर्याप्तिभावः—सामर्थ्ये तत्रालशब्दो वर्तते, अलं मल्लो मल्लाय, समर्थ इत्यर्थः, लोकोत्तरेऽपि "नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा"। अन्यैरप्युक्तम्—" द्रव्यास्तिकरथारूढ़ः, पर्यायोद्यतकार्मुकः। युक्तिसन्नाहवान्वादी, कुवादिभ्यो भवत्यलम् ॥१॥" अयं प्रथमोऽलशब्दार्थो भवति, अलंशब्दो वाक्यालङ्कारे, द्वितीयस्त्वयोऽलङ्कारे—अलङ्कारविषये भवेत्, संभाव नायां किंच, तद्यथा—अलं कुम्भ दर्भे। देवेन स्वकुले सगप नाभियुञ्जे'त्यादि। तृतीयस्त्वलंशब्दार्थः प्रतिषेधे वाचको भवति, तद्यथा—अलं मे गृहवासेन, तथा 'अलं पापेन कर्मणा' उक्तं च—" अलं कुवीर्यैरिह पर्यु

१ [illegible] । २ वा xxx युक्तः [illegible] । ३ [illegible] । ४ °पुस्तकौ [illegible] । ५ °[illegible]° [illegible] । ६ [illegible] इत्यादि । ७ किंच् [illegible] । किंच् [illegible] । ८ [illegible] । ९ स्वाह [illegible] ।

नालन्दा नाम बाहिरिका आसीत्, सा चानेक[1]भवनशतसन्निविष्टा—अनेकभवनशतसंकीर्णेत्यर्थः। तस्यां च लेपो नाम 'गृहपतिः'—[2]कुटुम्बिक आसीत्, स चाढ्यो दीप्तः—तेजस्वी 'वि[3]त्तः'—सर्वजनविख्यातो विस्तीर्णविपुलभवनशयनासनयानवाहनाकीर्णो बहु[4]धनबहुजातरूपरजतः आयोगाः—अर्थोपाया यानपात्रोष्ट्रमंडलिकादयः तथा प्रयोजनं प्रयोगः—प्रायोगिकत्वं तैरायोगप्रयोगैः संप्रयुक्तः—समन्वितः, तथेतश्चेतश्च विक्षिप्तप्रचुरभक्तपानो बहुदास्यादिपरिवृतो बहुजनस्यापरिभूतश्चासीत्। तदियता विशेषणकदम्बकेनैहिकगुणाविष्करणेन द्रव्यसंपदभिहिता। अधुनाऽऽमुष्मिकगुणाविर्भावेन[5] भावसंपदभिधीयते—

[6]से णं लेवे नामं गाहावई समणोवासए [7]यावि होत्था, अभिगयजीवाजीवे [8]जाव विहरइ, [[9]निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए निव्वितिगिच्छे लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभिगहियट्ठे अट्ठिमिंजापेमाणुरागरत्ते, अयमाउसो! निग्गंथे पावयणे अयं अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे, उस्सियफलिहे अप्पावयदुवारे चियत्तंतेउरप्पवेसे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणे समणे निग्गंथे तहाविहेणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइम-

१ ×× भवन अ। २ कुटविक अ कुटुंविक आ। ३ दित अ। ४ बहुघणु अ बहुधण आ। ५ °भावनेन अ.। ६ से ण लेए ×× गाहावती अ. से ×× ए ×× गाहावती आ। ७ ×××× अ. आवि होत्या आ। ८ °भावेमाणे विहरइ अ. °विहरति° आ। ९ निग्गथे° इत्यादिना, °विहरइ॥ सू० ६९॥ पर्यंतेन (पृ ४०८-१-३-पंक्ति ८ पर्यंतेन) पाठो नास्तीति अ. आ।

पारिहिपाए सेव' नाम गाहावई होत्था, अड्ढे दित्ते वित्ते विच्छिण्णविपुलभवणसयणासणजाण वाहणाइण्णे बहुधणबहुजायरूवरजते आओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डियपउरभत्तपाणे बहुदासी दासगोमहिसगवेलगप्पभूए बहुजणस्स अपरिभूए यावि होत्था।

अस्य चान्तरपरम्परसूत्रेः सह संबन्धो वाच्य, तत्रानन्तराध्ययनपर्यन्ते सूत्रमिदम्–आदानवान् धर्ममुदा हरेत्, धर्मश्च साधुश्रावकभेदेन द्विधा, तत्र पूर्वोक्तेनाध्ययनेन प्रायः साधुगतो विधिरभिहितोऽनेन तु श्रावकगतो विधिरुच्यते। परम्परसूत्रसंबन्धस्तु–'बुज्झेज्ज'त्त्यादि सूत्र, किं तत्र बुध्येत ?, यद्वेतत्स्यत इति। सूत्रार्थ स्वयं–सप्तम्यर्थे तृतीया, यस्मिन्काले यस्मिन्नवसरे राजगृहं नगरं यथोक्तविशेषणविशिष्टमासीत्, तस्मिन् काले तस्मिन् समये इदमभिधीयते। राजगृहमेव विशिनष्टि–प्रासादाः संजाता यस्मिंस्तत्प्रासादितं सामोममद्रा, मन परं दर्शनीयं दर्शनयोग्यं दृष्टिसुखहेतुत्वात्, तथाऽभिमुख्येन रूपं यस्य तदभिरूपं, तथाऽप्रतिरूपमनन्यसदृशं, प्रतिरूपं वा–प्रतिबिम्बं वा स्वर्गनिवेशस्य, तदेवंभूत राजगृहं नाम नगरं 'होत्थ'त्ति–आसीत्, यद्यपि तत्काल मपेऽस्ति सर्वो विमर्शे तथाप्यतीताध्यानक्रममाश्रयणादासीदित्युक्तं। तस्य च राजगृहस्य बहिरुत्तरपूर्वस्यां दिशि

१ लेर नामं च। लेवे नामं मा.। २ अड्ढे दित्ते इत्यादिना बहुजणस्स पर्यंतेन (शिपविशेषर्णेन) पाठो नास्तीति च।
१ मा १ दीवमा ३ अन्भोग ४० वरजच्छत्रसममोदिति वाचकस्य मूलपाठे तु परिपूर्णतावत्।
४ तेण कालेणं तेणं समए णं ५ विधि मध्यते मा। ६ 'वे स्वभ्यादि. च। ७ नासीवमामोगमद्रा।

अत्यन्तं सम्यक्त्ववासितान्तश्चेता इति यावत्, एतदेवाविर्भावयन्नाह–'अयमाउसो'इत्यादि, केनचिद्धर्मसर्वस्वं पृष्टः सन्नेतदाचष्टे, तद्यथा–भो आयुष्मन्निदं नैर्ग्रन्थं मौनीन्द्रप्रवचनमर्थः–सद्भूतार्थः तथाप्ररूपणतया, तथेदमेवाह— अयमेव परमार्थः, कषतापच्छेदैरस्यैव शुद्धत्वेन निर्घटितत्वात्, शेषस्तु सर्वोऽपि लौकिकतीर्थिकपरिकल्पितोऽनर्थः, तदनेन विशेषणकदम्बकेन सम्यक्त्वगुणाविष्करणं कृतं भवति। साम्प्रतं तस्यैव सम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यां कृतो यो गुणस्तदाविष्करणायाह—'उंसिय'इत्यादि, उच्छ्रतं–प्रख्यातं स्फटिकवन्निर्मलं यशो यस्यासावच्छ्रितस्फटिकः[3], प्रख्यातनिर्मलयशा इत्यर्थः, तथाऽप्रावृतम्—अस्थगितं द्वारं—गृहमुखं यस्य सोऽप्रावृतद्वारः, इदमुक्तं भवति–गृहं प्रविश्य परतीर्थिकोऽपि यथेत्कथयति तदसौ कथयतु न तस्य परिजनोऽप्यन्यथा भावयितुं—सम्यक्त्वाच्च्यावयितुं शक्यत इतियावत्, तथा राज्ञां वल्लभान्तःपुरद्वारेषु प्रवेष्टुं शीलं यस्य स तथा, इदमुक्तं भवति–प्रतिषिद्धान्यजनप्रवेशान्यपि यानि स्थानानि भाण्डागारान्तःपुरादीनि तेष्वप्यसौ प्रख्यातश्रावकाख्यगुणत्वेनास्खलितप्रवेशः, तथा चतुर्दश्यष्टम्यादिषु तिथिषूपदिष्टासु–महाकल्याणकसंबन्धितया पुण्यतिथित्वेन प्रख्यातासु तथा पौर्णमासीषु च तिसृष्वपि चतुर्मासकतिथिष्वित्यर्थः, एवंभूतेषु धर्मदिवसेषु सुष्ठु—अतिशयेन प्रतिपूर्णो यः पौषधो–व्रताभिग्रहविशेषस्तं प्रतिपूर्णम्—आहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्याव्यापाररूपं पौषधमनुपालयन् संपूर्णं श्रावकधर्ममनुचरति, तदनेन विशेषणकलापेन विशिष्टं देशचारित्रमावेदितं भवति। साम्प्रतं तस्यैवोत्तरगुणख्यापनेन दानधर्ममधि-

१ °त्व ×××× श्वेता° अ °ता ××× इति° आ.। २ ऊसिय अ.। ३ प्रख्यात स्फटिक आ.। ४ °यद्य° अ। परतीर्थिपि° आ.।

साइमेण पडिलाभेमाणे बहूहिं सीलव्वयगुणविरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणे एवं च णं विहरइ] ॥ सू० ६९ ॥

से ण लें० इत्यादि णेमिति वाक्यालङ्कारे, स लेपाख्यो गृहपतिः श्रमणान्—साधूनुपास्ते—प्रत्यह सेवत इति श्रमणोपासकः, तदनेन विशेषणेन तस्य जीवादिपदार्थाविभासकभूतज्ञानसंपदावेदिता भवति, एतदेव दर्शयति अभिगतजीवाजीवेत्यादिना ग्रन्थेन यावदसहायोऽपि देवासुरादिभिर्देवगणैरनतिक्रमणीयः—अनतिलङ्घनीयो धर्माद्-प्रच्यावनीय इति यावत्, तदियता विशेषणकलापेन तस्य सम्यग्ज्ञानित्वमावेदित भवति । साम्प्रतं तस्य विशिष्ट सम्यग्दर्शनित्व प्रतिपादयितुमाह—'निग्गंथे'इत्यादि, 'निर्ग्रन्थे'—आर्हते प्रवचने निर्गता शङ्का देशसर्वरूपा यस्य स निःशङ्कः, 'तदेव सत्य निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदित'मित्येव कृताध्यवसायः, तथा निर्गता काङ्क्षा—अन्यान्यदर्शन ग्रहणरूपा यस्यासौ निराकाङ्क्षः, तथा निर्गता विचिकित्सा—विद्वज्जुगुप्सा वा यस्यासौ निर्विचिकित्सो, यत एवमतो लब्धः—उपलब्धोऽर्थः—परमार्थरूपो येन स लब्धार्थो ज्ञाततत्त्व इत्यर्थः, तथा गृहीतः—स्वीकृतोऽर्थो—मोक्षमार्गरूपो येन स गृहीतार्थः, तथा—विशेषतः पृष्टोऽर्थो येन स पृष्टार्थो, यत एवमतो विनिश्चितार्थः ततोऽभिगतः—गुरुनिर्वचनतः प्रतीतोऽर्थो येन सोऽभिगतार्थः, तथाऽस्थि मिञ्जा—अस्थिमध्यं यावत् स धर्मे प्रेमानुरागेण रक्तः

१ ×××× से इत्यादि अ. से ण लेए इत्यादि' आ। २ ×××××××× ज अभिगितंजीवो आ। ३ ××'सम्यग् अ.। ४ वद्यरितं अ। ५ तथा ××××× सि आ।

सवायं, भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी-अवियाइ आउसो ! सोच्चा निसम्म जाणिस्सामो सवायं, उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी ॥ सू० ७१ ॥

तस्य चैवंभूतस्य लेपोपासकस्य गृहपतेः संबन्धिनी नालन्दायाः पूर्वोत्तरस्यां दिशि शेषद्रव्याभिधाना-गृहोपयुक्तशेषद्रव्येण कृता शेषद्रव्येत्येतदेवाभिधानमस्या उदकशालायाः, सैवंभूताऽऽसीदनेकस्तम्भशतसन्निविष्टा प्रासादीया दर्शनीयाऽभिरूपा प्रतिरूपेति, तस्याश्चोत्तरपूर्वदिग्विभागे हस्तियामाख्यो वनखण्ड आसीत्, कृष्णावभास इत्यादिवर्णकः-तस्मिश्च वनखण्डगृहप्रदेशे भगवान् गौतमस्वामी श्रीवर्धमानस्वामिगणधरो विहरति। अथानन्तरं भगवान् गौतमस्वामी तस्मिन्नारामे सह साधुभिर्व्यवस्थितः, 'अथ'-अनन्तरं णमिति वाक्यालङ्कारे उदकाख्यो निर्ग्रन्थः पेढालपुत्रः 'पार्श्वापत्यस्य'-पार्श्वस्वामिशिष्यस्यापत्यं-शिष्यः पार्श्वापत्यीयः, स च मेदार्यो गोत्रेण, येनैवेति सप्तम्यर्थे तृतीया, यस्यां दिशि यस्मिन्वा प्रदेशे भगवान् श्रीगौतमस्वामी तस्यां दिशि तस्मिन्वा प्रदेशे समागत्येदं-वक्ष्यमाणं प्रोवाचेति। अत्र निर्युक्तिकारोऽध्ययनोत्थानं तात्पर्यं च गाथया दर्शयितुमाह—

पासावच्चिज्जो पुच्छियाइओ अज्जगोयमं उदगो। सावगपुच्छा धम्मं सोउं कहियंमि उवसंता॥२०५॥[10]

---

१ उदय आ.। २ सवधि आ। ३ दर्शनाभिरूपा अ दर्शनतयाभिरूपा आ.। ४ कृष्ण कृष्णावभास अ आ। ५ ×××× तस्मिन्वा अ। ×××× तस्मिन् आ। ६ पूच्छिञ्झाइउ अ आ। ७ तुदगो अ आ। ८ धम्मे अ आ। ९ सतो अ आ.। १० नालदइज्झ निज्जुत्ति सम्मत्ता अ। सूयगडस्स विइउ सुयखधो समत्तो। सम्मत्तं च सूयगडाभिहाणं विइयमग। प्रथत श्लोक २६५। आ

कत्थाह–' समणे निग्गंथे 'इत्यादि, सुगमं यावत् ' पडिलाभेमाणे 'त्ति, साम्प्रत तस्यैव शीलतपोभावनात्मक धर्ममावेदयन्नाह–' बहूहि 'मित्यादि, बहुभिः शीलव्रतगुणविरमणप्रत्याख्यानपौषधोपवासैस्तथा यथापरिगृहीतैश्च तपःकर्मभिरात्मानं भावयन्, एवं चानन्तरोक्तया नीत्या विहरति–धर्ममाचरंस्तिष्ठति चेः सप्तमे यमिति वाक्यालङ्कारे।

तस्स णं लेवस्स गाहावइस्स नालंदाए बाहिरियाए उत्तरपुच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं सेसदविया नाम उदगसाला होत्था, अणेगखंभसयसंनिविट्ठा पासादीया जाव पडिरूवा, तीसे णं सेसदवियाए उदगसालाए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए, एत्थ णं हत्थिजामे नाम वणसंडे होत्था, किण्हे वण्णओ वणसंडस्स ॥ सू० ७० ॥ तस्सिं च णं गिहपदेसंमि भगवं गोयमे विहरइ, भगवं च णं अहे आरामंसि। अहे णं उदए पेढालपुत्ते भगवं पासावच्चिज्जे नियंठे मेयज्जे गोत्तेणं जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता भगवं गोयमं एवं वयासी–आउसंतो! गोयमा अत्थि खलु मे केइ पदेसे पुच्छियव्वे, तं च आउसो! अहासुयं अहादरिसियं मे वियागरेहि

१ च बहुभिः। ग.। २ केवलं च सेवस्य। आ.। ३ बाहिरिल्लस्स। ४ नाम० च नाम बा। ५ ××××च। ६ ते ××रियाए बा। ७ गिहपदेसंमि च। ८ ×××उदए आ.। ९ निग्गंठे मेयज्जे ग.। १ गच्छति आ। ११ पएसे च.। १२ तं च से। च आ.। १३ ××××च आ.। १४ वियं मेय. च।

[1]आउसो ! गोयमा अत्थि खलु कुमारपुत्तिया नाम समणा निग्गंथा तुम्हाणं पवयणं [2]पवयमाणा गाहावइं समणोवासगं [3]उवसंपन्नं एवं पच्चक्खावेंति—[4]णण्णत्थ अभिओएणं [5]गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय [6]दंडं, एवं ण्हं पच्चक्खंताणं [7]दुप्पच्चक्खायं भवइ, एवं ण्हं [8]पच्चक्खावेमाणाणं दुपच्चक्खावियव्वं भवइ, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा [9]अतियरंति सयं पतिण्णं, कस्स णं तं हेउं ?, संसारिया खलु पाणा थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं थावरकायंसि [10]उववण्णाणं ठाणमेयं घत्तं ॥ ॥ सू. ७२ ॥ एवं ण्हं पच्चक्खंताणं [11]सुपच्चक्खायं भवइ, एवं ण्हं पच्चक्खावेमाणाणं [12]सुपच्चक्खावियं भवइ, एवं ते [13]परं पच्चक्खावेमाणा णातियरंति सयं पइण्णं, णण्णत्थ [14]अभिओगेणं [15]गाहावइचोरग्गहण[16]विमोक्खणयाए तसभूएहिं पाणेहिं णिहाय दंडं, एवमेव [17]सइ भासाए परक्कमे विज्जमाणे

१ आउसंतो० अ आउसे आ. २ °गाहावर्ति० अ । पवयमाणो–०आ० । ३ ××××× एव अ ××××× एग आ. । ४ नन्नत्थि आभितोगेण अ णणत्थ अभिजोएण आ । ५ गाहावती० अ आ । ६ डंड आ । ७ पच्चक्खंताण दुपच्च अ आ । ८ °क्खाय भवति अ. । °क्खात्तं भवती० आ । ९ अइरंति० अ । अति अतियरति० आ. । १० उववन्नाण० अ. । ११ सुपच्चक्खात भवति आ. । १२ सुपच्चक्खात भवति आ । १३ ×× पच्चखातें माणायरंति आ । १४ अभितोएण० अ० । १५ गाहावति अ० । १६ °यातेसभूते० । विमुक्खणताए० आ० । १७ सय० अ० सति० । आ० ।

पेढालपुत्रशिष्य उदकाभिधान आर्यगौतम पृष्टवान्, किं तत्?-श्रावकविषयं प्रश्नं, तद्यथा-भो इन्द्रभूते! साधोः श्रावकस्य अणुव्रतदाने सति स्थूलप्राणातिपातादिविषये तदन्येषां सूक्ष्मबादराणां प्राणिनामुपघाते तत्सारंभजनिते तदनुमतिप्रत्ययजनितः कर्मबन्धः कस्मान्न भवति?, तथा स्थूलप्राणातिपातमविनस्त्वमेव पर्यायान्तरगत कर्यापाद यतो नागरिकवधनिवृत्तस्य तमेव चैरिस्यं व्यापादयत इव तद्व्रतभङ्गजनितः कर्मबन्धः कस्मान्न भवतीत्येतत्प्रश्न स्योपरि गृहपतिचोरग्रहणविमोक्षणोपमया दत्तवान्, तत्र श्रावकप्रश्नस्यौपम्य गौतमस्वामिना कथित श्रुत्वोदकप्रश्नो निर्ग्रन्थः 'उपशान्तः'-अपगतसंदेहः संवृत्त इति। साम्प्रत सूत्रमनुस्रियते-'स' उदको गौतमस्वामिसमीपं समागत्य भगवन्तमिदमवादीत्, तद्यथा-आयुष्मन्गौतम! 'अस्ति मम विद्यते कश्चित्प्रदेशः प्रष्टव्य ' तत्र संदेहात्, त च प्रदेश यथाश्रुतं भवता यथा च भगवता सदर्शित तथैव मम 'व्यागृणीहि'-प्रतिपादय। एव पृष्टः, स चाप भगवान्, यदिवा सह वादेन सवाद पृष्टः सद्वाचं वा-शोभनभारतीक वा प्रश्नं पृष्टः, तमुदक पेढालपुत्रमेवमवादीत्, तद्यथा-अपिचायुष्मन्नुदक! श्रुत्वा भवदीयं प्रश्नं निशम्य च—अवधार्य च गुणदोषविचारणतः सम्यगहं ज्ञास्ये, तदुच्यतां विश्रब्धं भवता स्वाभिप्रायः 'सवाय' सद्वाच चोदकः, सवाद सद्वाच चोदकः पेढालपुत्रो भगवन्तं गौतममेवमवादीत् ॥

१ सभ्येन इत्यादि च. आ। २ श्रावकाणां श्रावकविषयं च आ। ३ अपगतसंदेह भगवत च। ४ चरित्रं च चरित्रं आ। ५ उपाश्रय च। ६ प्रदेशे मम यथाश्रुतं च. आ। ७ ॥ × × ॥ आ।

[1]आउसो ! गोयमा अत्थि खलु कुमारपुत्तिया नाम समणा निग्गंथा तुम्हाणं पवयणं [2]पवयमाणा गाहावइं समणोवासगं [3]उवसंपन्नं एवं पच्चक्खावेंति—[4]णण्णत्थ अभिओएणं [5]गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय [6]दंडं, एवं ण्हं पच्चक्खंताणं दुप्पच्चक्खायं भवइ, एवं ण्हं [7]पच्चक्खावेमाणाणं [8]दुपच्चक्खावियव्वं भवइ, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा [9]अतियरंति सयं पतिण्णं, कस्स णं तं हेउं ?, संसारिया खलु पाणा थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं थावरकायंसि [10]उववण्णाणं ठाणमेयं घत्तं ॥ ॥ सू. ७२ ॥ एवं ण्हं पच्चक्खंताणं [11]सुपच्चक्खायं भवइ, एवं ण्हं पच्चक्खावेमाणाणं [12]सुपच्चक्खावियं भवइ, एवं ते [13]परं पच्चक्खावेमाणा णातियरंति सयं पइण्णं, णण्णत्थ [14]अभिओगेणं [15]गाहावइचोरग्गहण[16]विमोक्खणयाए तसभूएहिं पाणेहिं णिहाय दंडं, एवमेव [17]सइ भासाए परक्कमे विज्जमाणे

१ आउसंतो० अ. आउसे आ. २ °गाहावर्ति० अ । पवयमाणो—०आ० । ३ ××××× एव अ ××××× एग आ. । ४ नन्नत्थि आभितोगेण अ णण्णत्थ अभिजोएण आ । ५ गाहावती० अ आ । ६ डंड आ । ७ पच्चक्खंताण दुपच्च अ आ. । ८ °क्खाय भवति अ । °क्खात्तं भवती० आ. । ९ अइरंति० अ. । अति अतियरति० आ । १० उववन्नाण० अ । ११ सुपच्चक्खात भवति आ । १२ सुपच्चक्खात भवति आ । १३ ×× पच्चखातें माणायरंति आ । १४ अभितोएण८ अ० । १५ गाहावति अ० । १६ °यातेसमूते० । विमुक्खणताए० आ० । १७ सय० अ० सति० । आ० ।

जे त कोहा वा लोहा वा पर पञ्चक्खावेंति अयंपि णो उवएसे णो णेआउए भवइ, अवियाइं आउसो! गोयमा! तुम्भपि एवं रोयइ? ॥ सू० ७३ ॥ सवायं भगवं गोयमे! उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—आउसतो! उदगा नो खलु अम्हे एयं रोयइ, जे ते समणा वा माहणा वा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति णो खलु ते समणा वा णिग्गंथा वा भासं भासंति, अब्भाइक्खंति खलु ते समणे समणोवासए वा, जेहिंवि अन्नेहिं जीवेहिं पाणेहिं भूएहिं सत्तेहिं संजमयंति ताणवि ते अब्भाइक्खंति, कस्स णं तं हेउं?, संसारिया खलु पाणा, तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायंति तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं ॥ सू० ७४ ॥

तथा—भो गौतम! अस्तीत्ययं निपातः विभक्तिप्रतिरूपको निपात इति षड्दर्शनविगृहीतः, ततश्चायमर्थः—'सन्ति'

१ भोयवेंसि-किं भावे-भवते व । २ णो रोएमो रोयइ आ । ३ एवं एवं० व एवं एवं एवं एवं रोयति० आ । ३ एवं व एवं एवं रोयति आ । ४ नातिपक्खती आ । ५ णो व । ६ णिग्गंथा व. णिग्गंथा × आ । ७ × अन्नेहिं व × जेहिं आ. । ८ **भूएहिं व पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं आ । ९ तामेहिं० व । १ ×× आ. । ११ पच्चायंति आ । १२ उववन्नाणं आ ।

विद्यन्ते कुमारपुत्रा नाम निर्ग्रन्था युष्मदीयं प्रवचनं प्रवदन्तः, तद्यथा—गृहपतिं श्रमणोपासकमुपसंपन्नं—नियमायोत्थितमेवं 'प्रत्याख्यापयन्ति'-प्रत्याख्यानं कारयन्ति, तद्यथा—स्थूलेषु प्राणिषु दण्डयतीति दण्डः—प्राण्युपमर्दस्तं 'निंहाय'[1]-परित्यज्य, प्राणातिपातनिवृत्तिं कुर्वन्ति, तामेवापवदति—नान्यत्रेति, स्वमानीपिकाया अन्यत्र राजाद्यभियोगेन यः प्राण्युपघातो न तत्र निवृत्तिरिति। तत्र किल स्थूलप्राणिविशेषणात्तदन्येषामनुमतिप्रत्ययदोषः स्यादित्याशङ्कावानाह—'गाहावइ'इत्यादि, अस्य चार्थमुत्तरत्राविर्भावयिष्यामः। येनाभिप्रायेणोदककश्चोदितवांस्तमाविष्कुर्वन्नाह—'एवं ण्ह'मित्यादि, णेहमिति[2] वाक्यालंकारे, अवधारणे वा, एवमेव त्रसप्राणिविशेषणत्वेनापरत्रसभूतविशेषणरहितत्वेन प्रत्याख्यानं गृह्णतां श्रावकाणां दुष्प्रत्याख्यानं भवति, प्रत्याख्यानभङ्गसद्भावात्, तथैवमेव प्रत्याख्यापयतामपि साधूनां दुष्टं प्रत्याख्यानदानं भवति, किमित्यत आह—एवं ते श्रावकाः प्रत्याख्यानं गृह्णन्तः साधवश्च परं प्रत्याख्यापयन्तः[3] स्वां प्रतिज्ञामतिचरन्ति[4]—अतिलङ्घयन्ति। 'कस्स णं हेउं'ति प्राकृतशैल्या कस्माद्धेतोरित्यर्थः। तत्र प्रतिज्ञाभङ्गकारणमाह—'संसारिया'इत्यादि, संसारो विद्यते येषां ते सांसारिकाः, खलुरलङ्कारे, 'प्राणाः' जन्तवः स्थावराः 'प्राणिनः' पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः सन्तोऽपि तथाविधकर्मोदयात्रसतया-त्रसत्वेन द्वीन्द्रियादिभावेन प्रत्यायान्ति-उत्पद्यन्ते, तथा त्रसा अपि

१ विहाय० आ.। २ णमिति० अ.। ३ °यतिस्ता अ °यतः स्तां आ.। ४ °मविचर व्यतिलघयति अ. °मतिचरं व्यति लघयति आ.।

स्थावरत्वेति, एव च परस्परमपने व्यवस्थिते सत्यवश्यम्भावी प्रतिज्ञाविलोपः, तथाहि—नागरिको मया न हन्तव्य इत्येवंभूता येन प्रतिज्ञा गृहीता स यदा बहिरारामादौ व्यवस्थितं नागरिकं व्यापादयेत् किमेतावता तस्य न भवेत्प्रतिज्ञाविलोपः ?, एवमत्रापि येन त्रसवधनिवृत्तिः कृता स यदा तमेव त्रसं प्राणिनं स्थावरकायस्थितं व्यापादयेत् किं तस्य न भवेत्प्रतिज्ञाविलोपः ?, भवत्येवेत्यर्थः। एवमपि त्रसस्थावरकाये समुत्पन्नानां त्रसानां यदि तथाभूतं किञ्चिदसाधारणं लिङ्गं स्यात् ततस्ते त्रसाः स्थावरत्वेनाप्युत्पन्नाः शक्यन्ते परिहर्तुं, न च तद-स्तीत्येतद्दर्शयितुमाह—'थावरकायाओ' इत्यादि, स्थावरकायात्त्रसकायाद्विविधम्—अनेकैः प्रकारैः प्रकर्षेण मुच्य-मानाः स्थावरकायायुषा तद्योग्यैश्चापरैः कर्मभिः सर्वात्मना त्रसकाये समुत्पद्यन्ते, तथा त्रसकायादपि सर्वात्मना विमुच्यमानास्तत्कर्मभिः स्थावरकाये समुत्पद्यन्ते, तत्र चोत्पन्नानां तथाभूतत्रसलिङ्गाभावात्प्रतिज्ञालोप इत्ये-तत्सूत्रेणैव दर्शयितुमाह—'तेसिं च णं' मित्यादि, 'तेषां च'—त्रसानां स्थावरकाये समुत्पन्नानां गृहीतत्रसप्राणाति-पातविरतेः श्रावकस्याप्यारम्भप्रवृत्तत्वेनैतत्स्थावरकायं घात्यं स्थानं भवति, तस्मादनिवृत्तत्वात्तस्येति। तदेवं व्यवस्थिते नागरिकदृष्टान्तेन त्रसमेव स्थावरत्वेनापन्नं व्यापादयतोऽवश्यम्भावी प्रतिज्ञाविलोपो यतः तत एवं मदुक्तया वक्ष्यमाणनीत्या प्रत्याख्यानं कुर्वतां सुप्रत्याख्यानं भवति, एवमेव च प्रत्याख्यापयतां सुप्रत्याख्यापितं भवति, एवं च ते प्रत्याख्यापयन्तो नातिचरन्ति स्वीयां प्रतिज्ञामित्येतद्दर्शयितुमाह—'णण्णत्थे'त्यादि, तत्र

१ एवं अ.। २ xxxx° च।

गृहपतिः प्रत्याख्यानमेवं गृह्णाति, तद्यथा—'त्रसभूतेषु'–वर्तमानकाले त्रसत्वेनोत्पन्नेषु प्राणिषु दण्डयतीति दण्डः—प्राण्युपमर्दस्तं 'विंहाय'–परित्यज्य प्रत्याख्यानं करोति, तदिह भूतत्वविशेषणात्स्थावरपर्यायापन्नवधेऽपि न प्रतिज्ञाविलोपः। तथा 'नान्यत्राभियोगेने'ति–राजाद्यभियोगादन्यत्र प्रत्याख्यानमिति। तथा गृहपति-चौरविमोक्षणतयेति, एतच्च भवद्भिः सम्यगुक्त, एंतदपि त्रसकाये भूतत्वविशेषणमभ्युपगम्यतामिति, एत-दभ्युपगमेऽपि हि यथा क्षीरविकृतिप्रत्याख्यायिनो दधिभक्षणेऽपि न प्रतिज्ञाविलोपः तथा त्रँसभूताः सत्त्वा न हन्तव्या इत्येवं प्रतिज्ञावतः स्थावरहिंसायामपि न प्रत्याख्यानातिचारः। तदेवं विद्यमाने मति 'भाषायाः'–प्रत्याख्यानवाचः 'पराक्रमे'–भूतविशेषणाद्दोषपरिहारसामर्थ्ये एवं–पूर्वोक्तया नीत्या सति दोषपरिहरणोपाये ये केचन क्रोधाद्वा लोभाद्वा 'परं'–श्रावकादिकं निर्विशेषणमेव प्रत्याख्यापयन्ति, तेषां प्रत्याख्यानं ददतां मृषावादो भवति, गृह्णतां चावश्यंभावी व्रतविलोप इति, तदेवमयमपि नः अस्मदीयोपदेशा-भ्युपगमो भूतत्वविशेषणविशिष्टः पक्षः किं भवतां 'नो' नैव 'नैयायिको'–न्यायोपपन्नो भवति? इदमुक्तं भवति–भूतत्वविशेषणेन हि त्रसान् स्थावरोत्पन्नान् हिंसतोऽपि न प्रतिज्ञातिचार इति, अपि चैतदायुष्मन् गौतम! तुभ्यमपि रोचते–एवमेतद्यथा मया व्याख्यातम्। एवमभिहितो गौतमः सद्वाचं सवादं वा तमुदकं पेढालपुत्रमेवं–वक्ष्यमाणमवादीत्, तद्यथा–नो खल्वायुष्मन्नुदकास्मभ्यमेतदेवं यद्यथा त्वयोच्यते तँद्रोचत इति, इदमुक्तं भवति—

१ ××× आ। २ निहाय अ। ३ तदेतदपि आ। ४ त्रसभूतसत्त्वा° आ.। ५ तदोचत अ न तद्रोचत आ।

यदिद प्रसकायविरतो भूतत्वविशेषण क्रियते तभिरर्थकतयाऽस्मस्य न रोचत इति। तदेव व्यवस्थिते भो उदक! ये ते श्रमणा वा ब्राह्मणा वा एव भूतशब्दविशेषणत्वेन प्रत्याख्यानमाचक्षते, परैः पृष्टास्तथैव भाषन्ते प्रत्याख्यानं, स्वतः कुर्वन्तः कारयन्तश्चैवमिति–सविशेषणं प्रत्याख्यानं भाषन्ते, तथैवमेव सविशेषणप्रत्याख्यानप्ररूपणावसरे सामान्येन प्ररूपयन्ति, एवं च प्ररूपयन्तो न खलु ते श्रमणा वा निर्ग्रन्था वा यथार्थां भाषां भाषन्ते, अपित्वनु तापयतीत्यनुतापिका तां, तथाभूतां च खलु ते भाषां भाषन्ते, अन्यथाभाषणे पपरेण जानता बोधितस्य सतोऽनुतापो भवतीत्यतोऽनुतापिकर्तृत्वमेव इति। पुनरपि तेषां सविशेषणप्रत्याख्यानवतामुत्पन्नदोषोद्भिभावयिषयाऽऽह–'अन्भाइक्खंती'त्यादि, ते हि सविशेषणप्रत्याख्यानवादिनो यथावस्थितं प्रत्याख्यानं ददतः साधून् गृहस्थं श्रमणोपासकानभ्याख्यान्ति–अभूतदोषोद्भावनतोऽभ्याख्यानं ददति। किमान्यत्–'जेहिंवि' इत्यादि, येष्वन्येषु भाविषु भूतेषु जीवेषु सत्त्वेषु विषयभूतेषु विशिष्य ये संयमं कुर्वन्ति संयमयन्ति, तद्यथा–ब्राह्मणो न मया हन्तव्य इत्युक्ते स यदा भवान्तरे तिर्यक्षु वा व्यवस्थितो भवति तद्रूपे ब्राह्मणमेव आपद्यते, भूतशब्दाविशेषणात्, तदेवं तान्यपि विशेषव्रतानि सूकरो मया न हन्तव्य इत्येवमादीनि ते भूतशब्दविशेषणवादिनोऽभ्याख्यान्ति–दूषयन्ति। 'किमित्यत आह–'कस्स णं' मित्यादि कस्माद्धेतोस्तदसद्भूत दूषणं भवतीति?,

१ भवति × । २ °ते तथा च न समाचक्षते ××× आ । ३ यतोऽनुतापो ××××× नुतापि भा । ४ °नुभवे भा । ५ सविशेषणवत् भ । ६ दोषोद्भाव॰ अ. । ७ किमिति यत न भा.।

यस्मात्सांसारिकाः खलु प्राणाः परस्परजातिसंक्रमणभाजो यतस्ततस्त्रसाः प्राणिनः स्थावरत्वेन प्रत्यायान्ति स्थावराश्च त्रसत्वेनेति। त्रसकायाच्च सर्वात्मना त्रसायुष्कं परित्यज्य स्थावरकाये तद्योग्यकर्मोपादानादुत्पद्यन्ते, तथा स्थावरकायाच्च तदायुष्कादिना कर्मणा विमुच्यमानास्त्रसकाये समुत्पद्यन्ते, तेषां च त्रसकाये समुत्पन्नानां स्थानमेतत्त्रसकायाख्यमघात्यम्—अघातार्हं भवति, यस्मात्तेन श्रावकेण त्रसानुद्दिश्य स्थूलप्राणातिपातविरमणं कृतं, तस्य तीव्राध्यवसायोत्पादकत्वाल्लोकगर्हितत्वाच्चेति, तत्रासौ स्थूलप्राणातिपातान्निवृत्तः, तन्निवृत्त्या च त्रसस्थानमघात्यं वर्तते, स्थावरकायाच्चानिवृत्त इति तद्योग्यतया तत्स्थानं घात्यमिति। तदेवं भवदभिप्रायेण विशिष्टसत्त्वोद्देशेनापि प्राणातिपातनिवृत्तौ कृतायामपरपर्यायापन्नं प्राणिनं व्यापादयतो व्रतभङ्गो भवति, ततश्च न कस्यचिदपि सम्यग्व्रतपालनं स्यादित्येवमभ्याख्यातम्—असद्भूतदोषोद्भावनं भवन्तो ददति। यदपि भवद्भिर्वर्तमानकालविशेषणत्वेन किलायं भूतशब्द उपादीयते असावपि व्यामोहाय केवलमुपतिष्ठते, तथाहि—भूतशब्दोऽयमुपमानेऽपि वर्तते, तद्यथा—देवलोकभूतं नगरमिदं, न देवलोक एव, तथात्रापि त्रसभूतानां—त्रससदृशानामेव प्राणातिपातनिवृत्तिः कृता स्यात्, न तु त्रसानामिति, अथ तादर्थ्ये भूतशब्दोऽयं, यथा शीतीभूतमुदकं, शीतमित्यर्थः, एवं त्रसभूतास्त्रसत्वं प्राप्ताः, तथा च सति त्रसशब्देनैव गतार्थत्वात्पौनरुक्त्यं स्याद्, अथैवमपि स्थिते भूतशब्दोपादानं

१ च त्रसत्वेनेति० अ। २ त्रसकायत्वाच्च, त्रसकायच्च आ। ३ तयो आक्रमो॰ अ। ४ ॰न्निवृत्त्या च अ., ॰न्निवृत्तस्तन्निवृत्त्याच्च आ। ५ कृताया तमपर॰ अ. आ। ६ ॰मभ्याख्यानमभूतदोषो० अ, मभ्याख्यानमसद्भूतदोषो आ.। ७ नकरमिद० अ.। ८ तादर्थ्य० आ.।

क्रियते, यथा च सत्यप्रतिज्ञः स्यात्, यथादि-क्षीरभूतविकृतेः प्रत्याख्यानं करोम्येव घृतभूतं मे दस्त्वेन घटभूतः पटभूत इत्येवमादावन्यायोऽन्यमिति ॥ तदेव निरस्ते भूतशब्दे सत्युदक आह—

सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी–कयरे खलु ते आउसंतो गोयमा! तुब्भे वयह तसा पाणा तसा आउ अन्नहा ?, सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी–आउसंतो उदगा! जे तुब्भे वयह तसभूता पाणा तसा ते वयं वयामो तसा पाणा, जे वयं वयामो तसा पाणा ते तुब्भे वयह तसभूया पाणा, एए संति दुवे ठाणा तुल्ला एगट्ठा, किमाउसो! इमे भे सुप्पणीयतराए भवइ तसभूया पाणा तसा, इमे भे दुप्पणीयतराए भवइ–तसा पाणा तसा, ततो एगमाउसो! पडिक्कोसह एक्कं अभिणंदह, अयंपि भेदो से णो णेआउए भवइ। भगवं च णं उदाहु–संतेगइआ मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ–णो

१ क्षीरभूतादि अ। २ वयह तसे ब। ३ वया ×××× भवइ च्चा पच्च पाणा ×××××× च्चा ४ तसभूया० ब। ५ तया तवा ते वम्हे रामो ब., ×× ते वयं वदामो चा। ६ तसापाणा ×××××× तसापाच्च ब चा। ७ भूतापाच्च तस भूतपाणा एते ब भूता पाणा भूता पाणा एते ब.। ८ भवति ब तवराए भवति० ब.। ९ पाणा ×× ब पाणा पाच्च० चा। १० भवति ब. तवराए भवति चा। ११ पच्च तो पाच्च ब पाणा मो चा। १२ पडिक्कोसह० चा. ××××× चा। १३ भेदे ब०। १४ भवति ब। १५ उदाहु ब वयाहु चा। १६ भवता ब. भविया चा। १७ णो चा।

खलु वयं संचाएमो [1]मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, [2]सावयं ण्हं अणुपुव्वेणं गुत्तस्स लिसिस्सामो, ते एवं सं[3]खवेंति ते एवं संखं ठवयंति ते एवं संखं [4]ठावयंति नन्नत्थ अभि[5]ओएणं [6]गाहावइचोरग्गहणविमोक्खण[7]याए तसेहिं पाणेहिं [8]निहाय दंडं, तंपि तेसिं कुसलमेव भवइ ॥ सू० ७५ ॥

सद्वाचं सवादं वोदकः पेढालपुत्रो भगवन्तं-गौतममेवमवादीत्, तद्यथा-हे आयुष्मन् गौतम! कतरान्प्राणिनो यूयं वदथ, त्रसा एव ये प्राणाः-प्राणिनस्त एव त्रसाः प्राणा [9]ईत्युतान्यथेति, एवं पृष्टो भगवान् गौतमस्तमुदकं सद्वाचं पेढालपुत्रमेवमवादीत्, तद्यथा-आयुष्मन्नुदक! यान्प्राणिनो यूयं वदथ त्रसभूताः-त्रसत्वेनाविर्भूताः प्राणिनो नातीता नाप्येष्याः, किं तु? वर्तमानकाल एव त्रसाः प्राणा इति, तानेव वय वदामस्त्रसाः-त्रसत्वं प्राप्तास्तत्कालवर्तिन एव त्रसाः प्राणाः इति, एतदेव व्यत्ययेन विभणिपुराह-'जे वय'मित्यादि, यान् वयं वदामस्त्रसा[11] एव प्राणास्त्रसाः प्राणास्तानेव यूयमेवं वदथ-त्रसभूता एव प्राणास्त्रसभूताः प्राणाः, एवं च व्यवस्थिते एते अनन्तरोक्ते द्वे अपि स्थाने एकार्थे-तुल्ये भवतो, न ह्यत्रार्थभेदः कश्चिदस्त्यन्यत्र शब्द-

---

१ मुडे भवेता अ, मुडा भविता आ । २ ×वयण्ह० अ० । ३ संव सार्वेति० अ. । ४ सोय ठावयति० अ । ५ अभितो एव भ णण्णत्थ अभिजोएण० आ । ६ गाहावती० अ । ७ °णयाए० अ । °णताए० आ । ८ णिहाय डंड० आ । ९ मवायं उदए इत्यादि सद्वाय० अ आ. । १० ×× उतान्यथेति० अ । ११ वदामत्रमत्व० अ. वदामस्त्रसात्रसत्व आ. ।

मेदादिति, एव च व्यवस्थिते किमायुष्मन्! युष्माकमयं पक्षः सुष्ठु प्रणीततरो–युक्तियुक्तः प्रतिभासते ?, तद्यथा–त्रसभूता एव प्राणास्त्रसभूताः प्राणा इति, अयं तु पक्षो दुष्प्रणीततरो 'भयसि' प्रतिभासते भवतां ?, तद्यथा–त्रसा एव प्राणास्त्रसाः प्राणाः, सन्ति चैकार्थत्वेन (सति चैकार्थत्वे) भवतां कोऽयं व्यामोहो ? येन शब्दभेदमात्रमाश्रित्यात एकं पक्षमाक्रोशयथ द्वितीयं त्वभिनन्दय इति। तदयमपि तुल्येऽप्यर्थे सत्येकस्य पक्षस्याक्रोशनमपरस्य सविशेषणपक्षस्याभिनन्दनमित्येष दोषाभ्युपगमो भवतां 'नो नैयायिको'–न न्यायोपपन्नो भवति, उभयोरपि पक्षयोः समानत्वात्, केवलं सविशेषणपक्षे भूतशब्दोपादानं मोहमावहतीति। यच्च भवताऽस्माकं प्राक्दोषोद्भावनमकारि, तद्यथा–त्रसानां वधनिवृत्तौ तदन्येषां वधानुमतिः स्यात् साधोः, तथा भूतशब्दानुपादानेऽनन्तरमेव त्रसं स्थावरपर्यायापन्नं व्यापादयतो व्रतभङ्ग इत्येतद्दोषद्वयं परिहर्तुकाम आह–णोमिति वाक्यालङ्कारे, भगवान्गौतमस्वामी, चशब्दः पुनःशब्दार्थे, पुनराह, तद्यथा–'सन्ति'–विद्यन्ते एके केचन लघुकर्माणो मनुष्याः प्रव्रज्यां कर्तुमसमर्थाः, तद्व्यतिरेकेणैव धर्मं चिकीर्षवः, तेषां चैवमध्यवसायिनां साधोर्धर्मोपदेशप्रवणस्याग्रत इदमुक्तपूर्वं भवति, तद्यथा–भोः साधो ! न खलु वयं शक्नुमो मुण्डा भवितु–प्रव्रज्यां ग्रहीतुमगाराद्–गृहावनमारतां–साधुभावं प्रतिपत्तुं, वयं त्वानुपूर्व्येण–क्रमशो 'गोत्रस्ये'ति–गां त्रायत इति गोत्र–साधुस्त

१ सति भेदार्थत्वेन ख. सति चैकार्थे ते का। २ °भेदमात्रमाश्रित्यात ख भेदमाश्रित्यात का। ३ पक्षमाक्षेपय ख। ४ सविशेषणपक्षे ख। ५ भवतं समभिमताभि भमिति ख। ६ अभ्युपगम्यत ख। ७ भोत्राय इति गोत्रे।

तस्य साधुभावस्य पर्यायेण—परिपाट्याऽऽत्मानमनुश्लेषयिष्यामः, इदमुक्तं भवति—पूर्वं देशविरतिरूपतया श्रावक-
धर्मं गृहस्थयोग्यमनिन्द्यमनुपालयामः, ततोऽनुक्रमेण पश्चाच्छ्रमणधर्ममिति । तत एवं ते ' संख्यां ' व्यवस्थां
' श्रावयन्ति ' प्रत्याख्यानं कुर्वन्तः प्रकाशयन्ति, तद्यथा—नान्यत्राभियोगेन, स चाभियोगो राजाभियोगो
गणाभियोगो बलाभियोगो देवताभियोगो गुरुनिग्रहश्चेत्येवमादिनाऽभियोगेन व्यापादयतोऽपि त्रसं न व्रतभङ्गः ।
तथा गृहपतिचोरविमोक्षणतयेत्यस्यायमर्थः—कस्यचिद्गृहपतेः षट् पुत्राः, तैश्च सत्यपि पितृपितामहक्रमायाते महति
वित्ते तथाविधकर्मोदयाद्राजकुलभाण्डागारे चौर्यमकारि, राजपुरुषैश्च भवितव्यतानियोगेन गृहीतास्ते इत्येके, परे
त्वन्यथा व्याचक्षते, तद्यथा—रत्नपुरे नगरे रत्नशेखरो नाम राजा, तेन च परितुष्टेन रत्नमालाग्रमहिषी-
प्रमुखान्तःपुरस्य कौमुदीप्रचारोऽनुज्ञातः, तदवगम्य नागरलोकेनापि राजानुमत्या स्वकीयस्य स्त्रीजनस्य तथैव
क्रीडनमनुमतं, राज्ञा च नगरे सडिण्डिमशब्दमाघोषितं, तद्यथा—अस्तमनोपरि कौमुदीमहोत्सवे प्रवृत्ते यः
कश्चित्पुरुषः समुपलभ्यते नगरमध्ये तस्याविज्ञप्तिकः शरीरनिग्रहः क्रियत इति, एवं च व्यवस्थिते सत्येकस्य
वणिजः षट् पुत्राः, ते च कौमुदीदिने क्रयविक्रयसंव्यवहारव्यग्रतया तावत्स्थिता यावत्सविताऽस्तमुपगतः । तदनन्तर-
मेव स्थगितानि च नगरद्वाराणि, तेषां च तत्कालात्ययान्न निर्गमनमभूत्, ततस्ते भयसंभ्रान्ता नगरमध्य एवात्मानं

१ अ । तस्य ×× भावस्य० अ. । २ गृहीतास्त इत्येत्येके० अ गृहीतास्त इत्येके० आ. । ३ शरीरो निग्रहः अ. ।

गोपयित्वा स्थितः, ततो निष्क्रान्ते कौमुदीप्रचारे राज्ञाऽऽरक्षिकाः समाहूयादिष्टाः—यथा सम्यक् निरूपयत यूयं नात्र नगरे कौमुदीचारे कश्चित्पुरुषो व्यवस्थित ? इति, तैरप्यारक्षिकैः सम्यग् निरूपयद्भिरुपलभ्य षड्वणिक्पुत्रवृत्तान्तो यथावस्थित एव राज्ञे निवेदितः, राज्ञाऽप्याज्ञाभङ्गकुपितेन तेषां षण्णामपि वधः समादिष्टः, ततस्तत्पिता पुत्रवध समाकर्णनगुरुशोकविह्वलोऽश्रुधाराप्लावितकपोलभ्रान्तलोचनः किंकर्तव्यतामूढतया गणितविधेयाविधेयविशेषो राजानमुपस्थितोऽवादीच्च गद्गदया गिरा—यथा मा कृथा देवास्माकं कुलक्षयं, गृह्यतामिदमस्मदीयं कुलक्रमायात स्वभुजोपार्जितं प्रभूतं द्रविणजातं, मुच्यतां मुच्यताममी षट् पुत्राः, क्रियतामयमस्माकमनुग्रह इति। एवमभिहितो राजा तद्वचनमनाकर्ण्य पुनरपि सविशेषमादिदेश, असावपि वणिक्सर्ववधाशङ्की सर्वमोचनानभिप्राय राजानमवेत्य पञ्चानां मोचनं याचितवान्, तानप्यसौ राजा न मोक्तुमना इत्येवमभिगम्य चतुर्मोचनकृते सादरं विज्ञप्तवान् च, तथापि राजा तन्मनागप्यकुपितवदन एव स्थितः, ततस्त्रयाणां विमोचने कृतादरस्तत्परताऽभूत्, तानप्यमुञ्चन्तं राजानं ज्ञात्वा गणितस्यापरावो द्वयोर्मोचनं प्रार्थितवान्, तत्राप्यवज्ञाप्रधानं नृपतिमवगम्य ततः पौर महत्तमसमेतो राजानमेवं विज्ञप्तवान्, यथा—देवाकाण्ड एवास्माकं कुलक्षयः समुपस्थितः, तस्माच्च भवन्त एव प्रायायातम्, अतः क्रियतामेकस्मत्पुत्रविमोचनेन प्रसाद इति भणित्वा पादयोः सपौरमहत्तमः पतितो, राज्ञापि

१ ततोऽभिप्रवृत्ते क.। ततोऽपि प्रवृत्ते ख.। २ xxx मुच्यताममी क ख.। ३ पतिकोऽपि सविशेषमादिदेश ग. ख। ४ ममस्तमोचना ख.। ५ विज्ञप्तोऽस्त्वपि क। ६ तमपाकुर्य क। ७ तथाप्यसौ ख। ८ महा—महत्तम इति ख।

संजातानुकम्पेन मुक्तस्तदेको ज्येष्ठपुत्र इति । तदेवमस्य दृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकयोजनेयं, तद्यथा—साधुनाऽभ्युपगतसम्यग्दर्शनमवगम्य श्रावकमखिलप्राणातिपातविरतिग्रहणं प्रति चोदितोऽ[1]प्यशक्तितया यदा न सर्वप्राणातिपातविरतिं प्रतिपद्यते, यथाऽसौ राजा वणिजाऽत्यर्थं विज्ञापितोऽपि न षडपि पुत्रान् मुमुक्षति, नापि पञ्चचतुस्त्रिद्विसं[2]ख्येयान् पुत्रानिति, तत एकविमोक्षणेनात्मानं कृतार्थमिव मन्यमानः स्थितोऽसौ, एवं साधोरपि श्रावकस्य यथाशक्ति व्रतं गृह्णतस्तदनुरूपमेवाणुव्रतदानमविरुद्धमिति, यथा च तस्य वणिजो न शेषपुत्रवधानुमतिलेशोऽप्यस्ति, एवं साधोरपि न शेषप्राणिवधानुमतिप्रत्ययजनितः कर्मबन्धो भवति, किं तर्हि ?, यदेव व्रतं गृहीत्वा यानेव सत्त्वान् बादरान् संक[3]ल्पजप्राणिवधनिवृत्त्या र[4]क्षति तन्निमित्तः कुशलानुबन्ध एवेत्येतत्सूत्रेणैव दर्शयितुमाह—'तसेहिं'मित्यादि, त्रस्यन्तीति त्रसाः—द्वीन्द्रियादयस्तेभ्यः सकाशान्निधाय निहाय वा परित्यज्येति यावत् कं ?—दण्डयतीति दण्डस्तं परित्यज्य, त्रसेषु प्राणातिपातविरतिं गृ[5]हीत्वेत्यर्थः, 'तदपि च'—त्रसप्राणातिपातविरमणव्रतं 'तेषां'—देशविरतानां कुशलहेतुत्वात्कुशलमेव भवति । यच्च प्रागभिहितं, तद्यथा—तमेव त्रसं स्थावरपर्यायापन्नं नागरकमिव बहिःस्थं व्यापादयतोऽवश्यंभावी व्रतभङ्ग इत्येतत् परिहर्तुकाम आह—

तसावि वुच्चंति तसा तससंभारकडेणं कम्मुणा णा[6]मं च णं अब्भुवगयं भवइ, तसाउयं च

१ ००० यदने० अ प्य–शक्ततया यदान० आ. । २ सख्यानिति तत० अ । ३ संकल्प प्राणातिपाताग्नि० अ । ४ रक्ष्यति० अ । ५ गृहीतेत्यर्थ । आ । ६ नाम । अ ।

ण पलिक्खीणे भवइ, तसकायट्ठिईया ते तओ आउयं विप्पजहंति, ते तओ आउयं विप्पजहित्ता थावरत्ताए पच्चायंति । थावरावि वुच्चंति थावरा थावरसंभारकडेणं कम्मुणा णामं च णं अब्भुवगयं भवइ, थावराउयं च णं पलिक्खीणं भवइ, थावरकायट्ठिईया ते तओ आउयं विप्पजहंति तओ आउयं विप्पजहित्ता भुज्जो परलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणावि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति, ते महाकाया ते चिरट्ठिईया ॥ सूत्रम्–७९ ॥

सेत्तायीत्यादि–'त्रसा अपि' द्वीन्द्रियादयोऽपि त्रसा इत्युच्यन्ते च त्रसाः त्रससंभारकृतेन कर्मणा भवन्ति, संभारो नामावश्यतया कर्मणो विपाकानुभवेन वेदनं, तथेदं त्रसनाम प्रत्येकनामेत्यादिकं नामकर्माभ्युपगतं भवति, त्रसत्वेन यत्परिबद्धमायुष्कं तदुदयप्राप्तं भवति, तदा त्रससंभारकृतेन कर्मणा त्रसा इति व्यपदिश्यन्ते, न यदा कथञ्चित्स्थावरत्वव्यपदेशः, यदा च तदायुः परिक्षीणं भवति, चमिति वाक्यालङ्कारे, त्रसकायस्थितिकं चै कर्म यदा परिक्षीणं भवति, तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतः सातिरेकसागरोपमसहस्रद्वयपरिमाणं, तदा ततस-

१ भवति ब । २ कार्य । च । ३ भवति । आ. । ४ भवति० च । ५ द्वितीया च. । द्वितीया० आ. । ६ × × × × × × × ×,× च. । आउं × × × × × ×,× ७ × × × × × च । × × × × × आ. । ८ पच्चायंति च. वुच्चंति आ. । ९ कट्टेणं च. । १० ०ट्ठिईया ते तओ च ००ते तओ आ । ११ तओ आ. । १२ × तसा आ. । १३ ०ट्ठिईया आ. । १४ तसपाणावि त्रसा अपि अ आ. । १५ च × × यदा अ० ।

सकायस्थितेरभावात्तदायुष्कं ते परित्यजन्ति, अपराण्यपि तत्सहचरितानि कर्माणि परित्यज्य स्थावरत्वेन प्रत्यायान्ति, स्थावरा अपि स्थावरसंभारकृतेन कर्मणा तत्रोत्पद्यन्ते, [1]स्थावरादिनाम च तत्राभ्युपगतं भवति, अपराण्यपि तत्सह[2]चरितानि सर्वात्मना त्रसत्वं परित्यज्य स्थावरत्वेनोदयं यान्ति इति, एवं च व्यवस्थिते कथं स्थावरकायं व्यापादयतो गृहीतत्रसकायप्रणातिपातनिवृ[3]त्तेः श्रावकस्य व्रतभङ्ग इति ? । किंचान्यत्—'थावराउयं च ण'-मित्यादि, यदा तदपि स्थावरायुष्कं परिक्षीणं भवति तथा स्थावरकायस्थितिश्च, सा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतोऽनन्तकालमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता इति, ततस्तत्कायस्थितेरभावात्तदायुष्कं परित्यज्य 'भूयः' पुनरपि पारलौकिकत्वेन स्थावरकायस्थितेरभावात् त्रसत्वेन सामर्थ्यात्प्रत्यायान्ति, तेषां च त्रसानामन्वर्थिकान्यभिधानान्यभिधित्सुराह–'ते पाणावी'त्यादि, ते त्रसंभारकृतेन कर्मणा समुत्पन्नाः सन्तः सामान्यसंज्ञया प्राणा अप्युच्यन्ते, तथा विशेषतः 'त्रस भयचलनयो'रिति धात्वर्थानुगमा[4]द्भयचलनाभ्यामुपपेतास्त्रसा अप्युच्यन्ते, तथा म[5]हान् कायो येषां ते महाकायाः योजनलक्षप्रमाणशरीरविकुर्वणात्, तथा चिरस्थितिका अप्युच्यन्ते, भवस्थित्यपेक्षया त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुष्कसद्भावात्, ततस्त्रसपर्यायव्यवस्थितानामेव प्रत्याख्यानं ते[6]न गृहीतं, न तु [7]स्थावरकायत्वेन व्यवस्थितानामपीति । यस्तु नागरकदृष्टान्तो भवतोपन्यस्तः असावपि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यात्केवलं

---

१ स्थावरानामे च० अ । स्थावरनाम च० आ । २ चरितानि कर्माणि सर्वा० अ. आ. । ३ ०निवृति' आ । ४ माद्य चलनाभ्यामुपयेतास्त्रस्य० । ५ महाकायो० अ आ. । ६ तेन गृहीत पर्यायापन्न तदा तस्य भंग इति ननु अ । ७ स्थावरकायेन अ आ. ।

मवतोऽनुपासितगुरुकुलमासित्वमाविष्करोति, यथाहि—नगरधर्मैर्युक्तो नागरिक स च मया न हन्तव्य इति प्रतिज्ञां गृहीत्वा यदा तमेव व्यापादयति बहिःस्थित पर्यायापन्नं तदा तस्य किल व्रतभङ्ग इति भवतः पक्ष इति, स च न घटते, यतो यो हि नगरधर्मैरुपेतः स बहिःस्थोऽपि नागरिक एव, अतः पर्यायापन्न इत्येतद्विशेषणं नोपपद्यते, अथ सामस्त्येन परित्यज्य नगरधर्मानसौ वर्तते अतस्तमेवेत्येतद्विशेषण नोपपद्यते, तदेवमत्र त्रसः सर्वात्मना त्रसत्व परित्यज्य यदा स्थावरः समुत्पद्यते तदा पूर्वपर्यायपरित्यागादपरपर्यायापन्नत्वाभ्रस एवासौ न भवति, तद्यथा—नागरिकः पल्ल्यां प्रविष्टस्तद्धर्मोपेतत्वात्पूर्वधर्मपरित्यागाच नागरिक एवासौ न भवतीति।

पुनरप्यन्ययोदकः पूर्वपक्षमारचयितुमाह—

सवाय उदए पेढालपुत्ते भयवं गोयमं एवं वयासी—आउसंतो गोयमा! णत्थि णं से केइ परियाए जण्णं समणोवासगस्स एगपाणातिवायविरएवि दंडे निक्खित्ते, कस्स णं तं हेउं?, संसारिया खलु पाणा, थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे

१ एवा वहि० ब। यथाहि खा। २ नागरक यथा ब.। नागरक पक्षी खा.। ३ नागरक ब। ४ यथार्थ ब। यथार्थ खा। ५ वरिष खा.। ६ निरोहि केहे विक्खित्ते खा। ७ ० हेउं ब। पुच्छ बसस्सं तस्स हेउं खा। ८ वयासी ब। वयास खा.।

थावरकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं थावरकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं घत्तं ॥ सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी–णो खलु आउसो ! अस्माकं वत्तव्वएणं तुब्भं चेव अणुप्पवादेणं[1] अत्थि णं से परियाए जे णं समणोवासगस्स सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं[2] सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे[3] निक्खित्ते भवइ, कस्स णं तं हेउं[4] ?, संसारिया खलु पाणा, तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं[5] ठाणमेयं अघत्तं, ते पाणावि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति, ते महाकाया ते चिरट्ठिइया[6], ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते अप्पयरागा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ[7], से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जन्नं[8] तुब्भे वा अन्नो[9] वा एवं वदह[10]–णत्थि णं से केइ परियाए जंसि[11] समणोवासगस्स एगपाणाएवि दंडे[12] णिक्खित्ते, अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥ सूत्रम्–७७ ॥

---

१ वातेण अ । २ सव्वभूतेहिं अ. आ. । ३ दडे निक्खितें × अ दडे णिक्खिते × आ. । ४ हेतु अ । हेउ आ. । ५ उववण्णाण अ. आ । ६ ठ्तितीया अ । ७ भवति इति से अ आ. । ८ जण्ग आ । ९ अण्णो आ । १० वदह णत्थि ण × केइ अ । वदहाण त्थिणं से ×× आ । ११ जम्मि अ । जंमि आ । १२ डडे आ ।

स चायं उदये इत्यादि-सेवाच सवादं मोदकः पेढालपुत्रो भगवन्तं गौतममेवमवादीत्, तद्यथा-आयुष्मन् गौतम! नास्त्यसौ कश्चित्पर्यायो यस्मिन्नेकप्राणातिपातविरमणेऽपि श्रमणोपासकस्य विशिष्टविषयत्वेन प्राणातिपातनिवृत्तिं कुर्वतो दण्डः—प्राण्युपमर्दनरूपो निक्षिप्तपूर्वः—परित्यक्तपूर्वो भवति, इदमुक्तं भवति-श्रावकेण त्रसपर्यायमेकमुद्दिश्य प्राणातिपातविरतिव्रतं गृहीतं, संसारिणां च परस्परगमनसंभवात् ते च त्रसाः सर्वेऽपि किल स्थावरत्वमुपगतास्ततश्च त्रसानामभावान्निर्विषयं तत्प्रत्याख्यानमिति। एतदेव प्रश्नपूर्वकं दर्शयितुमाह—'कस्स णं तं हेउं'मित्यादि, णमिति वाक्यालङ्कारे, कस्य हेतोरिदमभिधीयते, केन हेतुनेत्यर्थः। सांसारिकाः प्राणाः परस्परसंसरणशीला यतस्ततः स्थावराः सामान्येन त्रसतया प्रत्यायान्ति, त्रसा अपि स्थावरतया प्रत्यायान्ति। तदेवं संसारिणां परस्परगमनं प्रदर्श्याधुना यत्परेण विवक्षितं तदाविष्कुर्वन्नाह—'थावरकायाओ' इत्यादि, स्थावरकायाद्विप्रमुच्यमानाः स्वायुषा तत्सहचरितैश्च कर्मभिः सर्वे—निरवशेषास्त्रसकाये समुत्पद्यन्ते, त्रसकायादपि तदायुषा विप्रमुच्यमानाः सर्वे स्थावरकाये समुत्पद्यन्ते, तेषां च त्रसानां सर्वेषां स्थावरकायसमुत्पन्नानां स्थानमेतद् घात्यं वर्तते, तेन श्रावकेण स्थावरकायवधनिवृत्तेरकरणात्, अतः सर्वस्य त्रसकायस्य स्थावरकायत्वेनोत्पत्तेर्निर्विषयं तस्य श्रावकस्य त्रसवधनिवृत्तिरूपं प्रत्याख्यानं प्राप्नोति, तद्यथा—केनचिद्व्रतमभ्युपगम्य गृहीतं यथा—

१ स चायं उदये इत्यादि से इत्यादि ख.। सवायं उदये इत्यादि चा.। २ सवायं मोदकः पेढाल० ख। सवायं मोदकः पेढाल० चा०। ३ विरति कुर्वतः ×× ख। विरतिं कुर्वतः ×× चा.। ४ कुर्वतः ×× ख।

मया नगरनिवासी न हन्तव्यः, तच्चोद्वसितं नगरम्, अतो निर्विषयं तत्तस्य प्रत्याख्यानम्, एवमत्रापि सर्वेषां त्रसानामभावान्निर्विषयत्वमिति । एवमुदकेनाभिहिते सति तदभ्युपगमेनैव गौतमस्वामी दूषयितुमाह-सद्वाचं[1] सवादं वा तमुदकं पेढालपुत्रं गौतमस्वाम्येवमवादीत्, तद्यथा—नो खल्वायुष्मन्नुदक ! अस्माकमित्येतन्मगधदेशे आगोपालाङ्गनादिप्रसिद्धं[2] संस्कृतमेवोच्चार्यते तदिहापि तथैवोच्चारितमिति[3], तदेवमस्माकं संबन्धिना वक्तव्येन नैतदशोभनं, किं तर्हि ?, युष्माकमेवानुप्रवादेनैतदशोभनं, इदमुक्तं भवति-अस्मद्वक्तव्येनास्य चोद्यस्यानुत्थानमेव, तथाहि—नैतद्भूतं न च भवति नापि कदाचिद्भविष्यति यदुत—सर्वेऽपि स्थावरा निर्लेपतया त्रसत्वं प्रतिपद्यन्ते, स्थावराणामानन्त्यात्त्रसानां चासंख्येयत्वेन तदाधारत्वानुपपत्तेरित्यभिप्रायः, तथा त्रसा अपि सर्वेऽपि न स्थावरत्वं प्रतिपन्ना न प्रतिपद्यन्ते नापि प्रतिपत्स्यन्ते, इदमुक्तं भवति—यद्यपि विवक्षितकालवर्तिनस्त्रसाः कालपर्यायेण स्थावरकायत्वेन यास्यन्ति तथापि अपरापरत्रसोत्पत्त्या त्रसजात्यनुच्छेदान्न कदाचिदपि त्रसकायशून्यः संसारो भवतीति, तदेवमस्मन्मतेन चोद्यानुत्थानमेव, अभ्युपगम्य च भवदीयं पक्षं युष्मदभ्युपगमेनैव परिह्रियते—तदेव पराभिप्रायेण परिहरति-अस्त्यसौ पर्यायः-स चायं-भवदभिप्रायेण यदा सर्वेऽपि स्थावरास्त्रसत्वं प्रतिपद्यन्ते यस्मिन्पर्याये-अवस्थाविशेषे श्रमणोपासकस्य कृतत्रसप्राणातिपातनिवृत्तेः सतः त्रसत्वेन च भवदभ्युपगमेन सर्वप्राणिनामुत्पत्तेः तैश्च सर्वप्राणिभिस्त्रसत्वेन भूतैः-उत्पन्नैः करणभूतैस्तेषु वा विषयभूतेषु दण्डो निक्षिप्तः-

१ सवायमित्यादि सद्वाच सद्वाद । अ. आ । २ आगोपालाङ्गलादि० । आ । ३ ० चरितमिति अ. । आ ।

परित्यक्ता, इदमुक्तं भवति—यदा सर्वेऽपि स्थावराः भवदभिप्रायेण त्रसत्वेनोत्पद्यन्ते तदा सर्वप्राणिविषयं प्रत्याख्यानं श्रमणोपासकस्य भवतीति। एतदेव प्रश्नपूर्वकं दर्शयितुमाह—'कस्स णं हेउ'मित्यादि, सुगमं यावत् प्रभव त्रसमुत्पन्नानां स्थानमेतदघात्यम्—अघातार्हं, तत्र विरतिसद्भावादित्यभिप्रायः। ते च त्रसा नारकतिर्यङ्नरामरभविभाजः सामान्यसंज्ञया प्राणिनोऽप्यभिधीयन्ते, तथा विशेषसंज्ञया भयचलनोपेतत्वात्त्रसा अप्युच्यन्ते, तथा महान् कायाः—शरीरं येषां ते महाकायाः, वैक्रियशरीरस्य योजनलक्षप्रमाणत्वादिति। तथा चिरस्थितिका त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपरिमाणस्थितिकत्वात्, तेषां (च) ते प्राणिनस्त्रसा बहुतमा—भूयिष्ठा यैः श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति, श्रमणोपासकस्य तेन प्रत्याख्यानस्य प्रभावात् तदभ्युपगमेन च सर्वस्थावराणां त्रसत्वेनोत्पत्ते रतस्तेऽल्पतरकाः प्राणिनो यैः करणभूतैः श्रावकस्याप्रत्याख्यानं भवति, इदमुक्तं भवति—अल्पत्वमल्पस्याभाव वाचित्वाच्च सन्त्येव ते येष्वप्रत्याख्यानमितीत्येवं पूर्वोक्तया नीत्या 'से' तस्य श्रमणोपासकस्य महतस्त्रसकायात् उपशान्तस्य—उपरतस्य प्रतिविरतस्य सतः सुप्रत्याख्यानं भवतीति संबन्धः, तदेवं व्यवस्थिते णमिति वाक्यालङ्कारे यद्यूयं वदथान्यो वा कश्चिद्वदति—नास्त्यसावित्यादि सुगमं यावत् 'णोणेयाउए भवई'त्ति।

साम्प्रतं त्रसानां स्थावरपर्यायापन्नानां व्यापादनेनापि न व्रतभङ्गो भवतीत्यर्थस्य प्रसिद्धये दृष्टान्तत्रयमाह—

१ महत्त्वक। ब.। महत्त्वकाः। आ १ XXXX। ब। आ। २ सुप्रत्याख्यानं। ब आ। ४ प्रत्याख्यानभङ्गात् स्थ०। आ। ५ णोणेयाउए भवति त्ति ब.। आ. ६ व्यापादनेऽपि न भङ्ग ब। व्यापादने XX भङ्ग आ.।

भगवं च णं उदाहु नियंठा[1] खलु पुच्छियव्वा–आउसंतो ! नियंठा[2] इह खलु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तेसिं च एवं वुत्तपुव्वं [3]भवइ–जे इमे [4]मुंडे भवित्ता [5]अगाराओ अणगारियं [6]पव्वइए, एसिं च णं आमरणंताए [7]दंडे णिक्खित्ते, जे इमे अगारमावसंति [8]एएसि णं आमरणंताए दंडे णो णिक्खित्ते, केई च णं समणा जाव वासाइं चउपंचमाइं [9]छट्ठद्दसमाइं अप्पयरो[10] वा भुज्जयरो वा देसं [11]दूईज्जित्ता [12]अगारमावसेज्जा ?, [13]हंता वसेज्जा, तस्स णं तं गारत्थं [14]वहमाणस्स से पच्चक्खाणे भंगे [15]भवइ ? [16]णो तिणट्ठे समट्ठे, [17]एवमेव समणोवासगस्सवि तसेहिं पाणेहिं [18]दंडे णिक्खित्ते, थावरेहिं पाणेहिं दंडे [19]णो णिक्खित्ते, तस्स [20]णं तं थावरकायं [21]वहमाणस्स से पच्चक्खाणे [22]णो भंगे भवइ, से एवमायाणह ? णियंठा !, एवमायाणियव्वं ॥ भगवं च णं उदाहु

---

१ णियठा० अ. आ । २ णियठा० अ आ । ३ भवति० आ । ४ मुडा० अ. आ । ५ अगारातो अ. आगारातो आ । ६ पव्वइयाते० अ. पव्वइत्ताए० आ । ७ दडे निक्खित्ते अ डडे णिक्खित्ते आ. । ८ एतेसिण अ. आ । ९ छद्दसमाइ अ । छदसमाणि आ । १० ० तरो वा० । ११ दूतिज्जिता० अ । १२ अगारंवएज्जा० अ० । १३ हतवदेज्जा० आ. । १४ वहेमाणस्स अ आ । १५ भवति० आ. (एव सर्वत्र) । १६ वहेमाणस्स अ आ । १७ ×××××× ववामेव आ. एवामेव अ । १८ दंडे निक्खिते अ डंडे डंडे णिक्खिते आ (एव सर्वत्र) । १९ अ. नो आ. । २० नो अ. णो आ. । २१ ण × अ. ण × आ । २२ ×× अ ।

नियंठा खलु पुच्छियव्वा-आउसंतो 'नियंठा ! इह खलु गाहावई वा गाहावइपुत्तो वा तहप्प-
गारेहिं कुलेहिं आगम्म धम्मं सवणवत्तियं उवसकमेज्जा ? हंता उवसकमेज्जा, तेसिं च णं तह
प्पगाराणं धम्मं आइक्खियव्वे ?, हंता आइक्खियव्वे, किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा णिसम्म
एवं वएज्जा—इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं संसुद्धं णेयाउयं सल्ल
कत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमसंदिद्धं सव्वदुक्खप्पहीण
मग्गं, एत्थ ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति,
तमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा णिसियामो तहा तुयट्टामो तहा भुंजामो तहा
भासामो तहा अब्भुट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेमोत्ति पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं
संजमामोत्ति वएज्जा ?, हंता वएज्जा, किं ते तहप्पगारा कप्पंति पव्वावेत्तए ?, हंता कप्पंति, किं ते

---

१ णियंठा अ । २ पाहमत्ती पाहमत्ती क. पाहमत्ती चे वा पाहमत्ती खा । ३ xxxxxxxx । अ । ४ हंता खा. सहिवसे अ । ४ धम्मे अ । ५ xxxxxxx अ. । ६ xxxxxxxx अ । ७ वएज्ज वा वएज्जा खा । ८ मेयाउयं मुद्धं सल्लमत्तणं क. । ९ णेव्वाण खा. । १० अवितहि खा. । ११ सिज्झंति xxxxxx अ । १२ xxx जाव सव्वदु अ । १३ तहप्पगारेणं उट्ठाए अ xxxxx तहा उट्ठाए अ । १४ उट्ठेत्ता क. उट्ठिए खा. । १५ xxx पाणाणं जाव अ. । भूयाणं जाव खा. । १६ मोत्ति वएज्जा अ । मोत्ति वएज्ज खा. । १७ पव्वाविए । अ । पव्वाविएए । खा. ।

तहप्पगारा कप्पंति मुंडावित्तए ?, हंता कप्पंति, [1]किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावि[2]त्तए ?, हंता कप्पंति, किं ते तहप्पगारा कप्पंति [3]उवट्ठावित्तए ?, हंता कप्पंति, तेसिं च णं तहप्पगाराणं सव्वपाणेहिं जाव सव्व[4]सत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते, हंता णिक्खित्ते [5]से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जाव वासाइं चउपंचमाइं [6]छट्ठद्दसमाइं वा अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं [7]दूइज्जेत्ता अगारं वएज्जा ? हंता वएज्जा, तस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ?, [8]णो इणट्ठे समट्ठे, से जे से जीवे जस्स परेणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं [11]दंडे णो णिक्खित्ते, से जे से जीवे जस्स आरेणं सव्वपाणेहिं जाव सत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते,[[12]से जे से जीवे जस्स इयाणिं सव्वपाणेहिं जाव सत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते] भवइ, परेणं असंजए आरेणं संजए, इयाणिं असंजए, असंजयस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवइ, से एवमायाणह ? णियंठा[13] !, से एवमायाणियव्वं ॥ भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा-आउसंतो !

---

१ ×××××××××× एव सिक्खा अ. । २ वेत्तए । ×××××××××××× वेत्तए० आ. । ३ उवट्ठावेत्तए अ आ । ४° × सत्तेहिं आ. । ५ सिण एतारूवेण अ । ६ छद्दसमाणिवा अ आ । ७ दूइज्जित्ता अ. दूतिज्जित्ता आ. । ८ ×××××× अ । ९ ×× सत्तेहिं अ । १० ××××××× तिं सिज्जे से° अ । ११ ××××××× सेडे से° आ । १२ से जे से णिक्खित्ते (पृ ४१८-१-४-पंक्ति ५ पर्यंतेन पाठो नास्तिति अ आ. । १३ नियंठा अ. ।

नियंठो इह खलु परिव्वाइया वा परिव्वाइआओ वा अन्नयरेहिंतो तित्थाययणेहिंतो आगम्म धम्मं सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ?, [हंता उवसंकमेज्जा, किं तेसिं तहप्पगारेणं धम्मे आइक्खियव्वे ?, हंता आइक्खियव्वे] ते चेव उवट्ठावित्तए जाव कप्पंति ?, हंता कप्पंति, किं ते तहप्पगारा कप्पंति संभुंजित्तए ?, हंता कप्पंति, तेणं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा ते चेव जाव अगारं वएज्जा ?, हंता वएज्जा ते णं तहप्पगारा कप्पंति संभुंजित्तए णो इणट्ठे समट्ठे, से जे से जीवे जे परेणं नो कप्पंति संभुंजित्तए, से जे से जीवे आरेणं कप्पंति संभुंजित्तए, से जे से जीवे जे इयाणिं णो कप्पंति संभुंजित्तए, परेणं अस्समणे आरेणं समणे, इयाणिं अस्समणे, अस्समणेणं सद्धिं णो कप्पंति समणाणं निग्गंथाणं संभुंजित्तए से एवमायाणह ? णियंठा !, से एवमायाणियव्वं ॥ सूत्रम्–७८ ॥

भगवं च णमित्यादि, णमिति वाक्यालङ्कारे, चशब्दः पुनः शब्दार्थे, पुनरपि भगवान् गौतमस्वाम्येवाह–

---

१ णियंठा अ. आ. । २ परिव्वाइया वा परिव्वाइयाओ व । परिव्वाइयाओ आ. । ३ हंता जाव० आइक्खियव्वे (सू ४१८–१–८ पंक्ति ९ दर्शित) पाठोऽत्रास्तीति अ । ४ चेव जाव कप्प अ. । तं चेव जाव कप्प आ । ५ जाव ××× अ । ६ ××××× अ. आ । ७ णो इणट्ठे समट्ठे सेज्जे से अ. । णो इणट्ठे ××× सेज्जेसे आ । ८ सेवमा अ आ. ।

स्वौद्धत्यपरिहरणार्थमपरानपि तत्स्थविरान् साक्षिणः कर्तुमिदमाह–'निर्ग्रन्था' युष्ममत्स्थविराः खलु प्रष्टव्याः, तद्यथा–आयुष्मन्तो निर्ग्रन्था! युष्माकमप्येतद्वक्ष्यमाणमभिमतमाहोस्विन्नेति अवष्टम्भेन चेदमाह, युष्माकमप्येतदभिप्रेतं यदहं वच्मि, तद्यथा–शान्तिः–उपशमस्तत्प्रधाना एके केचन मनुष्या भवन्ति, न नारकतिर्यग्देवाः, किं तर्हि?, मनुष्याः, तेऽपि नाकर्मभूमिजा[1] नापि म्लेच्छा अनार्या वा, तेषां चार्यदेशोत्पन्नानामुपशमप्रधानानाम्[2] एतद् उक्तपूर्वं भवति–अयं व्रतग्रहणविशेषो भवति, तद्यथा–य इमे मुण्डा भूत्वाऽगाराद्–गृहान्निर्गत्यानगारतां प्रतिपन्नाः–प्रव्रजिता इत्यर्थः एतेषां चोपर्यामरणान्तं मया दण्डो निक्षिप्तः–परित्यक्तो भवति, इदमुक्तं भवति–कश्चित्तथाविधो मनुष्यो यतीनुद्दिश्य व्रतं गृह्णाति, तद्यथा–न मया यावज्जीवं यतयो हन्तव्याः, तथा ये चेमेऽगारं–गृहवासमावसन्ति तेषां दण्डो[3] निक्षिप्त इत्येवं केषांचिद् व्रतग्रहणविशेषे व्यवस्थिते सति इदमपदिश्यते–तत्र केचन श्रमणाः प्रव्रजिताः कियन्तमपि कालं प्रव्रज्यापर्यायं प्रतिपाल्य, तमेव कालविशेषं दर्शयति–यावद्वर्षाणि चत्वारि पञ्च वा षड् दश वा, अस्य चोपलक्षणार्थत्वादन्योऽपि कालविशेषो द्रष्टव्यः, तमेवाह–अल्पतरं वा प्रभूततरं वा काल तथा देशं च 'दूइज्जित्त'त्ति–विहृत्य कुतश्चित्कर्मोदयात्तथाविधपरिणतेरगारं–गृहवासं[4] वसेयुः–गृहस्था भवेयुरित्येवंभूतः पर्यायः किं संभाव्यते? उत नेत्येवं पृष्टा निर्ग्रन्थाः प्रत्यूचुः–हन्त गृहवासं

१ नाकर्म भूमजानापि आ. । ना कर्म भूमजापि अ । २ ० त्पन्नानाम् ×××××××× । अ आ । ३ दंडो न निक्षिप्त अ आ । ४ गृहमाववँसेयु अ आ ।

प्रसेद्गु, तस्य च पतिवप्रवीवमतस्य वा गृहस्य व्यापादयतः किं प्रथमभङ्गो भवेद्गुत नेति ?, आहुर्नेति, एवमेव श्रमणोपासकस्यापि प्रसेद्गु वधो निक्षिप्तो न स्थावरेष्विति, अतस्तं स्थावरपर्यायापन्नं व्यापादयतस्तस्यास्या-नभङ्गो न भवतीति । साम्प्रतं पुनरपि पर्यायापन्नस्यान्यथात्वं दर्शयितुं द्वितीयं दृष्टान्तं प्रत्याख्यातृविषयगतं दर्शयितुकाम आह भगवानेव गौतमस्वाम्याह, तद्यथा—गृहस्थाः यतीनामन्तिके समागम्य धर्मं श्रुत्वा सम्यक्त्वं प्रतिपद्य तदुत्तरकालं संजातवैराग्याः प्रव्रज्यां गृहीत्वा पुनस्तथाविधकर्मोदयात्तामेव त्यजन्ति, ते च पूर्वं गृहस्थाः सर्वारम्भप्रवृत्तास्तदारतः प्रव्रजिताः सन्तो नैवोपमर्दपरित्यक्तदण्डाः पुनः प्रव्रज्यापरित्यागे सति नो परित्यक्तदण्डाः, तदेवं तेषां प्रत्याख्यातृणां पर्यायस्यान्यथाऽन्यत्वमासं भवत्येव त्रसस्थावरयोरपि द्रष्टव्यम्, एतच्च 'भगवं च णं उदाहु'रित्यादेर्ग्रन्थस्य 'से एवमायाणियव्वं' इत्येतत्पर्यवसानस्य तात्पर्यं, अक्षरघटना तु सुगमेति स्वबुद्ध्या कार्या । तदेवं द्वितीयं दृष्टान्तं प्रदर्श्याधुना तृतीयं दृष्टान्तं परतीर्थिकोद्देशेन दर्शयितुमाह—'भगवं च णं उदाहु इत्यादि, यावत् से एवमायाणियव्वं'ति तथानार्थं । तात्पर्यमिदमत्र—एते परिव्राजकादयः सन्तोऽसंभोग्याः साधूनां गृहीतभोजनाः साधूनां संभोग्याः संवृत्ताः पुनस्तद्भावे त्वसंभोग्या इत्येवं पर्यायान्यथात्वं प्रत्याख्यानामप्यायोज्यमीयमिति । तदेवं दृष्टान्तत्रये प्रथमे दृष्टान्ते हन्तव्यविषयभूतो यतिगृहस्थभावेन पर्यायभेदो दर्शितो द्वितीये दृष्टान्ते प्रत्याख्यातृविषयगतो गृहस्थयतिपुनर्गृहस्थभेदेन पर्यायभेदः प्रदर्शितः, तृतीये तु

1 भगवं च णं उदाहु० ... [illegible] ××××××× [illegible] ।

दृष्टान्ते परतीर्थिकसाधुभावोन्निष्क्रमणभेदेन संभोगासंभोगद्वारेण पर्यायभेदो व्यवस्थापित इति । तदेवं दृष्टान्तप्राचुर्येण निर्दोषां देशविरतिं प्रसाध्य पुनरपि तद्गतमेव विचारं कर्तुकाम आह—

भगवं च णं उदाहु संतेगईया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ–णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, वयं णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा विहरिस्सामो, थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइस्सामो, एवं थूलगं मुसावायं थूलगं अदिन्नादाणं थूलगं मेहुणं थूलगं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो, इच्छापरिमाणं करिस्सामो, दुविहं तिविहेणं, मा खलु ममट्ठाए किंचि करेह वा करावेह वा तत्थवि पच्चक्खाइस्सामो, ते णं अभोच्चा अपिच्चा असिणाइत्ता, आसंदीपेढियाओ पच्चारुहित्ता, ते तहा कालगया किं वत्तव्वं सिया–सम्मं कालगतत्ति ?, वत्तव्वं सिया [[12]ते पाणावि वुच्चंति ते तसावि वुच्चंति ते महाकाया ते चिरट्ठिइया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते अप्पयरागा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ, इति से मह-

१ ०गतिया० आ. । २ नो० अ. । ३ वय चण अ वयं ण्ण आ । ४ पाणाति० आ. । ५ पच्चाइक्खि अ । पाच्चाइंक्खि अ आ । ६ एवं तुब्भे अ । ७° ××××××××° अ । ८ ×××××× अ आ । ९ इस्सामेण्णं० आ ॥ इस्सामो ते आ. । १० ० पिढियाओ पच्चोरुभित्ता अ । ११ कालगइत्ति आ कालगतादि आ । १२ तेपाणावि......भवइ । (पृ ४१८–२–१७ पंक्ति १९ पर्यंतेन पाठो नास्तीति)' अ ।

पाओ अण्ण तुब्भे वेयह त चेव जाव भयंपि मेदे से णो णेयाउए भवइ]। भगवं च णं उदाहु सतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ, णो खलु वय संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ जाव पव्वइत्तए, णो खलु वय संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु जाव अणुपालेमाणा विहरित्तए, वय णं अपच्छिममारणंतिय संलेहणाजूसणाजूसिया भत्तपाणं पडियाइक्खिया जाव कालं अणवकंखमाणा विहरिस्सामो, सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खाइस्सामो जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो तिविहं तिविहेणं, मा खलु ममट्ठाए किंचिवि जाव आसंदीपेढियाओ पच्चोरुहित्ता एते तहा कालगया, किं वत्तव्वं सिया सम्मं कालगयत्ति ?, वत्तव्वं सिया, ते पाणावि वुच्चंति जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ। भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा-महइच्छा महारंभा महापरिग्गहा अहम्मिया जाव दुप्पडिया

१ वइह चा.। २ चे उदाहु नियंठा खलु पुच्छियव्वा आउसंतो नियंठा खलु इहे गइया ज.। ३ संचाएमो ×××××× ××××× जाव पव्वइत्तए च। अगार खलु पव्वइत्तए चा.। ४ एव ×××× पुव्व चा.। ५ पु पडि पुव्व खलु च। ६ मुसव्व मुंडिया॰ अ.। लोयव्व छुरिए चा.। ७ ××××××××××× जाव च। ८ ×× परि च.। ९ ×××××× च। १ ××××××× च। ११ ममट्ठे च ममट्ठाए चा। १२ ××××××××× अ. (पाठांतरे) क एव वा अणायंसीए चबते च। १३ ××××××××××××× ××××××××× किंव ते वत्ताव अ.। १४ वयंति च वयंति चा.। १५ ××× मेहिप्पक चा.-××× महिप्पक चा.। १६ ×× ××××××××××××××××× अ.।

णंदा जाव सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया[1] जावज्जीवाए[2], जेहिं समणोवासगस्स आया-[3]णसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते ततो आउगं[4] विप्पजहंति, ततो[5] भुज्जो सगमादाए दुग्गइ-गामिणो भवंति, [6]ते पाणावि वुच्चंति ते तसावि वुच्चंति ते महाकाया ते चिरट्ठिइया ते बहुयरगा आयाणसो, इति से[7] महयाओ णं जण्णं तुब्भे वदह तं चेव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥ भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा–अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया[8] धम्माणुया जाव सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो[9] आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते ते तओ आउगं[10] विप्पजहंति ते तओ भुज्जो सगमादाए सोग्गइगा-[11]मिणो भवंति, ते पाणावि वुच्चंति[12] जाव णो णेयाउए भवइ। भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति[13], तंजहा–अप्पेच्छा[14] अप्पारंभा अप्परिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव एगच्चाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते

---

१ ग्गहातो अ ग्गहा आ। २ ××××× अ। ३ आदाणसो आ। ४ आउय जाव अ। ५ ते ततो भुज्जो अ. आ। ६ ते पाणावि......भवइ। ४२०—१... ..४२०–१–२ पर्यंतेन पाठो नास्तीति अ आ (पाठांतरे) ते पाणावि जावणो णेयाउए अ। ते पाणावि वुच्चति जाव अयंपे भेदे सेणो णेया उए भवति आ। ७ ××××××× अ। ८ ×××××××× ×××××××× अ.। ९ आदाणसो अ। १० आउय अ आउ आ। ११ सुइगामिणो अ सोग-तिगामिणो अ। सोगतिगामिणो आ.। १२ ×××। १३ ×××, ××× अ। १४ अप्पिच्छा अ.।

याओ अण्ण तुब्भे वंपह त चेव जाव सयंपि मेवे से णो णेयाउए भवइ]। भगवं च णं उदाहु संतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ, णो खलु वय संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ जाव पव्वइत्तए, णो खलु वय संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु जाव अणुपालेमाणा विहरित्तए, वय ण अपच्छिममारणंतिय संलेहणाजूसणाजूसिया भत्तपाण पडियाइक्खिया जाव कालं अणवकंखमाणा विहरिस्सामो, सव्वं पाणाइवाय पच्चक्खाइस्सामो जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो "तिविहं तिविहेणं, मा खलु ममट्ठाए किंचिवि जाव आसंदीपेढियाओ पच्चोरुहित्ता एते तहा कालगया, किं वत्तव्वं सिया सम्म कालगयत्ति ?, वत्तव्वं सिया, ते पाणावि वुच्चंति जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ। भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा–महइच्छा महारंभा महापरिग्गहा अहम्मिया जाव दुप्पडियाणंदा

१ वइर का। २ से वत्ताइं विर्वठा बद्ध पुच्छिअम्मा आवसेतो विषअर जह सेते महया ब.। ३ संचाएमो ×××××× ×××× जाव पव्वइत्तए च। अगार जाव पव्वइत्तए का। ४ ० एव ×××× पुण्ण का.। ५ सु पडि पुण्णं मसु च। ६ मसुप्प दुसिया ब.। सोरम्म दुसिए का। ७ ×××××××××× जाव च। ८ ×× परि च। ९ ×××××× च। १० ×××××× च। ११ समणुले च ममलुप का। १२ ××××××× ××××××××× ब. (पाठांतरे) च एर्ह च भराचेइय पाओ च। १३ ××××××××××× सिया ते पाणावि ब.। १४ अयंपि ब. अवि का। १५ ××× मेहिच्छ च ××× महिच्छ का। १६ ×× ×××××××××××××××××× ब.।

तसावि वुच्चंति ते महाकाया ते चिरट्ठिइया ते दीहाउया ते बहुयरगा, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, जाव णो णेयाउए भवइ ॥ भगवं च णं उदाहु संतेगइया पाणा समाउया, जेहिं समणोवासगस्स [आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ,] ते सयमेव कालं करेंति करित्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति [ते पाणावि वुच्चंति तसावि वुच्चंति ते महाकाया ते] समाउया ते [बहुयरगा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ जाव णो णेयाउए भवइ ॥ [भगवं च णं उदाहु संतेगइया पाणा अप्पाउया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव [11]दंडे णिक्खित्ते भवइ, ते पुव्वामेव कालं करेंति करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति ते पाणावि वुच्चंति ते तसावि वुच्चंति ते महाकाया ते अप्पाउया ते बहुयरगा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ,] जाव णो णेयाउए भवइ ॥ भगवं च णं उदाहु संतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ-णो खलु वयं संचाएमो ["मुंडे भवित्ता

१ ××××××× अ. तसावि तेवु॰ आ । २ महा ×××××××××× तें आ । ३ ××××××× अ. ते बहु तरगा आ. । ४ दुप्पच्चक्खाय इति ते अ । जाप णो॰ आ ५ जहा आ । ६ ××××××××××××××× ×××× अ । ७ ××××××××××××× अ. । ८ ते पाणा तसामहाते अ ते पाणा ते तसाते महाते आ । ९ बहुयरगा भवइ (४२०-२—२०-४२०-२-२३ पर्यंतेन पाठो नास्तीति) अ. । १० भगवं च णं भवइ (४२०-२-२१-४२०-२-२३ २५ पर्यंतेन पाठो नास्तीति आ. । ११ दडे ××× ते पुव्वामेव आ. ।

तओ आउग विप्पजहति, ततो भुज्जो सगमादाए सोग्गइगामिणो भवति, ते पाणावि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवइ। भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा–आरण्णिया आवसहिया गामणियंतिया कण्हुई रहस्सिया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते भवइ, णो बहुसंजया णो बहुपडिविरया पाणभूयजीवसत्तेहिं, अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विप्पडिवेदेंति–अहं ण हंतव्वो अन्ने हंतव्वा, जाव कालमासे कालं किच्चा अन्नयराइं आसुरियाइं किब्बिसियाइं जाव उववत्तारो भवंति, तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमोरूवत्ताए पच्चायंति, ते पाणावि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवइ। भगवं च णं उदाहु संतेगइया पाणा दीहाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ, ते पुव्वामेव कालं करेंति, करित्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणावि वुच्चंति ते

१ विप्पजहित्ता ×× च विप्पजहंति। २ त ×× चू.। ३ ×××××××××× च। ४ जाव च। ५ ×××××××× वा जाव च मणुस्सा भवंति तं जाव आ। ६ दुग्गइगामिणो य सोग्गइगामिणो ×××× च. ला। ८ ×××××××× चू.। १० बहुयं च। ११ ×××××××××× जाव ×× णिक्खित्ते च। १२ ××××× ला। १३ एवं ति पुव्वामेव च पच्चामेव ला। आयाणसो ×××××××××××× ते ला. १४ ते–

बहुप्रकारत्रससंभूत्याऽशून्यतां संसारस्य दर्शयति—भगवानाह 'सन्ति' विद्यन्ते शान्तिप्रधाना वा एके केचन श्रमणोपासका भवन्ति, तेषां चेदमुक्तपूर्वं भवति–संभाव्यते च श्रावकाणामेवंभूतस्य वचसः संभव इति, तद्यथा–न खलु वयं शक्नुमः प्रव्रज्यां ग्रहीतुं, किंतु ? वयं णमिति वाक्यालङ्कारे चतुर्दश्यष्टमीपौर्णमासीषु संपूर्णं पौषधं सम्यगनुपालयन्तो विहरिष्यामः, तथा स्थूलप्राणातिपातमृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहं प्रत्याख्यास्यामो 'द्विविध'मिति कृतकारितप्रकारद्वयेन अनुमतेः श्रावकस्याप्रतिषिद्धत्वात् तथा 'त्रिविधेने'ति मनसा वाचा कायेन च, तथा 'मा' इति निषेधे 'खलु' इति वाक्यालङ्कारे मदर्थं पचनपाचनादिकं पौषधस्थस्य मम कृते मा कार्ष्ट, तथा परेण मा कारयत, तत्राप्यनुमतावपि सर्वथा यदसंभवि तत्प्रत्याख्यास्यामः, ते एवंभूतकृतप्रतिज्ञाः सन्तः श्रावका अभुक्त्वाऽपीत्वाऽस्नात्वा च पौषधोपेतत्वादासन्दीपीठिकातः प्रत्यारुह्य अवतीर्य सम्यक् पौषधं गृहीत्वा कालं कृतवन्तः, ते तथाप्रकारेण कृतकालाः सन्तः किं सम्यक्कृतकाला उतासम्यगिति ?, कथं वक्तव्यं स्यादिति ?, एवं पृष्टैर्निर्ग्रन्थैरवश्यमेवं वक्तव्यं स्यात्–सम्यक्कालगता इति, एवं च कालगतानामवश्यंभावी तेषां देवलोकेषूत्पादः, तदुत्पन्नश्च त्रस एव, ततश्च कथं निर्विषयता प्रत्याख्यानस्योपासकस्येति ॥ पुनरन्यथा श्रावकोद्देशेनैव प्रत्याख्यानस्य विषयं प्रदर्शयितुमाह–गौतमस्वाम्येवाह–

[illegible] आ । २ इति प्रतिषेधे अ आ. । ३ मा कार्ष अ. कार्ष्ठ आ. । ४ भगवं च, णमित्यादि

जाव पज्जइत्तए, णो खलु वय संचाएमो] [चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसह] अणुपालित्तए, णो खलु वय संचाएमो अपच्छिम जाव विहरित्तए, वय च णं सामाइय देसाव गासियं पुरत्था पाईण वा पडिण वा दाहिण वा उदीण वा एतावता जाव सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं खेमकरे अहमसि, तत्थ आरेण जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणताए दंडे णिक्खित्ते, तओ आउ विप्पजहति विप्पजहित्ता तत्थ आरेण चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो जाव तेसु पच्चायंति, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खाय भवइ, ते पाणावि जाव अयपि भेदे से० ॥ सूत्रम्–७९ ॥

भगव च णं उदाहु इत्यादि पुनरपि गौतमस्वाम्युदकं प्रतीदमाह—बहवा-बहुभिः प्रकारैस्त्रससद्भावः संभाव्यते, ततश्चाशून्यस्तैः संसारः, तदशून्यत्वे न निर्विषयं श्रावकस्य त्रसवधनिवृत्तिरूपं प्रत्याख्यानं । तदधुना

१ × ×××××××××××× च । २ चउद्दसि जाव पोसह च । ३ अपच्छिमो भा । ४ पाईणं पडिणं दाहिणं उदीणं भा। पाईणं पडीणं दाहिणं च । ५ जाव ×××× दंडे च । जाव सत्तेहिं दंडे भा । ६ । ७ पाण ×× जीव च पाणभूय जीव भा । ७ ×××× ×××××× च । ८ आरेणं च । ९ आयाण ××× तेसु च. ××× ×× तेसु भा. । १० तेहिं च भा । ११ [समणो......भवइ] (२) भा. । १२ पाणावि बुच्चंति च पाणावि भेदे से ॥ ७९ ॥ भा । १३ भगवं च णं उदाहु इत्यादि पुनरपि च भा ।

विजहन्ति, [1]त्यक्त्वा त्रसजीवितं ते भूयः पुनः स्वकर्म—स्वकृतं किल्बिषमादाय—गृहीत्वा दुर्गतिगामिनो भवन्ति, एतदुक्तं भवति–महारम्भपरिग्रहत्वात्ते मृताः पुनरन्यतरपृथिव्यां नारकत्रसत्वेनोत्पद्यन्ते, ते च सामान्यसंज्ञया प्राणिनो विशेषसंज्ञया त्रसा महाकायाः चिरस्थितिका इत्यादि पूर्ववद्यावत् ' णो णेयाउए 'त्ति पुनरप्यन्येन प्रकारेण प्रत्याख्यानस्य विषयं दर्शयितुमाह ' भगवं च णं उदाहु 'रित्यादि, पूर्वोक्तेभ्यो महारम्भपरिग्रहवदादिभ्यो विपर्यस्ताः सुशीलाः सुव्रताः सुप्रत्यानन्दाः साधव इत्यादि सुगमं यावत् 'णो णेयाउए भवइ'त्ति, एते च सामान्यश्रावकाः, तेऽपि त्रसेष्वेवान्यतरेषु देवेषूत्पद्यन्ते, [2]ततोऽपि न निर्विषयं प्रत्याख्यानमिति ॥ किञ्चान्यत्– ' भगवं च णं उदाहु 'रित्यादि सुगमं यावत् ' णो णेयाउए भवइ 'त्ति, एते चाल्पेच्छादिविशेषणविशिष्टा अवश्यं प्रकृति[3]भद्रकतया सद्गतिगामित्वेन त्रसकायेषूत्पद्यन्त इति द्रष्टव्यं । किञ्चान्यत् ' भगवं च णं उदाहु ' रित्यादि–गौतमस्वाम्येव प्रत्याख्यानस्य विषयं दर्शयितुमाह–एके केचन मनुष्या एवंभूता भवन्ति, तद्यथा–अरण्ये भवा [4]आरण्यकाः– तीर्थिकविशेषाः तथा [5]आवसथिकाः–तीर्थिकविशेषा एव, तथा ग्रामनिमन्त्रिकाः तथा ' [6]कण्हुईरहस्सिय 'त्ति [7]क्वचित्कार्ये रहस्यकाः क्वचिद्रहस्यकाः, एते सर्वेऽपि तीर्थिकविशेषाः, ते च नो

---

१ त्यक्त्वा च स्व जीवित अ आ । २ अतोपि अ आ । ३ °भद्रतया संगातिगा० अ. । ४ आरणिकाः अ. । ५ अवथिकाः अ. आवसथिका आ । ६ कंदूरइ हस्सि एत्ति अ कण्हुइर हस्सियत्ति आ. । ७ क्वचित्कार्ये रका. एते सर्व० अ. क्वचित्कार्ये रहस्यिका क्वचिद्रहस्यिका एते सर्वे० आ ।

तद्यथा 'सन्ति'–विद्यन्ते एके केचन श्रमणोपासकाः, तेषां चैतदुक्तपूर्वं भवति, तद्यथा—खलु न शक्नुमो वयं
प्रव्रज्यां गृहीतुं, नापि चतुर्दश्यादिषु सम्यक् पौषधं पालयितुं, वयं चापश्चिमया संलेखनाजोषणया क्षपितकाया
यदि वा संलेखनाजोषणया—सेवनया जोषिताः—सेविता उत्तमार्थगुणैरित्येवंभूताः सन्तो भक्तपानं प्रत्याख्याय
'कालं' दीर्घकालमनवकाङ्क्षमाणा विहरिष्यामः, इदमुक्तं भवति—न वयं दीर्घकालं पौषधादिकं व्रतं पालयितुं
समर्थाः, किन्तु वयं सर्वमपि प्राणातिपातादिकं प्रत्याख्याय संलेखनया संलिखितकायाश्चतुर्विधाहारपरित्यागेन ८
जीवितं परित्यक्तुमलमिति, एतदभिप्रायेणैव दर्शयति–'सव्वं पाणाइवायं'मित्यादि, सुगमं, यावच्चे तथा कालगताः
किं वक्तव्यमेतत्स्यात्—सम्यक् ते कालगता इति ?, एवं पृष्टा निर्ग्रन्था एतदूचुः, यथा–ते सन्मनसः—शोभन
मनसस्ते कालगता इति, ते च सम्यक्संलेखनया यदा कालं कुर्वन्ति तदाऽन्यतमेषु देवलोकेषूत्पद्यन्ते, तत्र
चोत्तमा यद्यपि ते व्यापादयितुं न शक्यन्ते तथापि त्रसत्वाच्चे श्रावकस्य त्रसवधनिवृत्तस्य विषयतां प्रतिपद्यन्ते ॥
पुनरप्यन्यथा प्रत्याख्यानस्य विषयमुपदर्शयितुमाह–भगवानाह–एके केचन मनुष्या एवंभूता भवन्ति, तद्यथा–
महेच्छा महारम्भा महापरिग्रहा इत्यादि सुगमं, यावद्येषु वा श्रमणोपासकस्यादीयत इत्यादान—प्रथमव्रतग्रहणं, १०
तत आरभ्याऽऽमरणान्ताद्दण्डो निक्षिप्तः–परित्यक्तो भवति, ते च सादिमिथ्यास्तस्मान्मृत्वा स्वकर्मपरिणत्या स्वायुषः

१ संलेखनया जोषणया जोषिताः च संलेखना जोषणया सेवनया जोषिता ला.। २ "श्रावकोपासकास्तेषां चैतदुक्तपूर्वंभवति तद्यथा खलु न वयं ला.। ३ जीवितुं ला.। ४ यत्नाग्रे ला.। ५ मनसं च तं इदानीं इत्यादि अयमत्राह ला. ला.। ६ स्वायुषं ला.।

तथा ' तमोरूवत्ताए 'त्ति-अन्धबधिरतया प्रत्यायान्ति, ते चोभयोरप्यवस्थयोस्त्रसत्वं न व्यभिचरन्ति इत्यतो न निर्विषयं प्रत्याख्यानम्, एतेषु च द्रव्यतोऽपि प्राणातिपातः संभवतीति । साम्प्रतं प्रत्यक्षसिद्धमेव विरतेर्विषयं दर्शयितुमाह-' भगवं च णं उदाहु 'रित्यादि, भगवानाह-यो हि प्रत्याख्यानं गृह्णाति तस्माद्दीर्घायुष्काः ' प्राणाः ' प्राणिनः, ते च नारकमनुष्यदेवा द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चश्च संभवन्ति, ततः कथं निर्विषयं प्रत्याख्यानमिति ?, शेषं सुगमं, यावत् ' णो णेयाउए भवइ '[3] । एवमुत्तरसूत्रमपि तुल्यायुष्कविषयं समानयोगक्षेमत्वाद्व्याख्येयं ॥ तथाऽल्पायुष्कसूत्रमप्यतिस्पष्टत्वात्सूत्रसिद्धमेव, इयांस्तु विशेषो-यावत्ते न म्रियन्ते तावत्प्रत्याख्यानस्य विषयस्त्रसेषु वा समुत्पन्नाः सन्तो, विषयतां प्रतिपद्यन्त इति ॥ पुनरपि श्रावकाणामेव दिग्व्रतसमाश्रयणतः प्रत्याख्यानस्य विषयं दर्शयितुमाह-'भगवं च ण'मित्यादि सुगमं यावत् 'वयं णं सामाइयं देसावकासियं'ति देशेऽवकाशो देशावकाशः तत्र भवं देशावकाशिकं, इदमुक्तं भवति-पूर्वगृहीतस्य दिग्व्रतस्य योजनशतादिकस्य यत्प्रतिदिनं संक्षिप्ततरं योजन[4]गव्यूतिपत्तनगृहमर्यादादिकं परिमाणं विधत्ते तद्देशावकाशिकमित्युच्यते । तदेव दर्शयति-' पुरत्था पायीण 'मित्यादि, ' पुरत्थि 'त्ति प्रातरेव प्रत्याख्यानावसरे दिगाश्रितमेवंभूतं प्रत्याख्यानं करोति, तद्यथा-'प्राचीनं' पूर्वाभिमुखं प्राच्यां दिश्येतावन्मयाऽद्य गन्तव्यं, तथा 'प्रतीचीनं' प्रतीच्यामपरस्यां दिशि,

१ चोभयोरपि व्यवस्थयो अ । २ अत कथ अ आ । ३ भवतिर्त्ति अ भवतित्ति एव. । ४ योजन गव्यूत अ. आ । ५ × × × तथा प्रतीचीन थ. । गतव्य तथा प्राचीनं आ ।

यहुसंयता हस्तपादादिक्रियासु, यथा ज्ञानावरणीयापूरत्वात् न यहुविरताः सर्वभाणभूतजीवसत्त्वेभ्यस्तत्स्वरूपा परिज्ञानापचयादविरता इत्यर्थः। ते तीर्थिकविशेषा यहुसंयताः सर्वतोऽविरता आत्मना सत्यामृषाणि वाक्यानि 'एव 'मिति वक्ष्यमाणनीत्या विप्रयुञ्जन्ति, 'एव विप्रतिवेदेति' क्वचित्पाठोऽस्यायमर्थः–एवंविधप्रकारेण परेषां प्रतिवेदयन्ति–ज्ञापयन्ति, तानि पुनरेवंभूतानि, वाक्यानि दर्शयति, तद्यथा–अहं न हन्तव्योऽन्ये पुनर्हन्तव्याः यथाऽहं नाज्ञापयितव्योऽन्ये पुनराज्ञापयितव्या इत्यादीन्युपदेशवाक्यानि ददति, ते चैवमेवोपदेशदायिनः स्त्रीकामेषु मूर्च्छिता गृद्धा अभ्युपपन्ना यावद्वर्षाणि चतुःपञ्चमानि वा षड्दशमानि वा अतोऽप्यल्पतरं वा प्रभूततरं वा कालं यस्त्वा उत्कृष्टा भोगा भोगभोगास्तान् ते तथाभूताः किंचिदज्ञानतपः कारिणः कालमासे कालं कृत्वाऽन्यतरेष्वा शरीरेषु स्थानेषु किल्बिषेष्वसुरदेवाधमेषु स्थानेषूपपत्तारो भवन्ति, यदि वा प्राण्युपघातोपदेशदायिनो भोगाभिलाषुका 'असुर्येषु' नित्या चकारेषु किल्बिषप्रधानेषु नरकस्थानेषु ते समुत्पद्यन्ते, ते च देवा नारका वा नैषस्य न प्रतिपद्यन्ते, यद्यपि प्राण्युपघातोपदेशः न संभवति तथापि ते भावतो यः प्राणातिपातस्तद्विरतेर्विपयस्तां प्रतिपद्यन्ते, ततोऽपि च देवलोकाच्च्युता नरकोद्वृत्ताः क्लिष्टपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु तथाविधमनुष्येषु चैडमूकतया समुत्पद्यन्ते,

१ सर्वेभ्यः प्राणभूत० खा। २ मृषोऽविरता खा। ३ विप्रयुञ्जन्ति क. विप्रयुंजति–प्रयुंजति खा। ४ वेदेति क ०वेदयति खा। ५ नाज्ञापयितव्योऽन्ये पुनराज्ञापयितव्योऽन्ये पुनरन्ये आज्ञापयितव्या क। ६ यावद्वर्षाणि चतुःपंचमानि क यावद्वर्षाणि चतुः पंचदश खा। ७ यावो० क. इत्यभिलाषाद्यो खा। ८ यावत्×खा। ९ समुत्पन्ना क.।

स [अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते ते पाणावि वुच्चंति ते तसा ते चिरट्ठिइया] जाव अयंपि भेदे से० । तत्थ जे आरेणं तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तसा थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से० । तत्थ जे आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए निक्खित्ते ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं [illegible] जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति तेसु समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो० । तत्थ जे ते आरेणं [illegible] जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते, ते तओ

तथा दक्षिणाभिमुख-दक्षिणस्यामेवमुदीच्यां दिश्येतावन्मयाऽद्य पञ्चयोजनमात्रं तदधिकमूनतरं वा मन्तव्यमित्येवमूर्ध्वं से प्रतिदिनं प्रत्याख्यानं विधत्ते, तेन च गृहीतदेशावकाशिकेनोपासकेन सर्वप्राणिभ्यो गृहीतपरिमाणात्परेण दण्डो निक्षिप्त-परित्यक्तो भवति, ततश्चासौ श्रावकः सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु क्षेमङ्करोऽहमस्मि इत्येवमध्यवसायी भवति, तत्र गृहीतपरिमाणे देशे ये आरेण त्रसाः प्राणा येषु [श्रमणोपासकस्यादान इत्यादेरारभ्याऽऽमरणान्तो दण्डो निक्षिप्तः-परित्यक्तो भवति, ते च त्रसाः प्राणाः स्वायुष्कं परित्यज्य तत्रैव गृहीतपरिमाणदेशे एव योजनादि देशाभ्यन्तर एव त्रसाः प्राणास्तेषु प्रत्यायान्ति, इत्युक्तं भवति-गृहीतपरिमाणदेशे त्रसायुष्कं परित्यज्य त्रसेष्वे वोत्पद्यन्ते, ततश्च तेषु] श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति, उभयथापि त्रसत्वसद्भावात्, शेषं सुगमं, यावत् ण्णो नेयाउए भवति ॥

तत्थ आरेण जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जाव थावरा पाणा जेहिं समणोवा

१ च प्रति० म. × प्रति का. । २ सर्वप्राणिभ्यो ब. । ३ गृहीतपरिमाणमध्ये ... ब ४ गृह ये त्रसा। ब । ५ ० परि... माणे देशे बा. । ६ भवतीति ब. । ७ समन्वेत्... तेषु (४११-१-१-४११-१-५) पर्यन्त पाठो नास्तीति बा. ... तव मतो विरचा... देशेणो ते ते आरेणं तत्र... ब. । ८ ते ते आरेणं तथा ब. । ९ ... ब ... × × बा. ।

सगस्स [अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति [1]तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते ते पाणावि वुच्चंति ते तसा ते चिरट्ठिइया] जाव अयंपि [3]भेदे से० । तत्थ जे आरेणं तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आ[4]मरणंताए० तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तसा थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणावि जाव अयंपि भेदे [6]से० । तत्थ जे आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए निक्खित्ते ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति तेसु समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो० । तत्थ जे ते आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए [11]दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते, ते तओ

---

१ × × × × × × × × × × अ. डेणिक्खिन्ते आ. । २ आयाणसो तेसु पच्चायंति तेहिं समणोपासगस्सासु पच्क्खाय इवइ अ. तेसिं आ. । ३ भेदे सेणो अ. भेदे से । ४ आमरणता एव दडे णिक्खित्ताततो वि० अ. ते तओ आउ वि० आ. । ५ × × × × अ । ६ भेदेणो २ अ भेदे । ७ आयाणसो अहादंडे × × अ. । ८ × × हंति × × अ हंति ते तओ आउं विप्प० आ. । ९ × × तेसु पच्चायति अ × × तेसु पच्चक्खायति आ. । १० ० जाव अयपि तेनो अ. । ११ × × × × × × अ°

आठ विप्पजहति विप्पजहित्ता ते तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अणट्ठाए ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो०। तत्थ जे ते आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तओ आउं विप्पजहति विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ॥ तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० ते तओ आउं विप्पजहति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ॥ तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते जाव ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो०॥

१ ×××× म आभिद्धए ला. १ २ ×× म आभिद्ध ला

तत्थ ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता ते तत्थ परेणं चेव जे तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो० । भगवं च णं उदाहु ण एतं भूयं ण एतं भव्वं ण एतं भविस्संति जण्णं तसा पाणा वोच्छिज्जिहिंति थावरा पाणा भविस्संति, थावरा पाणावि वोच्छिज्जिहिंति तसा पाणा भविस्संति, अवोच्छिन्नेहिं तसथावरेहिं पाणेहिं जण्णं तुब्भे वा अन्नो वा एवं वदह–णत्थि णं से केइ परियाए जाव णो णेयाउए भवइ ॥ सूत्रम्–८० ॥

एवमन्यान्यप्यष्ट सूत्राणि द्रष्टव्यानि सर्वाण्यपि, नवरं तत्र प्रथमे सूत्रे तदेव यद्व्याख्यातं, तच्चैवंभूतं, तद्यथा–गृहीतपरिमाणे देशे ये त्रसास्ते गृहीतपरिमाणदेशस्थास्तेष्वेव त्रसेषूत्पद्यन्ते। तथा द्वितीयं सूत्रं त्वारादेशवर्तिनस्त्रसाः आरादेशवर्तिषु स्थावरेषूत्पद्यन्ते । तृतीये त्वारादेशवर्तिनस्त्रसा गृहीतपरिमाणाद्देशाद्बहिर्ये त्रसाः स्थावराश्च तेपूत्पद्यन्ते । तथा चतुर्थसूत्रं त्वारादेशवर्तिनो ये स्थावरास्ते तद्देशवर्तिष्वेव त्रसेषूत्पद्यन्ते । पञ्चमं सूत्रं तु आरा-

१, २, ×××× अ आ.। ३ एय हूय आ । ४ एयं अ । ५ भविस्स × अ. आ. । ६ वोच्छिज्जस्सति आ. । ७ वोच्छिज्जति अ । ८ नव तत्र अ. । ९ ० परिमाण देशेस्ते अ. परिमाणदेशस्था आ.। १० ××अ आ । ११ ×× त्वारादेश देशपतिषु आ. ॥

देशवर्तिनो ये स्थावरास्ते परदेशवर्तिष्वेव स्थावरेषूत्पद्यन्ते । षष्ठभङ्गे तु परदेशवर्तिनो ये स्थावरास्ते गृहीत परिमाणस्ते(परदेशवर्ति)षु त्रसस्थावरेषूत्पद्यन्ते । सप्तमभङ्गे त्विह-परदेशवर्तिनो ये त्रसस्थावरास्ते आरा देशवर्तिषु त्रसेषूत्पद्यन्ते ॥ अष्टमभङ्गे तु परदेशवर्तिनो ये त्रसस्थावरास्ते आरादेशवर्तिषु स्थावरेषूत्पद्यन्ते । [नवमभङ्गे तु परदेशवर्तिनो ये त्रसस्थावरास्ते परदेशवर्तिष्वेव त्रसस्थावरेषूत्पद्यन्ते]। एवमनया प्रक्रियया नवापि सूत्राणि भावनीयानि, यत्र येन यत्र त्रसास्तत्रादानशः-मादेरारभ्य श्रमणोपासकेनामरणान्तो दण्डस्त्यक्त इत्येवं योजनीयं, यत्र तु स्थावरास्तत्रापि दण्डो न निक्षिप्तो-न परित्यक्तोऽन्यत्रापि च दण्डः परित्यक्त इति । शेषावयवघटना तु स्वबुद्ध्या विधेयेति । तदेवं बहुभिर्दृष्टान्तैः सविषयतां श्रावकप्रत्याख्यानस्य प्रसाध्याधुनात्यन्तासंबद्धतां चोद्यस्य सर्वथैव दर्शयितुमाह-' भगवं च णं उदाहु ' इत्यादि, भगवान् गौतमस्वाम्युदकं प्रत्येतदाह, तद्यथा-नैतद्भूतमनादिके काले अतिक्रान्ते नाप्येतदेष्येऽनन्ते काले भाव्यं नाप्येतद्वर्तमानकाले भवति ये (यत्) त्रसाः प्राणाः सर्वथा निर्लेपतया समुच्छेदेनोच्छेत्स्यन्ति-स्थावरा भविष्यन्तीति, तथा स्थावराश्च प्राणिनः कालत्रयेऽपि नैव समुच्छेत्स्यन्ति-त्रसा भविष्यन्ति, यद्यपि तेषां परस्परसंक्रमेण गमनमस्ति तथापि न सामस्त्येनान्यतरेषामितरत्र सद्भावः, तथाहि-न देवभूयः संभवोऽस्ति

१ से (×) तु च से (×) तु घ. । २ परदेशवर्तिष्वेव त्रसेषु च घ । ३ ० स्थावरपरदेशवर्तिष्वेव त्रस च घ. । ४ × × × × × × × × × × × × × घ. । ५ यत्र × × घ. च. । ६ स्वबुद्ध्या आ. । ७ चोद्यस्य आ. । ८ मनकाले × × च ।

यदुत प्रत्याख्यानिनमेकं विहायापरेषां नारकाणां द्वीन्द्रियादीनां तिरश्चां मनुष्यदेवानां च [1]सर्वदाऽप्यभावः, एवं च त्रसविषयं प्रत्याख्यानं निर्विषयं भवति यदि तस्य प्रत्याख्यानिनो जीवत एव सर्वेऽपि [2]नारकादयस्त्रसाः समुच्छिद्यन्ते, न चास्य प्रकारस्य संभवोऽस्त्युक्तन्यायेनेति, स्थावराणां चानन्तानामनन्तत्वादेव नासंख्येयेषु त्रसेषूत्पाद इति [3]सुप्रतीतमिदं। तदेवमव्यवच्छिन्नैस्त्रसैः स्थावरैश्च प्राणिभिर्यद्वदत यूयमन्यो वा कश्चिद्वदति, तद्यथा–नास्त्यसौ पर्यायो यत्र श्रमणोपासक[4]स्यैकत्रसविषयोऽपि दण्डपरित्याग इति, तदेतदुक्तनीत्या सर्वमशोभनमिति। सांप्रतमुपसंजिघृक्षुराह—

भगवं च णं उदाहु आउसंतो! उदगा जे खलु [5]समणं वा माहणं वा परिभासेइ मित्ति [6]मन्नंति आगमित्ता णाणं आगमित्ता दंसणं आगमित्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु [7]परलोगपलिमंथत्ताए चिट्ठइ, जे खलु समणं वा माहणं वा णो [8]परिभासइ मित्ति मन्नंति आगमित्ता णाणं आगमित्ता [9]दंसणं आगमित्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए से

---

१ सर्वथाप्यभावः अ. आ। २ नारकादयस्त्रस्ससु अ। ३ सुप्रतीदमिद अ.। ४ ० कस्यैव त्रस विषयो अ.। ५ समणा वा माहण वा परिभासति अ। समण वा ××× परिहासे आ। ६ मण्गति आगमे० अ.। ७ परलोय पलिमंथ अ.। परलोग परिसघ० आ। ८ भासति मेत्तिमण्णंति अ. भासति मित्तिं मण्णंति आ.। ९ दंसणं आगमेत्ता चरितं अ। ×××××× जाव आगमेता आ।

णालु परलोगपलिसुद्धीए चिट्ठइ, तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं अणाढायमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूते तामेव दिसिं पहारेत्थ गमणाए। भगवं च णं उदाहु आउसंतो ! जे खलु तहाभूतस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म अप्पणो चेव सुहुमाए पडिलेहाए अणुत्तरं जोगखेमपयं लंभिए समाणे सोवि ताव तं आढाइ परिजाणेति वंदति नमंसति सक्कारेइ संमाणेइ जाव कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासति। तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी–एतेसि णं भंते ! पदाणं पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहिए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं अस्सुयाणं असुयाणं अविण्णायाणं अव्वोगडाणं अणिगूढाणं अविच्छिन्नाणं अणिसिट्ठाणं अणिज्जूढाणं अणुवहारियाणं एयमट्ठं णो सद्दहियं णो पत्तियं णो रोइयं, एतेसि णं भंते ! पदाणं

मा. । २ दिसं दिसा । ३ दिसि ख. दिसं आ। । ४ तहारूवस्स ख. । तहाभूयस्स आ. । ५ ओच्छ आ । ७ पव्वति परिजाणेति ख । ८ वंदति नमंसति ख । ९ सक्कारेइ जाव ख । १० पज्जुवासेति आ. । ११ पमाणं आ । १२ × × × × आ १३ × × × × × आ । अमुणाणं अविन्नायाणं × × × आ. । १४ अणिगूढाणं अवोच्छिन्नाणं अविच्छिन्नाणं अणिसिट्ठाणं ख । अव्वोगडाणं × × × आ. । १५ एयमट्ठं णो पत्तेति ॥ ख ।

एण्हिं जाणयाए सवणयाए बोहिऐ जाव उवहारणयाए एयमट्ठं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि एवमेवं से जहेयं तुब्भे वदह ॥ तए णं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी-सद्दहाहिं णं अज्जो ! पत्तियाहिं णं अज्जो रोएहिं णं अज्जो ! एवमेयं जहाणं अम्हे वयामो, तएणं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिएं चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए । तेए णं से भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेवं उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करित्ता[12] वंदइ नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, तए[13] णं

१ एण्हिं × × × अ, × × जाणयाए सवणयाए आ । २ × × × जाव अ. । ३ × जहेव अ × जहाण आ । ४ वदासी० आ । ५ णं अज्जो पत्तियाहिं × × × अ. × × × आ. । ६ अंतिय आ । ७ चाउज्जामणो धम्मातो अ., चाउज्जामानो धम्माओ आ. । ८ पचमहव्वतिय अ. । ९ तेए णसे उदय एव वयासी ४२×१ १३-४२५-२-७ पर्यंतेन पाठो १० नास्तीति आ. । १० तए ण भगव ण विहिरित्तए (४२५-१-१०-४२५-१-१३×पर्यंते पाठ २ वखत) अ । ११ तेणेवो० अ. । १२ करेत्ता अ. १३ × × × × × अ. ।

खलु परलोगविसुद्धीए विहरइ, तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं अणाढायमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूते तामेव दिसिं पहारेत्थ गमणाए। भगवं च णं उदाहु आउसंतो उदगा! जे खलु तहाभूतस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म अप्पणो चेव सुहुमाए पडिलेहाए अणुत्तरं जोगखेमपयं लंभिए समाणे सोवि ताव तं आढाइ परिजाणेति वंदति नमंसति सक्कारेइ संमाणेइ जाव कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासति। तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—एतेसि णं भंते! पदाणं पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहिए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं असुयाणं अमुयाणं अविन्नायाणं अब्बोगडाणं अणिगूढाणं अविच्छिन्नाणं अणिसिट्ठाणं अणिजूढाणं अणुवहारियाणं एयमट्ठं णो सद्दहियं णो पत्तियं णो रोइयं, एतेसि णं भंते! पदाणं

१ xxxx च ०अणाढायमिणे खा.। २ दिसं दिसा । ३ दिसि ख. दिसं खा। ४ तहाभूतस्स च । तहाभूतस्स खा.। ५ विणय खा । ६ चोर च ६ चोय खा.। ७ वंदति परिजाणेति च । ८ वंदति नमंसति च । ९ सक्कारेइ सम्माणेइ × × च । × × × जाव च । १० पज्जुवासेति च । ११ पयाणं खा । १२ × × × × खा १३ × × × × अणभिगमेणं × × × च । असुयाणं अविन्नायाणं × × × खा.। १४ अणिगूढाणं अवोच्छिन्नाणं अविच्छिन्नाणं अणिसिट्ठाणं च । अब्बोगडाणं अवोच्छिन्नाणं अणिसट्ठाणं० खा.। १५ अणिज्जूढाण खा.। १६ एयमट्ठं णो सद्दहियं० च ।

एर्णिहं जाणयाए सवणयाए बोहिऐ जाव उवहारणयाए एयमट्ठं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि एव-मेवं से जहेयं तुब्भे वदह ॥ तए णं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी-सद्दहाहिं णं अज्जो! पत्तियाहि णं अज्जो रोएहिं णं अज्जो! एवमेयं जहाणं अम्हे वयामो, तएणं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी-इच्छामि णं भंते! तुब्भं अंतिएँ चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। तए णं से भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेवं उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करित्ता वंदइ नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, तए णं

---

१ एर्णिह × × × अ. × × जाणगाए सवणगाए आ। २ × × × जाव अ.। ३ × जहेवं अ × जहाण आ। ४ वदासी० आ। ५ ण अज्जो पत्तियाहि × × × अ. × × × आ.। ६ अंतिय आ.। ७ चाउज्जामणो धम्मातो अ. चाउज्जामातो धम्माओ आ.। ८ पचमहव्वतिय अ.। ९ तेए णसे उदय एव वयासी ४२×१ १३-४२५-२-७ पर्यंतेन पाठो १० नास्तीति आ.। १० तए ण भगव ण विहिरित्तए (४२५-१-१०-४२५-१-१३पर्यंते पाठ २ वलत) अ.। ११ तेणेवो० अ.। १२ करेत्ता अ.। १३ × × × × × अ.।

समणे भगवं महावीरे उदयं एवं वयासी अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेहि, तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरई त्तिबेमि ॥ सूत्रम् ८१ ॥ इति नालन्दइज्जं सत्तमं अज्झयणं समत्तं ॥ इति सूयगडांगबीयसुयक्खंधो समत्तो ॥ ग्रंथाग्रं० २१०० ॥

'भगवं च णं उदाहु' इत्यादि गौतमस्वाम्याह—आयुष्मन् उदक! यः खलु श्रमणं वा—यथोक्तकारिणं माहनं वा—ब्रह्मचर्योपेतं 'परिभाषते' निन्दति मैत्रीं मन्यमानोऽपि, तथा सम्यग् ज्ञानमागम्य तथा दर्शनं चारित्रं च पापानां कर्मणामकरणाय समुत्थितः, स खलु लघुप्रकृतिः पण्डितंमन्यः 'परलोकस्य' सुगतिलक्षणस्य तत्कारणस्य वा संयमस्य 'पलिमन्थाय' विलोडनाय व्याघाताय तिष्ठति, यस्तु पुनर्महासत्त्वो

---

१ ष १५४ च । २ चाउज्जामाओ । ३ धम्माओ पंचमहव्वइयं च । ४ विहरतित्ति ॥ ष ॥ विहरइत्तिबेमि ॥ ष ॥ ५ नालंदइज्जं ॥ ष ॥ सत्तमज्झयणं ॥ ष ॥ समत्तो सूयगडबीयसुयक्खंधो ॥ ष ॥ समत्तं बीयसुयक्खंधं ॥ ष ॥ ष ॥ ष ॥ ष ॥ कुर्वं भवइ । सूयगडस्स ॥ ष ॥ ष ॥ ष । सर्वाग्रं समाप्तं ॥ ष ॥ ष ॥ समाप्तमिदम्…… ॥ ष ॥ समाप्तं सूत्रकृतांग गाहाए १०२ ॥ ष ॥ ष ॥ सं ११२० वर्षे माह वदि २ …… ॥ ग्रंथाग्रं ४११ ॥ ६ वस्तु च । ७ ×××× च । ८ परिभाषेद च. धारिमेद० च. । ९ स्थि च. ।

रत्नाकरवद्गम्भीरो न श्रमणादीन् परिभाषते तेषु च परमां मैत्रीं मन्यते सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्यनुगम्य तथा पापानां कर्मणामकरणायोत्थितः स खलु परलोकविशुद्ध्याऽवतिष्ठते, अनेन च परपरिभाषावर्जनेन यथावस्थितार्थ स्वरूपदर्शनतो गौतमस्वामिना स्वौद्धत्यं परिहृतं भवति, तदेवं यथावस्थितमर्थं गौतमस्वामिनाऽवगमितोऽप्युदकः पेढालपुत्रो यदा भगवन्तं गौतममनाद्रियमाणो यस्या एव दिशः प्रादुर्भूतस्तामेव दिशं गमनाय संप्रधारितवान् ॥ तं चैवमभिप्रायमुदकं दृष्ट्वा भगवान्गौतमस्वाम्याह, तद्यथा–आयुष्मन्नुदक ! यः खलु तथाभूतस्य श्रमणस्य ब्राह्मणस्य वाऽन्तिके–समीपे एकमपि योगक्षेमाय पद्यते–गम्यते येनार्थस्तत्पदं योगक्षेमपदं, किंभूतम् ?–आर्यम् आर्यानुष्ठानहेतुत्वादार्यं, तथा धार्मिकं तथा शोभनवचनं सुवचनं सद्गतिहेतुत्वात् तदेवंभूतं पदं श्रुत्वा निशम्य–अवगम्य चात्मन एव तदनुत्तरं योगक्षेमपदमित्येवमवगम्य सूक्ष्मया कुशाग्रीयया बुद्ध्या 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्य तद्यथा अहमनेनैवंभूतमर्थपदं 'लम्भितः' प्रापितः सन्नमावपि तावल्लौकिकस्तमुपदेशदातारमाद्रियते–पूज्योऽयमित्येवं जानाति, तथा कल्याणं मङ्गलं देवतामिव स्तौति पर्युपास्ते च, यद्यप्यसौ पूजनीयः किमपि नेच्छति तथापि तेन तस्य परमार्थोपकारिणो यथाशक्ति विधेयम् ॥ तदेवं गौतमस्वामिनाऽभिहित उदक इदमाह–तद्यथा–एतेषां पदानां

१ परममैत्री अ । २ पानु तूटा गयु छे अ मन्यमानोणि तथा आ । ३ सम्यग्ज्ञानमवगम्य तथा दर्शन आ । ४ °नुगम्यतस्तथा अ चारित्रं य पापानां आ. । ५ आयुष्मन्नुदकय. आ । आयुष्मन्नुडकय. आ । देवताप्रतिमारूपत्वाचैत्यस्य देवतया गतार्थत्वान्न पृथग्निर्देष, सूत्रे तु स्थापनाया पूज्यतमत्वापेक्षया स्पष्ट पृथग्निर्देश. इति भाति । ६ तद्गति अ । ७ स. अ ।

पूर्वमप्रमत्ततयाऽप्रमेयतयाऽऽयोग्या येत्यादिना विशेषणकदम्बकेन नो भवानं कृतवान्, साम्प्रतं तु युष्मदन्तिके विज्ञायैनमर्थं श्रद्दधे। एवमवगम्य गौतमस्वाम्युदकमेवाह यथा अस्मिन्नर्थे भवान् कुरु, नान्यथा सर्वलोक भगवतीमित्या, पुनरप्युदक एवमाह—इच्छेमेतं भे, किं त्वमुष्माच्चातुर्यामिकाद्धर्मात्पञ्चयामिकं धर्मं सम्प्रति सप्रति क्रमणमुपसंपद्य विहर्तुमिच्छामि। ततोऽसौ गौतमस्वामी त गृहीत्वा तीर्थकरान्तिकं जगाम। उदकश्च भगवन्तं वन्दित्वा पञ्चयामिकधर्मप्रणायोद्यतः, भगवताऽपि तस्य सप्रतिक्रमणः पञ्चयामो धर्मोऽनुज्ञातः, स च त तथाभूत धर्ममुपसंपद्य विहरतीति। इति परिसमाप्त्यर्थं। ब्रवीमीति पूर्ववत्, सुधर्मस्वामी स्वशिष्यानिदमाह, तद्यथा—सोऽहं ब्रवीमि येन मया भगवदन्तिके श्रुतमिति। गतोऽनुगमः।

सांप्रतं नयाः, ते चामी—नैगम १ संग्रह २ व्यवहार ३ ऋजुसूत्र ४ शब्द ५ समभिरूढ ६ एवंभूता ७ नयाः सन्तीति, तेषां च मध्ये नैगमाद्याश्चत्वारोऽर्थनयाः अर्थमेव प्राधान्येन शब्दोपसर्जनमिच्छन्ति, शब्दाद्यास्तु त्रयः शब्दनयाः शब्दप्राधान्येनार्थमिच्छन्ति। तत्र नैगमस्येदं स्वरूपं, तद्यथा नाना—निक्षेपात्मकस्य वस्तुनो नैकेन प्रमाणप्रमाणगमा—परिच्छेदो निगमस्तत्र भवो नैगमो, नैकगमो वा नैगमः—महासामान्यावान्तरालसामान्यविशेषाणां परिच्छेदकः, तत्र महासामान्यं सकलपदार्थानुयायिनी सत्ता अवान्तरालसामान्यं द्रव्यत्वजीवत्वाजीवत्वादिकं,

१ °ऽप्रमत्ततया च। २ × भवानं च। ३ ××× आ। ४ शब्देषां च मध्ये च, एषां तेषां मध्ये आ। ५ भवेत्कमो च आ।

विशेषाः परमाणवादयस्तद्गता वा शुक्लादयो गुणाः, तदेतत्त्रितयमप्यसाविच्छतीति, निलयनप्रस्थकादिदृष्टान्तैरनुयोगद्वारप्रसिद्धैस्तत्स्वरूपमवसेयम्, अयं च नैगमः मामान्यविशेषात्मकवस्तुसमाश्रयणेऽपि न सम्यग्दृष्टिः, भेदेनैव सामान्यविशेषयोराश्रयणात्, तन्मताश्रितनैयायिकवैशेषिकवत्। तथा संग्रहोऽप्येवंस्वरूपः, तद्यथा—सम्यक् पदार्थानां सामान्याकारतया ग्रहणं सङ्ग्रहः, तथाहि—अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावमेव सत्तारूपं वस्त्वमात्रभ्युपगच्छति, सत्तातो व्यतिरिक्तस्यावस्तुत्वं खरविषाणस्येव, स च संग्रहः सामान्यविशेषात्मकस्य वस्तुनः सामान्याशस्यैवाश्रयणान्मिथ्यादृष्टिः, तन्मताश्रितसांख्यवत्। व्यवहारनयस्य तु स्वरूपमिदं, तद्यथा—यथालोकग्राह्यमेव वस्तु, य[2]था च शुष्कतार्किकैः स्वाभिप्रायकृतलक्षणानुगतं तथाभूतं वस्तु न भवत्येव, नहि प्र[3]तिलक्षणमर्थानामात्मभेदो भवति, किं तर्हि?, यथा यथा लोकेन विशिष्टभूयिष्ठतयाऽर्थक्रियाकारि वस्तु व्यवह्रियते तथैव त[4]द्वस्त्वित्याबालगोपालाङ्गनादिप्रसिद्धत्वाद्वस्तुस्वरूप[5]स्येति, अयमप्युत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तस्य वस्तुनोऽनभ्युपगमात् मिथ्यादृष्टिः, तथाविधरथ्यापुरुषवदिति। ऋजुसूत्रमतं त्विदं—ऋजु-प्रगुणं तच्च विनष्टानुत्पन्नतयाऽतीतानागतवक्रपरित्यागेन वर्त्तमानकालक्षणभावि यद्वस्तु तत्सूत्रयति—प्रतिपादयत्याश्रयतीति ऋजुसूत्रः, त[6]स्यैवार्थक्रियाकारितया वस्तुत्वलक्षणयोगादिति, अयमपि सामान्यविशेपोभयात्मकस्य वस्तुनः सामान्यांशपरित्यागेन विशेषांशस्यैव समा-

---

१ °वस्तुतत्वं स्वरविषा० अ °वस्त्व रवरविरवा० आ.। २ यथा तु अ। ३ प्रतिक्षणमर्था० ४ तद्वस्त्वित्यागोपालागना आ.। ५ रूपस्येत्यिय अ रूपस्येत्यय आ। ६ सस्यैवार्थस्यक्रियाकारितया आ।

[illegible] कारणभूत[illegible] [illegible]विशेषणी[illegible]मापादिते । [illegible]

[illegible], तद्यथा [illegible] भवति, तद्यथा—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]—एवं [illegible] [illegible] [illegible]—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible]—[illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible]—[illegible] [illegible] भवति । [illegible] [illegible], [illegible] भवति—[illegible] [illegible], तद्यथा—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

१ [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible] । ५ [illegible] । ६ [illegible] । ७ [illegible] । ८ [illegible]

भातीति कुम्भो, नेहि घटनं कुटनं भवति, [2]तथेन्दनादिन्द्रः पुर्दारणात्पुरन्दर [3]इत्यादेरपि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य न परस्परानुगतिरिति, तदयमपि मिथ्यादृष्टिः, पर्यायाभिहितधर्मवद्वस्तुनोऽनाश्रयणाद् गृहीतप्रत्येकावयवान्धहस्तिज्ञानवदिति। एवंभूताभिप्रायस्त्वयं—[4]यदैव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं चेष्टादिकं तस्मिन्घटादिके वस्तुनि तदैवासौ युवतिमस्तकारूढ उदकाद्याहरणक्रियाप्रवृत्तो घटो भवति, न निर्व्यापारः, एवंभूतस्यार्थस्य समाश्रयणादेवंभूताभिधानो नयो भवति, [6]तदयमप्यनन्तधर्माध्यासितस्य वस्तुनोऽनाश्रयणान्मिथ्यादृष्टिः, रत्नावल्यवयवे पद्मरागादौ कृतरत्नावलीव्यपदेशपुरुषवदिति। [7]तदेवं सर्वेऽपि नयः प्रत्येकं मिथ्यादृष्टयोऽन्योऽन्यसव्यपेक्षास्तु सम्यक्त्वं भजन्ति। अत्र च ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष इति कृत्वा ज्ञानक्रियानययोः सर्वेऽप्येते स्वधिया समवतारणीयाः। तत्रापि ज्ञाननय ऐहिकामुष्मिकयोर्ज्ञानमेव फलसाधकत्वेनेच्छति न क्रियां, क्रियानयस्तु क्रियामेव न ज्ञानं, [10]परमार्थस्तूभयमपि समुदितमन्योऽन्यसव्यपेक्षं [11]पंग्वन्धवदभिप्रेतफलसिद्धयेऽलमिति एतदुभययुक्त एव साधुरभिप्रेतमर्थं साधयति, उक्तं च—"[1]सव्वेसिंपि णयाणं [12]बहुविहवत्तव्वयं णिसामेत्ता॥ तं सव्वणयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥ १ ॥"

1 न घटन आ। 2 तथेंदनादें द तथेंदनादिं, द अ आ। 3 इत्यादिरपि आ। 4 यदेव आ। 5 घटादि व० अ.। 6 तदयमप्यनतधर्मध्यासितस्य अ तदयमप्यनतधमध्यासितस्य आ। 7 तदेक सर्वेऽपि आ। 8 भजते अ। 9 न क्रिया आ। 10 परमार्थतस्तू० आ। 11 पगून्ववद० अ पग्वधवद० आ। 12 बहुविहवत्तव्वय। 13 विसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहुत्ति अ। विशुद्धगुणचरणट्ठिओ आ।

1 सर्वेषामपि नयाना बहुविधवक्तव्यता निशम्य। तत् सर्वनयसमत यत् चरणगुणस्थित साधु ॥ 1 ॥

[सेमाश्रमिदं नालन्दाख्य सप्तममध्ययनम् । इति समाप्तेयं सूत्रकृतद्वितीयाङ्गस्य टीका ।] कृता चेयं शीलाचार्येण वाहरिगणिसहायेन । यदवाप्तमत्र पुण्यं टीकाकरणे मया समाधिभृता । तेनापेततमस्को भव्यः कल्याणभाग् भवतु ॥ १ ॥ ग्रंथाग्रं (१२८५०)

१ समाप्तेयं सूत्रकृताङ्गस्य टीका च । समाप्तेयं सूत्रकृताङ्गस्य द्वितीयांशस्य टीका च । २ समाधिकृता च । समाधिभृता भा । ॥ ७ ॥ सर्वं ११८ ॥ ७ ॥ का च ॥ ७ ॥ ग्रंथाग्रं ११ ॥ ७ । सर्वं भवतु ॥ ७ ॥ प्रशास्तिश्चिरमस्तु सर्वं जगतः परहित निरता भवन्तु भूतगणाः । दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥ ७ ॥ ७ ॥

नमः श्रीवर्द्धमानाय वर्द्धमानाय वेदसा वेदसारं परमात्म ब्रह्मणे[illegible] ॥ १ ॥ सुधीभ्युते कविभिः कवीन्द्रैः वेदेषु सिद्धं प्रमभावना रिता । क्रियते यस्मिन् सकलं क्रियाविधा पुरेतरप्राप्तिं स्वात्माभिधम् ॥ २ ॥ स्यात्तस्य प्राप्तिं वस्तुगुणस्य… …ॐ जलजाते लक्ष्मणमी मिलवरसनिधि चतुर्थे वर्षे । पात्र पात्रैकभूतमस्तिविद्यागुणगुणसमासभावा: सा सुधर्मा बुधमतिरत्नी धर्मार्थमापि मुक्ता ॥ १ ॥ क्षेमाद्य समनन्तर. श्रेष्ठी कुमरसिंह…

॥ १ ॥ गुर्वेति चंचलमयश्च विद्यासमाज समार्पणोद्यमनेन मित्रः सहर्षि । तैनेम पुस्तकमिदं पुस्तकेषु यज्ञाशरैरसमैस्समरे-
र दृशः ॥ १ ॥ सम्वत् विमलत्वमातुः प्रकासिता चैतस्त्रिविस्तार । वर्षादि कसौर पुस्तकमिदं सिपत्ती वाचत् ॥ १२ ॥ संवत् ११४१
वर्षे मार्गशिरोदरस सव …कुमरसिंह भे क्षेमाप्रभृति पंचपमयसमारभ्य पुस्तकमालामारे के सीमाधेन लिखितं ॥ ७ ॥ ७ ॥

इति श्रीनिर्युक्तियुते श्रीमत्सूत्रकृताङ्गे समाप्तोऽयं द्वितीयः श्रुतस्कन्धः, तत्परिसमाप्तौ समाप्तं च द्वितीयमङ्गम् ।